हिमाचल के लोक नाट्य



सम्पादक
डॉ. तुलसी रमण

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी

हिमाचल के लोकनाट्य



हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी

क्लिफ ऐण्ड एस्टेट, शिमला-171001

हिमाचल के लोकनाट्य

संपादक
डॉ. तुलसी रमण

सह संपादक
गिरिजा शर्मा

ISBN	:	978-81-86755-71-3
प्रकाशक	:	सचिव हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला-171001
सर्वाधिकार ©	:	हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला-1
प्रथम संस्करण	:	2012
मूल्य	:	₹ 250/- सजिल्द ₹ 150/- पेपरबैक
आवरण	:	डॉ. हिम चटर्जी
कम्पोज़िंग	:	अरशद अली
मुद्रक	:	भारत ऑफसेट वर्क्स 3550, जाटवाड़ा स्ट्रीट, दरयागंज नई दिल्ली-110 002

Himachal ke Loknatya

Editor	:	Dr. Tulsi Raman
Published by	:	Secretary, Himachal Academy of Arts, Culture and Languages, Shimla-171001,
Edition	:	2012
Price	:	₹ 250/-
Paperback	:	₹ 150/-

आमुख

प्रेम कुमार धूमल
मुख्यमंत्री हिमाचल प्रदेश एवं अध्यक्ष, हिमाचल अकादमी

हिमाचल प्रदेश का लोकपक्ष बहुत समृद्ध है। यहाँ की लोक कलाओं में जिस तरह की विविधता है, इसका आधार यहाँ का बहुजातीय जन-जीवन है। न जाने कब से देश के विभिन्न भागों से कई जातियों और समुदायों के लोग इन पहाड़ों पर आकर बसते रहे हैं। उनके आचार-विचार और जीवन-व्यवहार की तहें यहाँ की अलग-थलग घाटियों में एक के बाद एक जमती रहीं। एक स्थान से उठकर जब कोई मानव-समूह दूसरी जगह पर आकर बसता है तो वहाँ अपने विश्वासों और लोक कलाओं को कायम रखते हुए वे लोग अपना अलग प्रभाव छोड़ते हैं और उस स्थान के वातावरण से स्वयं भी प्रभावित होते हैं। इस तरह एक बहुरंगी संस्कृति का रूप बनता है, जिसमें लोक कलाएँ अपना अनूठा प्रभाव छोड़ती हैं।

जनजातीय क्षेत्रों से लेकर शिवालिक की पहाड़ियों तक बसे हिमाचल में कई भौगोलिक स्तर हैं। इस स्थिति में लोकनाट्य प्रदेश की विविध सांस्कृतिक झांकियाँ प्रस्तुत करते हैं। कुछ लोकनाट्य उस आदिम संस्कृति के हैं, जब यहाँ के जीवन में वन्य तथा पालतू पशुओं की अहम भूमिका रहती थी। दूसरी ओर ऐसे लोकनाट्य हैं, जो विभिन्न धार्मिक आस्थाओं और सामाजिक परम्पराओं पर आधारित हैं। समसामयिक समस्याओं और बुराइयों पर तीखे व्यंग्य करनेवाले लोकनाट्य भी यहाँ खेले जाते हैं। ये सभी नाट्य लोगों के मनोरंजन के पारंपरिक साधन हैं। अतीत में सामाजिक शिक्षा और सूचना के प्रभावी साधन भी ये लोकनाट्य रहे हैं। आज इलैक्ट्रानिक माध्यम से घर-घर में मनोरंजन के साधन उपलब्ध हैं। इसी कारण पारंपरिक नाट्य और नृत्य अपनी प्रासंगिकता खो रहे हैं। फिल्मी और पॉप संगीत नई पीढ़ी को अपने साथ बहा ले जा रहा है। लेकिन ज़मीन से जुड़ी मौलिक संस्कृति को बचाये रखने में लोकनाट्य जैसी कलाओं की अहम भूमिका रहती है। इन्हीं के माध्यम से हम जन-जीवन की जड़ों तक पहुँच सकते हैं।

अकादमी द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में हिमाचल प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के लोकनाट्यों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें ऐसे अधिकारी विद्वानों के विश्लेषण-परक लेख संपादित रूप में दिए गए हैं, जो लम्बे समय से इन लोकनाट्यों के दर्शक और अध्येता रहे हैं। हिमाचल के लोकनाट्यों पर यह पुस्तक एक दस्तावेज़ की तरह बन पड़ी है।

प्राक्कथन

मनीषा नंदा

प्रधान सचिव, भाषा-संस्कृति एवं उपसभापति, हिमाचल अकादमी

हिमाचल प्रदेश अपनी पारम्परिक लोककलाओं के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहाँ के लोग आज भी हर स्तर पर लोककला से जुड़े हैं। लोगों के रहन-सहन और आचार-व्यवहार में कला एवं शिल्पों का विशेष महत्त्व रहता है। ये कलाएँ खान-पान, गृह-सज्जा, वस्त्र-परिधान से लेकर मंदिरों, गोन्पाओं और अन्यान्य सांस्कृतिक स्थलों तक सब जगह दिखाई देती हैं। हिमाचल की हर सांस्कृतिक एवं सामाजिक गतिविधि में ललित एवं निष्पादन दोनों तरह की कलाओं की विशेष भूमिका रहती है। लेकिन यह बात भी उल्लेखनीय है कि यहाँ के लोगों की नाट्य और नृत्य में विशेष रुचि रही है। जातीय संस्कार पर आधारित ये नृत्य तथा नाट्य प्रकृति के सान्निध्य में होते हैं। यहाँ कोई भी आयोजन लोकनृत्य या नाट्य के बिना पूरा नहीं होता। वर्ष भर जो त्योहार मनाये जाते हैं या जो पारम्परिक मेले अयोजित होते हैं, उनमें नृत्य और लोकनाट्य का विशेष आकर्षण रहता है। इन मेलों में लोक धुनों पर नृत्य होता है और लोकनाट्य प्रस्तुत किए जाते हैं।

लोकनाट्य वास्तव में यहाँ के जन मानस की उपज है। वैसे भी लोकनाट्य में कलाकारों की सामूहिक भूमिका रहती है और दर्शक उसमें अंग-संग शामिल होते हैं। कोई भी लोकनाट्य एक तरह से समाज विशेष का खेल है; उसके मनोरंजन का साधन है। इन नाट्यों की प्रस्तुति में लोकसंगीत की आवश्यकता रहती है। पात्रों की रूप-सज्जा के लिए वस्त्राभूषण तथा मुखौटों की ज़रूरत पड़ती है। संवादों के लिए असरदार लोक-भाषा की अपेक्षा रहती है। इस तरह लोकनाट्यों में कई लोक कलाओं का एक साथ प्रदर्शन होता है।

हिमाचल प्रदेश में करयाला, बांठड़ा, भगत, हरणात्तर, धाजा आदि अनेक लोकनाट्य सुदूर अतीत से चलन में रहे हैं। किसी भी नाट्य में उस क्षेत्र विशेष के जीवन और संस्कृति की मौलिक छवियाँ देखी जा सकती हैं। प्रदेश की विभिन्न घाटियों में विशेष अवसरों पर खेले जानेवाले ये लोकनाट्य, यहाँ की सांस्कृतिक विविधता को प्रस्तुत करते हुए, हास्य व्यंग्य के साथ लोगों का मनोरंजन करते हैं। अकादमी द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में अनुभवी विद्वानों ने लोकनाट्यों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, इसके माध्यम से पाठकों को प्रदेश का बहुआयामी सांस्कृतिक परिचय मिल सकेगा।

प्रस्तावना

डॉ. तुलसी रमण

सचिव, हिमाचल अकादमी

साहित्य जगत् में जिस तरह लोक साहित्य की अपनी पहचान है, उसी तरह नाट्य विधा में लोकनाट्य का भी अपना स्थान है। संस्कृत साहित्य में वैदिक से भिन्न लौकिक साहित्य कहलाता है, मगर यह लोक साहित्य अंग्रेज़ी के 'फोक लिटरेचर' के समान है। इसी आधार पर 'फोक ड्रामा' या 'फोक थिएटर' के लिए 'लोकनाट्य' या 'लोक रंगमंच' चलन में हैं।

वास्तव में मानव समाज का 'वह वर्ग लोक है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना तथा पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।' ऐसे 'लोक' की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।

पाणिनि नाट्य की उत्पत्ति नट् धातु से मानते हैं। वेबर और मोनियर विलियम्स नट् धातु को नृत् का प्राकृत रूप बताते हैं और माकंड की मान्यता है कि नृत् प्राचीन है, जबकि नट् का प्रयोग अपेक्षाकृत कम पुराना है। वेदोत्तर काल में दोनों धातुएँ समानार्थक होती गईं, किन्तु कालांतर में नट्धातु का अर्थ अधिक व्यापक बन गया और नृत के अर्थ के साथ अभिनय का अर्थ भी इसमें सिमटता गया। 'सिद्धांत कौमुदी' में नाट्य की व्युत्पत्ति के सम्बंध में 'नट्नृतौ' कहते हुए जो स्पष्टीकरण आया है, उससे निष्कर्ष निकलता है कि नट् धातु का अर्थ गात्र विक्षेपण और अभिनय दोनों ही था। दशरूपककार ने नृत्त, नृत्य और नाट्य का अंतर यों स्पष्ट किया है–'नृत्त ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित है, किन्तु नाट्य रसाश्रित होता है।' इस तरह नृत्त और नृत्य, नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकाएँ प्रतीत होती हैं।

लोक परम्परा के प्रवाह में यह लोकनाट्य विधा विश्व भर के विभिन्न देशों में अपनी विविधता में मिलती है। जिन देशों में जनजातीय समाज हैं, वहाँ का लोकनाट्य अधिक समृद्ध और जीवंत है। भौगोलिक और जातीय विविधता के साथ सामासिक संस्कृति वाले देश भारतवर्ष में लोकनाट्य की अनेक शैलियाँ प्रचलन में हैं। भारतीय संस्कृति की अनेकता में एकता वाली बात इन लोकनाट्यों में भी देखने को मिलती है। यही कारण है कि हम चाहे किसी सुदूर प्रांत का लोकनाट्य क्यों न देख रहे हों, उसे देखते हुए अपने घर-गाँव का लोकनाट्य तत्काल याद आता है।

इस भाव के साथ कि हमारे यहाँ भी कुछ ऐसा ही नाट्य होता है।

किसी भी लोकनाट्य को साक्षात् देखकर ही उसके बहुआयामी प्रभाव को समझा और महसूस किया जा सकता है। निष्पादन की विधा का महज़ शब्दों के माध्यम से पूर्ण परिचय नहीं दिया जा सकता। लोकनाट्य की चाक्षुष उपस्थिति में अभिनेता और दर्शक तो आमने-सामने होते ही हैं, इसके साथ ही स्थानिक वातावरण का भी इसमें योग रहता है। लोकनाट्य की स्थानिकता और निरंतरता अपने देश और समाज से गहरी जुड़ी रहती है। यही इसकी विशेषता भी है।

शिमला के पहाड़ों में लोकनाट्य *करयाला* शरद ऋतु में दीवाली और देवठन जैसे उत्सवों के आसपास एक अनुष्ठान की तरह होता है। उत्सव की रात को लोगों के मनोरंजन के लिए यह नाट्य खेला जाता है, कई लोग विशेष तौर से सुखना करके भी अपने गाँव या अकेले घर के आँगन में स्वाँगी दल को बुलाकर *करयाला* करवाते हैं। खुले मैदान या समतल आँगन में *घयाना* (अलाव) जलाकर उसके घेरे में ही *करयाला* के दृश्यों की सहज प्रस्तुति होती है। शरद की ठंडक में बान की पक्की लकड़ी के *घयाना* की गरमायी, उसके घेरे में बैठे या खड़े दर्शक और ऊपर ओस बिखेरता खुला आसमान—यह वातावरण शिमला की पहाड़ियों के किसी गाँव में *करयाला* लोकनाट्य की प्रस्तुति का होता है। इस तरह यह नाट्य निर्मित मंच का नहीं, खुले मैदान का है। मंदिर के प्रांगण या गाँव के मध्य खुली जगह में *करयाला* का प्रदर्शन इसलिए भी सहज होता है कि बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब लोग घरों के बरामदों या छतों जैसे ऊँचे स्थानों पर बैठकर भी यह खेल देख सकते हैं।

हिमाचल प्रदेश में जिस तरह बोलीगत विविधता है, उसी तरह यहाँ लोकनाट्य के भी अनेक रूप प्रचलन में हैं। शिमला, सोलन व सिरमौर में *करयाला*, कुल्लू में *हरण*, चम्बा में *हरणात्र*, मंडी में *बांठड़ा*, कांगड़ा में *भगत*, ऊना में *बोरा*, बिलासपुर में *धाजा* और किन्नौर में *होरिङ्-फो* सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य हैं; जबकि जनजातीय क्षेत्र लाहुल के *छोदपा* और *योर* तथा स्पीति का *बुच्छेन* प्रसिद्ध लोकनाट्य हैं। इनमें से अधिकांश लोकनाट्यों में गीत-संगीत से माहौल बनता है और नृत्य व अभिनय का अद्भुत संयोग देखा जा सकता है। वादन में ज़्यादातर पारम्परिक लोकवाद्यों का ही इस्तेमाल होता है। इन लोकनाट्यों का अपनी ज़मीन से गहरा जुड़ाव है। बोली-बानी से लेकर प्रकृति और मनुष्य जीवन के सम्बंध तक, इसमें बहुत कुछ जनजीवन का मौलिक आता है।

अधिकांश लोकनाट्य हास्य-व्यंग्य प्रधान होते हैं। हास्य रस का स्थायी भाव 'हास' है। भरतमुनि के अनुसार 'दूसरों की चेष्टा के अनुकरण से हास उत्पन्न होता है तथा यह स्मित, हास एवं अतिहसित के द्वारा व्यंजित होता है।' हास्य रस सबसे अधिक सुखात्मक प्रतीत होता है, लेकिन भरत इसे शृंगार की अनुकृति मानते हैं।

हास्य में ओष्ठ दंशन, नासा-कपोल स्पंदन, आँख सिकुड़न आदि चेष्टाएँ रहती हैं। हिमाचल के लोकनाट्यों में ये हास्य चेष्टाएँ मनोविनोद करती हैं। यहाँ यह हास प्राचीन भारतीय आचार्यों के कथनानुसार 'राग' से उत्पन्न भी है और फ्रॉयड जैसे मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार यह 'द्वेष' की भावना से जनित भी है। वि+अंग= व्यंग से व्यंग्य की जो उत्पति है, ये लोकनाट्य इसे सार्थक करते हैं। इन लोकनाट्यों में व्यंग्य गीति, व्यंग्य संवाद और व्यंग्यात्मक आंगिक-वाचिक अभिनय का अद्भुत सामंजस्य रहता है। जिस तरह सिद्ध और संत साहित्य में पूजा-पाठी पंडितों व कर्मकांडी पौराणिकों पर व्यंग्य हुए हैं, लगभग उसी तर्ज़ पर *करयाला* और *बांठड़ा, हरणात्र, भगत* व *धाजा* आदि नाट्यों में भी व्यंग्य की भरमार रहती है।

करयाला जहाँ प्रस्तुत किया जाता है उसे भी 'खाड़ा' यानी 'अखाड़ा' कहा जाता है। इसके मध्य में 'घयाना' एक तरह से धूनी का ही विशाल रूप है और *करयाला* शुरू करने से पहले इसके निर्विघ्न निष्पादन के लिए 'अखाड़ा बाँधा' जाता है। इसे बाँधने के लिए *सिद्ध कान्ह* कुल्हाड़ा लेकर आता है और *चंद्रावल़ी* के नृत्य तथा मंगलगान से इस लोकनाट्य का शुभारंभ होता है। *करयाला* की यह *चंद्रावल़ी* चम्बा के *हरणात्र,* कांगड़ा क्षेत्र के भगत, बिलासपुर के *धाजा* में भी एक आकर्षक पात्र के रूप में दिखाई देती है। पुरुष ही स्त्रीवेश में *चंद्रावल़ी* की भूमिका निभाते हैं। डॉ. गौतम व्यथित कांगड़ा क्षेत्र में *चंद्रावल़ी* के स्वतंत्र लोकनाट्य का भी उल्लेख करते हैं। वास्तव में कृष्ण की सखी *चंद्रावल़ी* का यह नाट्य मथुरा-वृंदावन की रास मंडलियों के माध्यम से इन पहाड़ों तक पहुँचा है और यहाँ के स्थानिक लोकनाट्यों में भी घुल-मिल गया है।

दरअसल इस तरह की लोक विधाओं में प्रतीकों और मिथकों के घालमेल से एक ऐसा संश्लिष्ट रूप सामने आता है, जिससे कोई स्पष्ट निष्कर्ष निकालना कठिन हो जाता है। कहीं ठेठ लोकाचार मुखर होता है तो कहीं शास्त्र लोक में आकर मिल जाता है। इसलिए इन विधाओं पर लिखनेवालों ने कई हास्यास्पद निष्कर्ष भी निकाले हैं। *करयाला* के नाम को भी परिभाषित करने के प्रयास होते रहे हैं। *करयाला, करियाला, करैला* के उच्चारण भेद से इस लोकनाट्य के ये नाम प्रचलन में हैं। इसकी व्युत्पति में किसी ने इसे कराल यानी भयानक दृश्य माना, किसी ने किरात का नाट्य *करयाला* कहा, किसी ने करेल यानी मनौती पूरी होने पर खेलने के कारण *करैला* बताया और फिर किसी ने देव मंदिर में जगराता रखने के लिए 'कर आहूला' यानी कर शोर से *करयाला* बना माना है। लेकिन सब जगह उलझाव कायम है। लोक में यदि कोई हंगामा मचानेवाली बात होती है तो कहा जाता है–*करयाल़ा* मचा दिया। वैसे *करयाला* का स्वभाव हंगामा मचाने जैसा ही रहता है। कुछ कलाकारों का मानना है कि ये 'बात से बात निकालने का नाट्य है, जिसे

हाज़िर-जवाबी कहते हैं। लोक में इसे *करतविद्या* भी कहा जाता है, इसलिए यह *करयाला* है। इसमें तीन ताल में बधाई, नौबत आदि धुनें बजती हैं। आम आदमी को यह *करयाला* की धुन ही समझ आती है।'

हिमाचल प्रदेश के लोकनाट्यों में जहाँ कई समानताएँ नज़र आती हैं, वहीं इनकी अपनी अलग पहचान भी है। ये नाट्य इस दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं कि इनमें समाज का पक्ष सामने लाने के लिए तीखे व्यंग्य व खुले हास्य की शैली का इस्तेमाल होता है और सामाजिक विसंगतियों व समस्याओं को उद्घाटित किया जाता है। *करयाला* में अनेक ऐसे स्वाँग हैं, जिनमें जनजीवन और सामाजिक परिदृश्य से कुछ ज्वलंत विषयों को उठाकर उन्हें हास्य-व्यंग्य की चुटीली शैली में प्रस्तुत किया जाता है। इसी तरह के स्वाँग *हरणात्र, भगत, धाजा* और *बांठड़ा* तथा *होरिङ्-फो* आदि प्रदेश के प्रमुख लोकनाट्यों में भी प्रस्तुत होते हैं और सामाजिक अभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं। कुछ स्वाँग महज़ मनोरंजन प्रधान भी होते हैं; क्योंकि कलाकार दल को *करयाला* नाट्य का 'घयाना' सारी रात जगाए रखना पड़ता है। इसीलिए बीच में नृत्य-गीत भी भराई के लिए पेश होते हैं। प्रदेश के *भगत, धाजा, हरणात्र* आदि लोकनाट्यों में भी इसी तरह का नृत्य होता है। यह नृत्य फिल्मों के सदाबहार किस्म के गीतों पर भी होता है और नर्तकी के वेश में कोई छरहरा युवक ही नृत्य करता है।

गौतम व्यथित ने *भगत* नाट्य में इस नृत्य शैली का प्रयोग 'विक्टोरियन थिएटर' से प्रभावित माना है, लेकिन यहाँ मुगल कालीन 'मुज़रा' का नाम भी आन पड़ा है, ठीक उसी तरह जैसे शिमला-सिरमौर में घरों के भीतर चलनेवाले नाटी गायन को मुज़रा कह देते हैं। दरअसल लोकनाट्यों के स्वाँगों यानी दृश्यों के अंतरालों में उस वक्त के सबसे चर्चित नृत्य-गीत प्रस्तुत किए जाते रहे हैं, ताकि थोड़ा हंगामा हो जाए और फरमाइशी गीतों से कुछ कमाई भी हो जाती है।

इस तरह के नाट्य व नृत्य में महिलाएँ शामिल नहीं होतीं, भले ही पहाड़ों में नाटी या माला-नृत्य में महिलाएँ खूब नाचती हैं। लोकनाट्य के बीच होनेवाले भराई के नृत्य के दौरान भी कई हास्य उपजानेवाली हरकतें होती हैं, ताकि दर्शकों का मनोरंजन निरंतर होता रहे। जब नर्तकी के वेश में युवक मटकते हुए नृत्याभिनय के साथ गाता है–'नज़र लागी राजा, तोरे बंगले पर...' या कोई अन्य गीत, तभी उसके साथ नाच रहा पुरुष पात्र ऐसी चुस्ती से नर्तकी के वक्ष पर कुहनी मार देता है कि छाती में बाँधी गई कटोरियाँ टनक करती, दूर गिर पड़ती हैं। दर्शकों के हो-हल्ले के बीच नृत्य-गीत थम जाता है और फिर स्वाँग की बारी आती है।

अब दर्शकों के बीच से ही, इस कोने-उस किनारे से नाचते-चीखते साधु आते दिखाई देते हैं तो लोग समझ जाते हैं कि *साधु का स्वाँग* अखाड़े में पहुँच रहा

है। दर्शकों के लिए यह एक सुपरिचित दृश्य रहता है। हास्य बिखेरती उनकी वेशभूषा और भंगिमाएँ देखते ही बनती हैं। नारायण-नारायण, जयशिवशंकर, हरिहर-हरिहर जैसे उद्घोष करते साधु चिमटे बजाते *घयाने* के चारों ओर नृत्य करते हैं– 'साधु की नगरी में बसे भी न कोई रामा, जो भी बसे सो साधु होई!' गज़ब का नाचना और गाना। उसके बाद सूत्रधार ज्ञान-ध्यान के सवाल करता है तो सारे साधु पाखंडी और अज्ञानी साबित होते हैं और सवालों के जवाब जनता के समक्ष खुद सूत्रधार ही देता है। जिस तरीके से इस स्वाँग की प्रस्तुति होती है, इससे यह महज़ मनोरंजन के लिए ही नहीं रह जाता; बल्कि दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भी पूरे होते हैं। अपने अज्ञान और पाखंड के रहते इस स्वाँग में तथाकथित साधु 'भुवि भारभूताः' साबित हो जाते हैं। इसीलिए सूत्रधार कहता है–'तुम साधु नहीं स्वादु' यानी हर तरह के मज़े लेनेवाले हो। दूसरी ओर ज्ञान-ध्यान की वेदांती बातों से लेकर सामान्य ज्ञान की सूचनाओं तक सूत्रधार आम जनता के सामने रखता है। जनसाधारण के समक्ष धार्मिक पाखंड की कलई खोलनेवाला *साधु का स्वाँग* भारतीय समाज को दिशा देनेवाला ही साबित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि ग्रामीण समाज में यह लोकनाट्य जहाँ मनोरंजन का साधन रहा है, वहीं समाज को शिक्षित करने तथा समयानुकूल चेतना का संचार करनेवाला नाट्य भी रहा है। साधु का यह स्वाँग हिमाचल के अधिकांश लोकनाट्यों में तनिक भिन्नता के साथ विशेष आकर्षक रहता है। *करयाला, बांठड़ा, हरणात्र, भगत, धाजा* आदि नाट्यों में साधु वेशधारी का हास्यास्पद रूप देखने को मिलता है और कहीं पौराणिक पात्र नारद भी साधुवेश में प्रस्तुत होता है।

पहाड़ के समाज में लोक देवता का सर्वाधिक महत्त्व है। हर गाँव या ग्राम समूह में कई स्तर और कई प्रकार के देवता हैं। मंदिरों, गोमटियों, मूर्तियों व प्रस्तर शिलाओं में तो देवताओं का वास रहता ही है, कई जगह वृक्षों और झाड़ियों में लाल-पीली ध्वजाएँ टंगी दिखाई देती हैं तो पता चलता है कि इनमें किसी देवी या देवता का वास है। देव आस्था वाले समाज में आज भी बीमारी या किसी अन्य संकट के समाधान के लिए अधिकांश लोग अपने इष्ट देवता के गूर (प्रवक्ता) के पास जाते हैं। लेकिन इसी समाज में समांतर ऐसी समझ भी विकसित होती रही है जो देव आस्था को अंधविश्वास के रूप में स्वीकार करती है। देवता के प्रांगण में *करयाला* उत्सव के बहाने ही सबसे ज़्यादा प्रस्तुत होता रहा है। कोई इसे अनुष्ठान के रूप में करवाता है, तब भी इष्ट देवता की इसमें भूमिका रहती है। लेकिन कई जगह देवता की खिल्ली उड़ानेवाला स्वाँग भी इस लोकनाट्य में प्रस्तुत होता है।

शिमला ज़िला के घूंड में दीवाली की रात को देवता शिर्गुल के प्रांगण में *भूंभलू देओ का स्वाँग* खेला जाता रहा है। पीठ पर कील्टे में उठाकर 'देओ भूंभलू'

लाया जाता है, उसका गूर (प्रवक्ता) अपनी वाणी बोलता है, जो सरासर झूठी निकलती है और जनता के बीच भूंभलू नामक देवता की फज़ीहत हो जाती है। ज़ाहिर है देव आस्था के समाज में लोकनाट्य के लिए इस तरह का विषय लिया जाना अनुभव पर आधारित सामाजिक चेतना का ही परिणाम है। जिस तरह 'भूंभलू देओ' के साथ हास्य-व्यंग्य का खिलवाड़ इस नाट्य में होता है, वह देव-भय से आक्रांत समाज के बीच एक विरल नाट्य है। कहा जा सकता है कि *बांठड़ा* में अगर लोक कलाकार अपने राजा के सम्मुख उसकी कमज़ोरियाँ और ग़लतियाँ नाच-नाचकर गिना सकता है तो *करयाला* में *भूंभलू देओ का स्वाँग* अपने पाले हुए या खुद पूजा में बैठाए गए देवता को भी निरस्त कर सकता है। मगर कुल्लू के देव-नाट्य इसके विपरीत देवानुष्ठान के रूपक प्रतीत होते हैं। जबकि देवता से सीधे सवाल जनता वहाँ भी उठाती है।

दरअसल किसी भी समाज में अंधविश्वास के खिलाफ चेतना का विकास भी होता रहता है। लेकिन पीढ़ियों से चले आते विश्वासों की जकड़ इतनी पक्की है कि उसके विरोध में खुलकर आना बहुसंख्यक समाज से टकराने जैसा ही होता है। यह काम लोकनाट्य जैसी विधा के माध्यम से ही सम्भव होता है। *भूंभलू देओ का स्वाँग* इसका एक अच्छा उदाहरण रहा है।

साम्राज्यवादी अंग्रेज़ों ने ग्रीष्मकालीन राजधानी के लिए शिमला नगर बसाया। अंग्रेज़ यहाँ आकर रहने लगे तो पहाड़ के लोगों ने उन्हें करीब से देखा। उनकी कोठियों पर काम करने भी स्थानीय लोग जाने लगे। कैथू मैदान में घुड़दौड़ के दौरान और मशोबरा के निकट सिंहपुर के मेले में भी साब और मेम को लोगों ने और भी अच्छी तरह देख लिया। ये इलाके उन दिनों *करयाला* के कलाकारों यानी 'करयालचियों' के लिए मशहूर थे; क्योंकि शरद् ऋतु में यही लोकनाट्य मनोरंजन का प्रमुख साधन रहता था, जबकि गर्मियों के बिशू मेलों में धनुष-बाण का खेल 'ठोडा' हुआ करता था। कई राजे-राणे और समाज के उच्च वर्गीय चतुर लोग शासन करनेवाले अंग्रेज़ों की खुशामद के मौकों की तलाश में रहते थे। जबकि लोक मानस में साम्राज्यवादी शासकों के प्रति गुस्सा गहराने लगा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए 'गांधी महात्मा' की आवाज़ दूर कंदराओं तक पहुँचने लगी थी। उसी काल में *करयाला* के कलाकारों ने *साब का स्वाँग* खेलना शुरू किया.। इस स्वाँग की प्रस्तुति देखकर ही इसका देश-काल मालूम हो जाता है। *साब का स्वाँग* कुछ भिन्नताओं के साथ अलग-अलग स्थानों में प्रचलित है। लेकिन इसका केन्द्रीय विषय औपनिवेशिक साब की भरे समाज में खिल्ली उड़ाना रहा है। शासक अंग्रेज़ के प्रति कहीं गहरा गुस्सा भी इस स्वाँग में प्रकट हो जाता है।

साब का स्वाँग में पैंट-कोट-हेट पहने कुर्सी पर बैठा गोरे चेहरेवाला अंग्रेज़

साब होता है। उसके साथ चहकनेवाली मेम होती है, जिसे पहाड़ी लोग 'मीम' कहते आए हैं। साब का बाबू और चपड़ासी दोनों भारतीय होते हैं। साब और मीम अंग्रेज़ोंवाली प्रचलित हिन्दी में कड़क बोलते हैं तो बाबू और चपड़ासी अपनी बोली में बात करके जनता के सामने उनकी कलई खोलते हैं। इस पर दर्शक ठहाका लगाते हैं तो साब और मीम परेशान, देखते रह जाते हैं। तभी बाबू और चपड़ासी उनका मनोरंजन करने के बहाने कुछ इस तरह गाते हुए नाचते हैं–'गोरा साहेबौ पीऊंली साहेबौ री मीमौ, हाय राजा साहेबा हो!...' (गोरा साब, पीली साब की मेम, हाय राजा साब हो!) साब और मेम का यह गीत राजा साहिब को सम्बोधित है। ज़ाहिर है पहले-पहल यह गीत कहीं अपने किसी राजा की उपस्थिति में प्रस्तुत हुए करयाला में गाया गया होगा। फिर वे पहाड़ी कलाकार अपनी बोली की आड़ में साब और मीम की शक्ल बंदर और बंदरिया से मिलाते हैं और मीम का हरण करने की भी योजना बना लेते हैं। पहाड़ी बोली में वे मीम को खेत या जंगल में अपनी मर्दानगी के कई कामुक किस्से मुहावरेदार भाषा में सुनाते हैं तो मीम बोली न समझकर शिष्टाचार दर्शाते हुए हँसती जाती है। तभी चपड़ासी कहता है–'तैयार होई गोई भई, हार ले जाणी।'

गोरों के प्रति गुस्से के इस स्वाँग में साब की शेव जूते पर चलाए गए फरसे से बनाई जाती है और वही जूता शीशे के बदले सामने किया जाता है। गुस्साया साब कुर्सी से उठता है। बाबू हाथ जोड़कर उसे बैठने को कहता है। तभी चपड़ासी चुस्ती से कुर्सी खींच देता है और साब धड़ाम से ज़मीन पर गिर जाता है। गोरे साब से कुर्सी छुड़ाने का यह अनूठा संकेत पहाड़ के *करयाले* में ही पाया जाता है, जो गांधी जी के सत्याग्रह और सुभाष के विद्रोह से कुछ अलग शैली में औपनिवेशिक शासक की खेल-खेल में फज़ीहत करनेवाला साबित होता है।

इसी *अंग्रेज साब* और *मेम* की नकल उतारनेवाला स्वाँग चम्बा के *हरणात्र* और मंडी के बांठड़ा में भी दर्शाया जाता है। ज़ाहिर है लोकनाट्य के कलाकार दूर-पार से भी स्वाँग सीखकर उसे अपनी ज़मीन के मुताबिक पेश करते रहे हैं। हरण, साधु, चंद्रावली और साब के स्वाँग में यही होता रहा है।

करयाला के कलाकार और *ठोडा* के खिलाड़ी इन पहाड़ों में मशहूर नायक पुरुष होते थे। ठियोग तहसील में हीरामणि (रतेश) केवलराम (घूंड), सूरजदत्त व शिवदत्त (सरोग) आदि ऐसे ही चर्चित करयालची (कलाकार) हुए हैं। प्रसिद्ध रंगकर्मी और फिल्म अभिनेता मनोहर सिंह तथा प्रख्यात प्रसारण कलाकार शिवशरण सिंह ठाकुर जिन ऊँचाइयों तक पहुँचे, उनकी पहली उड़ानें *करयाला* के 'घयाने' के घेरे से ही भरी गई थीं। मनोहर सिंह के माता-पिता ने तो उनके जन्म पर *करयाला* करवाने की मन्नत भी की थी। आठ-दस साल की उम्र में मनोहर ने घर में ही

करयाला देख लिया था तो उन्होंने अंत तक 'करयाला की धुन' नहीं छोड़ी। 'हिम्मतमाई' में माँ की भूमिका में मनोहर सिंह जो कमाल दर्शाते हैं, उसके आधार में बचपन का *करयाला* साफ दिखाई देता है। शिव शरण सिंह ठाकुर ने तो *करयाला* के स्वाँगों को दूरदर्शन तक पहुँचाने की भी पहल की और कैथू के उनके घर में नगारे-ढोल आदि *करयाला* के वाद्य और मुखौटे, जटाएँ व वस्त्र आदि ड्राईंग-रूम में सजे रहते थे। इन दोनों कलाकारों को काफी हद तक लोकनाट्य *करयाला* की उपज भी कहा जा सकता है।

करयाला में मदारी, नट-नटणी, पति-पत्नी और जोगी-जोगन जैसे स्वाँग भी होते हैं। इस लोकनाट्य की यह भी विशेषता है कि किसी भी स्वाँग में कटाक्ष और हास-परिहास के बीच तात्कालिक समस्याओं को विषयांतर के रूप में भी ले लिया जाता है। इन्हें जनसमूह के समक्ष व्यंग्य रूप में प्रस्तुत करने के लिए चलते प्रसंग के बीच ही, कोई बहाना निकल आता है और दर्शक अभिव्यक्ति के इस अंदाज़ पर भी गदगद होते हैं।

हिमाचल के अधिकांश लोकनाट्यों में वेशभूषा विचित्र होती है। इसमें जटाओं के लिए शेल, (भांग के बूटे का बाहरी रेशा), मूछों के लिए मक्की की मिंजर और चेहरों को चमकाने के लिए आटे का इस्तेमाल होता है। कोई लिखित आलेख न होकर 'करत विद्या' की बात से बात निकलती है, लेकिन कुछ स्वाँगों के संवाद रूढ़ भी हो गए हैं। इस तरह संवादों में कुछ परम्परा से चला आता है और बहुत कुछ हाज़िर-जवाबी में नया जुड़ता जाता है।

ढोल, नगारा, शहनाई, खंजरी, चिमटा और बाजा लेकर बजंतरी एक किनारे बैठकर लोकनाट्य में संगीत भरते हैं। संगीत के बिना नाट्य आगे नहीं सरक सकता। इसलिए लोकनाट्य संगीतमय है। लकड़ी और तूंबा के मुखौटे यानी मुखड़े *करयाला* के पात्रों की मुख-सज्जा के लिए प्रयोग किए जाते हैं। *करयाला, हरणात्र* और *बांठड़ा* आदि नाट्यों के अनेक स्वाँग वास्तव में समूची समाज-व्यवस्था पर व्यंग्य के प्रहार करते हैं। व्यंग्य के बल पर हास्य के फव्वारे उठते हैं। ये एक साथ हँसाने-रूलाने वाले लोकनाट्य हैं।

करयाला और *बांठड़ा* के पारम्परिक क्षेत्र परस्पर जुड़ते हैं, इसलिए इनमें कुछ समानताएँ आ गई हैं। मंडी क्षेत्र का *बांठड़ा* भी *करयाला* की तरह ही मन्नत पूरी करने के लिए लोगों द्वारा करवाया जाने लगा है। जबकि यह राजमहल से शुरू होता है–

पहला ओ बांठड़ा राजे रे महला
दुआ ओ बांठड़ा राणी रे अंदरोला।
त्रिया बांठड़ा कमलाह दुर्ग माता
चौथा बांठड़ा परजा जो सुणाणा।

लोक गीत की ये पंक्तियाँ बांठड़ा की प्रस्तुति का क्रम बताती है। राजा के महल, रानी के आवास और कमलाह दुर्ग में क्रम से बांठड़ा के तीन प्रदर्शन होने के बाद चौथी प्रस्तुति से जनता के सामने आने की परम्परा रही है। *करयाला* की तरह *बांठड़ा* शब्द की व्युत्पति में भी शोधार्थियों ने कई तीर चलाए हैं। इसे कोई बांठण (सुंदरी) से जोड़ता है तो कोई भांड और भाण से *बांठड़ा* तक पहुँचता है। जबकि जनश्रुति इसे मंडी के राजमहल से उपजा नाट्य स्पष्ट करती है।

राजमहल में रसोइये यानी बोटी के साथ सहयोग करनेवाले 'बांठ' होते थे, जो खाना परोसते थे। वे निश्छल ग्रामीण, राज दरबार की गतिविधियाँ देखकर, महल के लोगों की नकल उतारकर अपना खाली समय गुज़ारते थे। एक बार राजा ने उन्हें नकलें उतारते देख लिया। वे राजा-रानी की कमज़ोरियों, राज प्रमुखों द्वारा रियाया पर किए जा रहे अत्याचारों का नाट्य कर रहे थे। राजा ने उन्हें अधिकारियों के षड्यंत्रों, जनता के संकटों और अपनी कमज़ोरियों को उसी तरह हास्य में प्रस्तुत करने के लिए कहा। उन्हें पहले झिझक हुई तो राजा ने आदेश देकर उनका संकोच तोड़ा और उन्हें नकल उतारने के लिए प्रोत्साहित किया। एक समझदार शासक के इस निर्णय से इस नाट्य की शुरुआत हुई और बांठों का यह नाट्य *बांठड़ा* कहलाया। कालांतर में इसमें बहुत कुछ जुड़ता गया। पशुपालक किसानों के इस लोकनाट्य के प्रारम्भ में शिव स्तुति के साथ जंगली देवता यानी वन देवता की पूजा होने लगी–

जंगल में मंगल करता रे
तव किरपा मांगत दास!

बांठड़ा मंडी और सुकेत रियासतों का प्रमुख लोकनाट्य है। दोनों रियासतों पर सेन वंश के राजाओं का राज था। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार सुकेत के राजा वीरसेन ने अपढ़-अज्ञानी प्रजा को जागरूक बनाने के लिए मौखिक शिक्षा देने का निर्णय लिया और संगीतज्ञ नरेंद्र को इस अभियान की ज़िम्मेदारी दी। उसने गायन-वादन के माध्यम से शिक्षा का प्रसार शुरू किया। वह साथियों सहित गाँव-गाँव जाकर संगीत के साथ लोगों को उपदेश देता। इस अभियान को राजा ने 'वाणथड़ा' यानी 'वाणिथड़ा' का नाम दिया। क्योंकि नरेंद्र की टोली के लोग थड़े यानी चबूतरे जैसे स्थान पर बैठकर अपना उपदेशात्मक कार्यक्रम देते थे। इसी वाणथड़ा से भी *बांठड़ा* हुआ मानते हैं।

सुकेत रियासत की ही एक दिलचस्प घटना जनश्रुति के रूप में है। वहाँ के एक राजा के मुँह में फोड़ा हुआ और उसने फरमान जारी किया कि जो व्यक्ति बिना चीरा लगाए और दर्द पहुँचाए बगैर इस फोड़े का इलाज करेगा उसे पुरस्कृत किया जाएगा और अगर चीरा लगाकर दर्द दिया तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाएगा। बड़े हकीम और वैद्य इस फरमान से भयभीत हुए। तभी एक मस्तमौला

कलाकार राजा के समक्ष पेश हुआ और *बांठड़ा* की शैली में हास-परिहास करने लगा। उसने राजा को इस कदर हँसाया कि ठहाकों के बीच ही राजा के मुँह का फोड़ा बिना चीरा लगाए फट पड़ा। उस व्यक्ति को राजा ने पुरस्कृत किया और तब सुकेत में *बांठड़ा* का प्रचलन ज़ोरों से हुआ। ये जनश्रुतियाँ भले ही खुद बांठों की गढ़ी हों, लेकिन इनसे *बांठड़ा* जैसे लोकनाट्य की ताकत और उसके प्रभाव का पता तो चलता ही है।

कालांतर में सामाजिक व रियासती विसंगतियों के हास्य नाट्य के साथ बांठड़ा में सत्यवादी हरिश्चंद्र, शिव-पार्वती, पूर्ण भगत, रूप-वसंत आदि की नाटिकाएँ भी जुड़ती गयीं। जब एक नाट्य विधा का चलन हो गया तो उसकी विषयवस्तु में सहज ही विस्तार होता गया। गोवर्धन पूजा से शुरू होनेवाला *बांठड़ा* लोकनाट्य भी नृत्य प्रधान है। इस नाट्य की 27 नृत्य मुद्राओं का उल्लेख ज्वाला प्रसाद कौशल्य ने किया है और उनका विवरण भी दिया है।

बांठड़ा में भी लोक वाद्यों का इस्तेमाल होता है और यह नाट्य दीपचंदी ताल की चौदह मात्रा के संगीत से शुरू होता है। *बांठड़ा* में भी हरिरंग, चंद्रावळी, साधु, चेला-चेली, मालिन, नाई, बुजड़ू, मनमोहिनी, किरड़ू देऊ, साह-साहणी, मेम-साब आदि के रोचक दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इस तरह *करयाला* और *बांठड़ा* में कई समानताएँ झलकती हैं। लेकिन भिन्नताएँ भी स्पष्ट हैं। यथा—बांठड़ा में करयाला की तरह *चंद्रावळी* महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें 'घयाना' (अलाव) जलाना भी ज़रूरी नहीं। *बांठड़ा* में वे पौराणिक विषय भी रहते हैं, जिनका *करयाला* में अभाव है। *बांठड़ा* की प्रस्तुति के लिए पत्थर का थड़ा (चबूतरा) रहता है, जबकि *करयाला* सीधी साधारण जगह में होता है, जिसे अखाड़ा यानी खाड़ा कहा जाता है। इस पुस्तक में *करयाला* पर डॉ. हरिराम जसटा, सी.आर.बी. ललित और नेमचंद अजनबी ने अपने लेखों में विवरण दिए हैं, जबकि अरुण भारती का पूरा लेख *करयाला* पर ही केंद्रित है। इसी तरह डॉ. विद्याचंद ठाकुर और मौलूराम ठाकुर के लेखों में *बांठड़ा* का विवेचन हुआ है। ये प्रमुख लोकनाट्य कई ज़िलों और विभिन्न क्षेत्रों में स्थानिक लोकाचार के साथ खेले जाते हैं, इसलिये लेखों में यह दोहराव भी अध्ययन को व्यापक बनाता है।

चम्बा का *हरणात्र* हिमाचल के प्रमुख लोकनाट्यों में गिना जाता है। शीत से मुक्ति और बसंत के स्वागत का उल्लास दर्शानेवाला यह लोकनाट्य होली के दिन से शुरू होकर वैशाखी तक खेला जाता है। *हिऊंद जो बसंद ओ, हिऊंद सात फटा जुट्टेरी खांदा जो...* अर्थात् सर्दी फटे जूते की सात चोटें खाती गई, बसंत आया—लोगों का यह हो-हल्ला शीत की त्रासदी से छुटकारे के बाद पहाड़ पर बसंत के स्वागत में है। अमर सिंह रणपतिया ने *हरणात्र* के साथ चम्बा के अन्य नाट्यों व उनके प्रमुख स्वाँगों का भी उल्लेख किया है।

समूचे कांगड़ा क्षेत्र का प्रमुख लोकनाट्य *भगत* है। *भगत* वास्तव में 'भक्ति' से प्रेरित नाट्य है और इसके पारम्परिक कलाकार *भगतिये* कहलाते हैं। यह लोकनाट्य भी अनुष्ठान की तरह सम्पन्न होता है और मनोरंजन का नैरंतर्य बनाए रखने के लिए इसकी प्रस्तुति में भी अनेक स्वाँग और नृत्य आदि अंतरालों में जोड़ दिए जाते हैं। डॉ. गौतम व्यथित ने कांगड़ा क्षेत्र के लोकनाट्यों के साथ विभिन्न लोकानुरंजनों का विवरण भी दिया है और ओम प्रकाश प्रभाकर का लेख *भगत* को लेकर ही है।

बिलासपुर का लोकनाट्य *धाजा* कृष्ण और मल्ल योद्धा सिद्धचानो की कथा पर आधारित है। इस तरह यह कृष्ण लीला के एक प्रसंग का नाट्य है और इस प्रमुख नाट्य के अंतर्गत अन्य स्वाँग भी जोड़ दिए जाते हैं, ताकि मनोरंजन की निरंतरता बनी रहे। डॉ. अनीता शर्मा के लेख में बिलासपुर के विभिन्न लोकनाट्यों का विवेचन है, जबकि *धाजा* पर केंद्रित डॉ. अश्विनी कुमार का एक अलग लेख भी इस पुस्तक में हैं। मंडी के लोकनाट्यों पर डॉ. विद्या चंद ठाकुर ने विस्तार से प्रकाश डाला है जिसमें *बांठड़ा* प्रमुख है और *बांठड़ा* पर दीनू कश्यप का एक पूरा लेख भी इसमें सम्मिलित है।

कुल्लू के लोकनाट्य एवं लोकानुरंजन विषयक मौलू राम ठाकुर का विवेचन सबसे विस्तृत और गहन शोध का परिणाम है। उन्होंने कुल्लू के लोकनाट्यों को अभिनय प्रधान, कथा प्रधान, देव नाट्य, अश्लील नाट्य, स्वाँग तथा मुखौटा नाट्य– इन छह श्रेणियों में बाँटा है। इनमें देव नाट्य, अश्लील नाट्य और मुखौटा नाट्य आदिम जीवन और संस्कृति से जुड़े संश्लिष्ट नाट्य हैं, जबकि कुछ अन्य नाट्य पड़ोसी क्षेत्रों–चम्बा तथा मंडी के लोकनाट्यों से मिलते-जुलते हैं।

शिमला ज़िला के लोकनाट्यों में डॉ. हरिराम जसटा ने *करयाला* के साथ *ठोडा* और *सिंह-बूढ़ा* का भी विवरण दिया है, जबकि सोलन के लोकनाट्यों पर नेमचंद अजनबी के लेख में *बरलाज* और *तुपु* का विशेष वर्णन हुआ है।

सिरमौर के लोकनाट्यों को लेकर सी.आर.बी. ललित के लेख में *रासा, गीह* और *हारुल* जैसे पारम्परिक नृत्य-नाट्यों को भी लिया गया है और महाभारत के युद्ध नाट्य *ठोडा* का भी इसमें विवरण है। इसी लेख में सिरमौर तथा जोंनसार-बाबर के *मौण* को भी लोकनाट्य रूप में लिया गया, जो कामुक क्रीड़ा के लिए चर्चित है।

विद्या सागर नेगी ने 'किन्नौर के लोकनाट्य' शीर्षक लेख में जहाँ भूत-बाधा निवारण के लोकनाट्य *बुढ़ाछङ् चाशिम* का विवरण दिया है, वहीं *खोन चाम* यानी खोन नाच का वर्णन भी किया है, जो संभोग क्रियाओं को दर्शानेवाला आदिम नाट्य है। इसके आधार में तर्क यह है कि यह राक्षस-राक्षसी भाई-बहिन को शर्माकर भगाने हेतु खेला जाता है। कुल्लू के कथित अश्लील नाट्य हों या फिर सिरमौर का *मौण,*

जिसे लेखक ने मदनोत्सव से भी जोड़ा है या फिर किन्नौर का *खोन चाम*– ये सभी कामुक क्रीड़ा के नाट्य प्रतीत होते हैं जो खुले आदिम समाज की परम्परा से चले आ रहे हैं; इस दृष्टि से इन्हें अश्लील कहना संभवतः उचित नहीं।

स्पीति की *बुछेन* नाट्य परम्परा बौद्ध जगत् में प्रसिद्ध है, क्योंकि यह बौद्ध धर्म और संस्कृति के संरक्षण और प्रसार की दिशा में सुदूर अतीत से चला आ रहा एक नियोजित रूप से स्थापित नृत्य-नाट्य है, जिसका सूत्रपात 14वीं शताब्दी में तिब्बत में हुआ था और हिमाचल के सीमांत जनजातीय ज़िला लाहुल-स्पीति की पिन घाटी में यह परम्परा आज भी जीवंत है। डॉ. नोरबू ग्यलछन नेगी का लेख इसी नाट्य परम्परा पर एकाग्र है, जिसका अपना तथ्यपूर्ण इतिहास है। तोबदन ने लाहुल के *बुछेन* और *छोदपा* नाट्यों पर प्रकाश डाला है।

लोकनाट्यों का यह एक सुखद पक्ष है कि जातियों में विभाजित समाज के रहते भी, इनमें सभी वर्णों व वर्गों के कलाकार एक साथ भाग लेते हैं। अभिनय में किसी भी जाति के लोग अपनी प्रतिभा के अनुसार शामिल होते हैं, जबकि संगीत पक्ष में वादक ज़्यादातर दलित वर्गों के होते हैं, जो अपनी वंशानुगत कला में परम्परा से निष्णात होते हैं। उनके हुनर के बिना ये नाट्य सम्पन्न नहीं हो सकते। लोकनाट्य कुछ ऐसा वातावरण भी निर्मित करते हैं, जहाँ जाति की गणना पीछे छूट जाती है और आदमी के फन की कद्र आगे रहती है। बल्कि ऐसे मंचों पर जातीय या ऊँच-नीच का भेदभाव स्थगित ही हो जाता है, क्योंकि यहाँ लोग पात्रों में रूपांतरित होते हैं। इस तरह लोकनाट्य जाति गणना से हटकर कला की प्रतिष्ठा करते हैं। यही मानवता का वास्तविक स्वप्न भी है, जहाँ निकष बराबरी है।

इस पुस्तक में संकलित अधिकांश लेख विपाशा पत्रिका के लिए इसी उद्देश्य से नियोजित रूप से लिखवाए गए थे कि इन्हें पुस्तक रूप में भी प्रकाशित किया जाएगा। इसके साथ ही दो-तीन लेख सोमसी से लिए गए हैं। लोकनाट्य एक ऐसी निष्पादन विधा है, जिसमें लोकपक्ष की समग्र अभिव्यक्ति के लिए खुली जगह रहती है। इस दृष्टि से पुस्तक के इन सभी लेखों में हिमाचल के जनजीवन और संस्कृति तथा इसके इतिहास से जुड़े अनेक आयामों का समावेश है। आशा है इस सांस्कृतिक धरोहर में रुचि रखनेवाले पाठकों और सामाजिक-सांस्कृतिक शोधार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

अनुक्रम

चम्बा के लोकनाट्य

अमरसिंह रणपतिया

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और आरंभिक काल से ही उसमें मनोरंजन की प्रवृत्ति विद्यमान रही है। इस आधार पर यह मत बनता है कि मनोरंजन की तृप्ति के लिए उसने राक्षसों, वन के पशु-पक्षियों के मुखौटे धारण कर अभिनय करना प्रारम्भ किया। उन अद्‌भुत लगनेवाले मुखौटों से लोग अनेक प्रहसन रचाते रहे और अपने प्रतिद्वंद्वी राक्षसों की हार दर्शाते हुए उनकी खिल्ली उड़ाते रहे।

एक शास्त्रीय मत के अनुसार ब्रह्मा को मनुष्य-जाति में मनोरंजन की प्रवृत्ति का आभास हुआ तभी चारों वेदों से संगीत, अभिनय और रस के तत्त्व निकाल कर पाँचवें 'नाट्य वेद' की रचना की। एक और मत यह भी है कि 'नाटक' की उत्पत्ति सांसारिक है। इस मत के अनुसार मूक-अभिनय और कठपुतलियाँ नाटक के आधार हैं। विद्वानों के मतानुसार भारत में ईसा की दसवीं शताब्दी तक शास्त्रीय नाट्य परम्परा छाई रही। उसके विघटन के बाद लोकनाट्य परम्परा को बल मिला।

इस तरह धीरे-धीरे भारत के विभिन्न स्थानों में लोकनाट्य अपना स्वरूप ग्रहण कर प्रदर्शित होने लगे। असम में *आंकिया* लोकनाट्य विकसित हुआ। इस लोकनाट्य के साथ-साथ *जात्रा* लोकनाट्य भी खेला जाने लगा। इस जात्रा लोकनाट्य का प्रचलन असम, प. बंगाल और उड़ीसा में समान रूप से है। शास्त्रीय नाट्य की क्षीणता के बाद हरियाणा और पंजाब प्रांत में *स्वाँग* लोकनाट्य ने प्रसिद्धि प्राप्त की। इसी प्रकार राजस्थान में *ख्याल,* मध्य प्रदेश में *माच,* महाराष्ट्र में *तमाशा* और गुजरात में *भवाई* लोकनाट्य अपनी-अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे। उत्तर प्रदेश में *रास-लीला, रामलीला* और *नौटंकी* प्रचलित रहे। इन लोकनाट्यों में स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही निभाते रहे, परन्तु अब *नौटंकी* और *जात्रा* में स्त्रियाँ भी शामिल होने लगी हैं।

हिमाचल प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी-अपनी भौगोलिक परिस्थिति के

कारण लोकनाट्य परम्परा अबाध रूप से गतिशील रही है। प्रगति के साथ भौगोलिक बाधाएँ दूर होने के कारण अब यहाँ के विद्वानों का ध्यान इस तरह की लोककलाओं के अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ है। लोकनाट्य परम्परा का प्रचार और प्रसार अब जगह-जगह हो रहा है। विद्वान् इस कला का सर्वेक्षण और विवेचन अपने-अपने दृष्टिकोण से कर रहे हैं।

हिमाचल प्रदेश में लोकनृत्य और लोकनाट्य आपस में इतने घुले-मिले हैं कि उनकी अलग पहचान करना कहीं कठिन भी हो जाता है। विद्वानों ने इस कला का विवेचन करते हुए इसे अभिनय, नृत्य, वेशभूषा और संवाद पक्ष की कसौटी पर रखकर परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। जिसमें नृत्य के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की प्रधानता हो, उसे लोक-नाट्य की संज्ञा दी जा सकती है। इस विवेचन के आधार पर हिमाचल प्रदेश के लोकनाट्य *रामलीला, रासलीला, करयाला, झाँकी, भगत, स्वाँग, बाँढा, चंद्रावल़ी, चैत्रोल, हरणात्र* (हरण, हौरन), *होरिङ् फो, ठोडा* और *हार* इत्यादि हैं। यद्यपि कुछ हिमाचली लोकनृत्यों को भी लोकनाट्य की गिनती में लिया गया है, जो एक तरह के नृत्य-नाट्य कहे जा सकते हैं।

हिमाचल प्रदेश का चम्बा जनपद अपनी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ खेले जानेवाले लोकनाट्यों में *रामलीला, रास* (रास लीला) *भगत, झाँकी, बाँढा, स्वाँग* और *हरण* (हरणात्र) प्रसिद्ध हैं।

विवाह के समय लड़कियों द्वारा किया जानेवाला *तिल-चौल़ी* नृत्य, *नुआल़ा* व *जागरा* (जगाता), नृत्य-नाट्य की श्रेणी में लिए जा सकते हैं। इसी प्रकार का गुग्गा की स्मृति में गुग्गैहल़ (गुग्गैहड़) को भी लोकनाट्य में लेना अनुचित होगा, क्योंकि इसमें नाट्य पक्ष कम और गुग्गा के स्मृति चिह्न का प्रदर्शन अधिक है। सिद्ध, गार्डी और गूर इसके मुख्य पात्र हैं। गुग्गा-स्मारक छत्र है, गुगड़ी (उसकी बहन) का स्मारक लोहे के सांकल (संगल का गुच्छा) हैं। इस *गुग्गा यात्रा* में न नाट्य खेला जाता है और न ही नृत्य किया जाता है, अपितु गुग्गा की वार गाने की प्रथा है।

चम्बा के प्रसिद्ध लोकनाट्यों में *रास, रामलीला, भगत, झाँकी, बाँढा, स्वाँग, हरणात्र* आदि प्रमुख हैं।

रास

चम्बा में *रास* लोकनाट्य का आयोजन भटयात तहसील और चम्बा शहर के इर्द-गिर्द हुआ करता था। रासलीला के दल चम्बा-निवासी न होकर बाहर के प्रदेशों से हर वर्ष आया करते थे। उनके मंचन का समय निर्धारित नहीं होता था। सम्पन्न परिवार उन्हें अपने घरों में आमंत्रित करते थे। सायंकाल को आस-पड़ोस के लोग रासलीला देखने आ जाते थे। इसका मंचन घर के खुले प्रांगण में होता था। विषय प्रायः कृष्ण-गोपी, कृष्ण-ऊद्धव, कृष्ण-यशोदा आदि प्रसंग या कृष्ण की

बाल-लीला से सम्बंधित हुआ करते थे। रजवाड़ाशाही खत्म होने के बाद इस नाट्य का मंचन प्रायः लुप्त हो गया।

रामलीला

चम्बा जनपद में *रामलीला* की कोई पेशेवर मण्डली नहीं है, जो घर-घर जाकर निमंत्रण पर इस नाट्य का मंचन करे। यह मंचन अब स्थानीय रामलीला क्लब द्वारा होता है। चम्बा शहर के चौगान में आश्विन नवरात्रों के दौरान नौ दिन तक *रामलीला* की जाती है। दसवें दिन विजय दशमी को इसका समापन सीता, राम और लक्ष्मण तथा अन्य पात्रों की झाँकी निकालकर रावण, कुंभकरण तथा मेघनाथ के पुतले जलाकर किया जाता है। अब चम्बा के ग्रामीण क्षेत्रों में भी इसका प्रचलन आरंभ हो गया है। इसके पात्र विशेष मुखौटे पहनकर, यथोचित वेशभूषा धारणकर मंच पर अभिनय करते हैं। संवाद पात्रानुसार निश्चित और रटे हुए होते हैं। यद्यपि यह लोकनाट्य कला से परिपूर्ण है, फिर भी इसके सम्बंध में कई संशय उभरकर सामने आए हैं। क्या इसे लोकनाट्य की श्रेणी में लेना उचित होगा? यदि नहीं तो क्या यह शास्त्रीय नाटक है? ये दोनों पक्ष इस नाटक को पूर्णरूप में अपनाने में असमर्थ हैं। इसके पक्ष और विपक्ष में तर्क निम्न प्रकार से दिए जाते हैं–

इसका मंचन भारत में अधिकतर स्थानों पर निर्धारित अवधि में ही किया जाता है। इसमें वाक्-पटुता की कमी है। लोक-नाट्य जहाँ सुदूर अतीत से ही अपने क्षेत्र-विशेष के लोक-मानस का प्रतिनिधित्व करते हुए, परम्परागत ढंग से खेले जाते हैं, वहाँ *रामलीला* में लोक से बढ़कर शिष्ट-समाज की काव्य कथा आधारित मंचीय प्रस्तुति होती है। अतः इसकी गिनती लोकनाट्य में उचित नहीं है, भले ही साधारण जनता को सुशिक्षित करने की क्षमता इसमें विद्यमान हो।

भगत

चम्बा में *भगत* का रजवाड़े के दिनों में काफी बोल-बाला रहा। चम्बा शहर में भगतियों की सुप्रसिद्ध मण्डली हुआ करती थी, जो आमंत्रण पर घर-घर जाकर *भगत* लोकनाट्य करती थी। *भगत* लोकनाट्य के युवक कलाकार अपने सिर के बाल नहीं मुंडवाते थे, ताकि स्त्री-पात्र की भूमिका कर सकें। कुछ कलाकार दाढ़ी-मूँछ भी रखते थे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर पात्र के अनुरूप वेशभूषा धारण करने में तुरंत समर्थ हों। होली के दिनों से वैशाखी तक इस नाट्य का मंचन होता था। सम्पन्न घराने के लोग *भगत मंडली* को 'साई' देकर आरक्षित करा लिया करते थे। भगतिये डौंरू (डमरू), चिमटा, हारमोनियम इत्यादि वाद्ययंत्र लेकर आमंत्रणकर्ता के घर पहुँच जाते थे। सायंकाल को खान-पान के बाद आस-पास के सभी लोग निश्चित स्थान पर पहुँच जाते। *भगत* का आरम्भ गणपति की स्तुति से होता था।

नर्तकी का रूप धारण किए चन्द्रावली, एक थाली में दीपक लेकर कुर्सी पर सज-धज कर बैठे पात्र की आरती उतारती है। अब डण्डु (मनसुख) का आगमन भी कांगड़ा आदि क्षेत्रों में होनेवाले *भगत* नाट्य की तरह होने लगा है। मसखरी भी अन्य क्षेत्रों की तरह होती है। *भगत* के अतिरिक्त अन्य नाटक–हरिश्चंद्र, पूर्ण भगत, मोरध्वज आदि का मंचन भी होता है। बीच-बीच में पहाड़ी गाने भी गाये जाते हैं। मनोरंजन के लिए गद्दी-गद्दन, चुराही-चुराहन आदि पात्रों के आपसी संवाद का प्रदर्शन भी होता है। हास्य-विनोद के लिए संश्लिष्ट भाषा के प्रयोग की प्रधानता बनी रहती है।

चम्बा ज़िला में *भगत* का प्रचलन भटयात तहसील और चम्बा शहर के आसपास ही होता रहा है, यद्यपि अब यह समाप्त-प्रायः है। हर जगह मनोरंजन के आधुनिक साधन सिनेमा, रेडियो और टेलीविज़न आदि का प्रचलन होने से यह नाट्य भी अतीत का हिस्सा हो गया है।

झाँकी

झाँकी का आयोजन भी *भगत* की तरह होली पर आरम्भ होकर वैशाख मास तक चलता रहता था। इसका मंचन चम्बा में शहर के पास होता था। *भगत* की तरह ही इसकी अपनी मंडलियाँ होती थीं। *हरणात्र* और *झाँकी* के पात्रों में प्रायः समानता पाई जाती थी। हारमोनियम, ढोल और नगारे जैसे वाद्ययंत्र इसमें प्रयुक्त होते थे। इसके पात्रों में *हरणात्र* की तरह ही नारद, साधु, साहब, चंद्रावल़ी, गद्दी-गद्दन इत्यादि हुआ करते थे।

चम्बा के बहुत से ग्रामों में जहाँ *हरणात्र* का प्रचलन है, *झाँकी* की परिभाषा कुछ और ढंग से की जाती है। इस मान्यता के अनुसार–*झाँकी* होली से आरम्भ होकर आगे आठ दिन तक निरंतर रात-दिन खेला जानेवाला लोकनाट्य है, जिसका प्रदर्शन घर-घर जाकर किया जाता है। *झाँकी* और *हरणात्र* के पात्रों और तकनीक में समानता पाई जाती है। *झाँकी* परम्परा से केवल दलित वर्ग के लोगों द्वारा प्रस्तुत की जाती रही है। पारिश्रमिक स्वरूप एकत्रित अन्न और धन वे आपस में बाँट लेते हैं। *हरणात्र* सवर्ण एवं अनुसूचित जातीय दोनों वर्गों द्वारा प्रस्तुत होनेवाला नाट्य है। इसके माध्यम से एकत्रित किया गया धन भी इसी तरह कलाकारों में बाँटा जाता रहा है। इस प्रकार की *झाँकी* का प्रचलन अब *हरणात्र* क्षेत्र तक ही है, शहरी-क्षेत्र के आस-पास की *झाँकी* अब अतीत की बात हो गई है।

बाँढा

चम्बा का भरमौर जनजातीय क्षेत्र है.। इसका होली क्षेत्र रावी-नदी के साथ जुड़ा है। इस क्षेत्र में *बाँढा* (बांठड़ा-भाण्ड) लोकनाट्य खेलने की प्रथा तकनीक की दृष्टि से अन्य क्षेत्रों जैसी नहीं है, फिर भी स्थानीय लोग इस प्रथा को 'बाँढा'

कहकर पुकारते हैं। इस क्षेत्र में इसका आयोजन प्रथम असौज से नौ प्रविष्टे तक होता है। प्रथम असौज को ग्राम चण्हौता में *बाँढा* का आयोजन होता है। इसका मंचन रात को देव-मंदिर में किया जाता है। प्रकाश के लिए लोग अपने-अपने घरों से जंगणी (दयार की लकड़ी) के गट्ठे लाते हैं। गट्ठों को 'घियाणे' का रूप दिया जाता है। *चंद्रावळी* और अन्य वन्य-पशुओं के स्वाँग उतारे जाते हैं। सारी रात मनोरंजन किया जाता है। अन्य स्थानों में *बाँढे* के मौके पर *चंद्रावळी* के स्वाँग की प्रथा नहीं है, यहाँ इस स्वाँग को भी महत्त्व दिया जाता है। इसी प्रकार के *बाँढे* का आयोजन क्वार्सी, शुटकर आदि गाँवों में भी किया जाता है। मेल-मिलाप, गाना-बजाना; भजन-कीर्तन, हास-परिहास से संघर्षमय जीवन को रोचक बनाना इस नाट्य का उद्देश्य है।

स्वाँग

चम्बा के कई स्थलों में धार्मिक आयोजन *जात्रा* (यात्रा) के आरंभ और अंत में *स्वाँग* रचाने की प्रथा है। चम्बा के जनजातीय क्षेत्र भरमौर से जुड़े छतराड़ी गाँव में शक्तिदेवी का इतिहास-प्रसिद्ध मंदिर है। यहाँ हर वर्ष भाद्रपद राधाष्टमी को, मणिमहेश यात्रा के सम्पन्न होने के बाद, तीन मेलों का लगातार आयोजन किया जाता है। भाद्रपद-राधाष्टमी वाले दिन मणिमहेश झील से पानी लाकर शक्ति की मूर्ति का स्नान कराया जाता है। उसी शाम को मंदिर से बटुक-महादेव की रथ-यात्रा आरम्भ करने से पूर्व देवी-राक्षस युद्ध दर्शाने के लिए चार-मुखौटाधारी अभिनेता प्रकट होते हैं। इनमें एक मुखौटाधारी, देवी का मुखौटा पहनकर अभिनय करता है, अन्य तीन मुखौटाधारी राक्षस का अभिनय करते हैं। अंत में उन तीनों को देवी द्वारा पराजित दर्शाया जाता है। उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है तथा बिच्छु-बूटी की लम्बी-लम्बी टहनियों से उन्हें पीटा जाता है।

इसी प्रकार चम्बा की जनजातीय तहसील पांगी में 'फलयात्रा' के अंतिम दिन, इसी प्रकार के मुखौटाधारियों का प्रदर्शन होता है, जिसमें देवी और राक्षस का आपसी संघर्ष प्रदर्शित किया जाता है।

हरणात्र

सर्दी का मौसम पर्वतीय लोगों और पशु-पक्षियों के लिए संघर्षमय होता है। मनुष्य के लिए खाद्य सामग्री, गर्म बिस्तर और पहनने के कपड़ों की ज़रूरत पड़ती है। पशुओं के लिए पर्याप्त-मात्रा में चारे की आवश्यकता होती है। कभी-कभी महीनों काले बादल छाए रहते हैं और क्षण भर में ही श्वेत चादर-सी बर्फ़ की परतें एक के बाद एक बिछ जाती हैं, जिससे दैनिक जीवन की गतिविधि रुक-सी जाती है और कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी दशा में

प्रत्येक व्यक्ति आनेवाले अच्छे मौसम की अपेक्षा करते हुए होली की प्रतीक्षा करता है। होली के दिन लोग अपने प्रांगण में आग के घियाणे प्रज्वलित करते हैं। पहाड़ी जनजीवन एकदम 'हो-हो-हो'–कोलाहल में डूब जाता है। सर्दी के क्रूर प्रहारों से मुक्ति पाकर लोग चिल्ला उठते हैं–*'हिऊंद गो, बसंद ओ–हिऊंद सत फटा जुट्टेरी खादां जो...'* अर्थात् सर्दी का मौसम गया, बसंत ऋतु आई, सर्दी जूते की सात चोटें खाती गई।

इस खुशी में अपने आस-पड़ोस के मित्रों से हास-परिहास करने में कोई संकोच नहीं करता। अश्लीलता को भी नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है। जैसे– *'अरड़-मरड़ फलां रे ढालुए चरड़...'*। अर्थात् फलां आदमी के *ढालुए* (अधःभाग) में चरड़ (एक प्रकार का चर्म रोग) लगे। दूसरा भी जवाब में वैसा ही तीर चलाएगा।

ऐसे समय पर आग का पूजन भुने हुए दानों (खड्डे) से किया जाता है। ये खड्डे प्रसाद-रूप में एक-दूसरे में बाँटे जाते हैं।

युवकों द्वारा गाँव के देवालय में *हरणात्र* लोकनाट्य प्रस्तुत किया जाता है। देवता के पूजन के बाद सभी पात्र अपनी भूमिका के अनुसार रूप धारण करते हैं। हरण के विभिन्न पात्र होते हैं, जिन्हें *स्वाँग* की संज्ञा दी जाती है। उनकी संख्या निश्चित नहीं होती। उपयोगी सामग्री और युवकों की संख्या के अनुसार उनका निर्धारण किया जाता है। समय का भी ख्याल रखा जाता है। केवल एक ही रात में अधिक से अधिक गाँव में जाना होता है। आमतौर पर ये प्रमुख पात्र होते हैं–हरण (हरिण), खप्पर, चंद्रावली, गद्दी-गद्दन, साहब, नारद, साधु इत्यादि।

हरणात्र के पात्रों की संख्या स्थान-विशेष पर भी निर्भर करती है। यह चम्बा जनपद की ऊपरी रावी घाटी और साल घाटी में खेला जानेवाला नाट्य है। ऊपरी रावी घाटी में भी बुड्ढल, होली और खणी क्षेत्र में यह नाट्य नहीं खेला जाता है। जहाँ यह नाट्य खेला जाता है, वे क्षेत्र हैं– रण्हूं-कोठी, छतराड़ी, प्यूहर, बस्सु, बकानी, लिल्ह, वेलज, साहो, हुल्ह, उदयपुर और साच परगना।

हरणात्र के पात्रों और उनकी वेशभूषा का परिचय इस प्रकार है–

हरण

हरण हिरण शब्द का पर्यायवाची है। एक व्यक्ति सफेद और काली धारीवाला कम्बल ओढ़ लेता है। उस पर काला ऊनी डोरा ऊपर-नीचे अपने इर्द-गिर्द बाँध लेता है। बकरी या हिरण के सींग लगा लेता है और अभिनय के समय चौपाये की तरह चलता है। इस पात्र की भूमिका पहले कोई निम्न-वर्ग का व्यक्ति निभाता था और घर-घर जाकर खेल के समय 'मेज़बान' को इसकी सवारी करने के लिए कहा जाता था। जो सवारी करता था, उससे कुछ पैसे लिए जाते थे। अब कई स्थानों पर यह स्वाँग नहीं किया जाता।

खप्पर

खप्पर मुखौटाधारी पुरुष-पात्र होता है। यह मुँह पर लकड़ी का मुखौटा पहनता है। मुखौटे की आँखें भयानक, दाँत लम्बे, दाढ़ी और मूँछ सफेद रंग की होती है। सिर पर बाँस या नगाल (जंगली बाँस) का लम्बा नोकदार टोप पहना जाता है, जिसे 'खड़बुजू' कहा जाता है। *खप्पर* लम्बा ऊनी चोला पहनता है। टाँग में 'सुत्थण' पहनाया जाता है, कमर में ऊनी डोरा बाँधा जाता है। यदि पोशाक फटी हो तो और भी अच्छा लगता है, ताकि पोशाक को देखते ही सभी दर्शक हँस पड़ें। वह हाथ में डंडा लेकर इधर-उधर नाचता है।

मुखौटे आमतौर पर लकड़ी के बनाए जाते हैं। इन मुखौटों को 'मकोल' (सफेद मिट्टी) से रंगा जाता है, ताकि दूर से ही सफेद नज़र आएँ। इनका निर्माण स्थानीय कारीगरों द्वारा किया जाता है। मुखौटे को मुहरा भी कहा जाता है।

चंद्रावली़

चंद्रावली़ हरणात्र का आकर्षक पात्र होता है। इस स्वाँग में पुरुष कलाकार स्त्रीवेश-भूषा धारणकर अभिनय करता है। सिर पर साधारण आकर्षक दुपट्टा, कमर में 'घुँघरू' पाँव में साधारण जूता और टांग में सुत्थण पहना जाता है। चंद्रावली़ की संख्या लगभग *खप्पर* की संख्या के बराबर होती है। इसका अभिनय करनेवाला पात्र नाचने में भी दक्ष होना चाहिए।

गद्दी

गद्दी के सिर पर श्वेत ऊनी नोकदार टोपी होती है। सफेद दाढ़ी-मूँछ, कमर में ऊनी चोला, डोरा (गात्री) बाँधे, गात्री में दरात, तम्बाकू का थैला, रूणका इत्यादि साज-सामान लटका रहता है। हाथ में लकड़ी का त्रिशूल होता है। वह मसखरी का केन्द्र-बिन्दु (विदूषक) होता है। अपनी गद्दन को सदा साथ रखता है और उसके साथ नृत्य करता हुआ गाता भी है।

गद्दन

गद्दन सिर पर मोटा दुपट्टा, कमर में ऊनी चोला, टांगों में ऊनी सुत्थण पहनती है। यह *गद्दी* के साथ नाचती है तथा कई तरह की मसखरी करती है। *गद्दी* के साथ स्वर में स्वर मिलाकर गाती भी है। यह भी स्त्री वेशभूषा में पुरुष पात्र हुआ करता है।

साहब

यह टोप पहनता है। मुँह आटे से सफेद किया होता है। यह *अंग्रेज़ साहब* का अभिनय करता है।

नारद

वीणा लिए, धोती और जनेऊ पहने *नारद* होता है। यह सुप्रसिद्ध पौराणिक पात्र *नारद* का ही अभिनय करता है।

साधु

साधु जटा धारण किए होता है। हाथ में नारियल का खप्पर या तूंबा लिए होता है। अंग-अंग पर विभूति मली होती है। यह हर घर में 'अलख' जगाता है।

ये सारी पात्र व्यवस्था हो जाने के बाद सभी एक साथ जलूस में चल पड़ते हैं। चलते समय जयकारे बोले जाते हैं–

'बोलो मणिमेहश की (एक व्यक्ति), जय (सभी)।'
'बोलो कैलास की (एक व्यक्ति), जय (सभी)।'
'बोलो भरमौर-थाने की (एक व्यक्ति), जय (सभी)।'
'बोलो भैरो-घाटी की (एक व्यक्ति), जय (सभी)।'
'बोलो शिव-महादेव की (एक व्यक्ति), जय (सभी)।'

अब सभी 'हो-हो-हो'... करते चलते जाते हैं। जलूस के आगे बजंत्री ढोल और शहनाई बजाते चलते हैं। ढोल की ध्वनि सारी घाटी में गुँजायमान होती है। घर के अंदर प्रवेश के समय प्रायः यह गाना गाया जाता है–

हरण आया हरणोटा-राजे रामेरी प्रौऴी
हरणेरे सिंगडु सुहाणे-जिहां मोती रे दाणे
डक बजदा डक डौंरू, राजे रामेरी प्रौऴी
हरण आया हरणोटा, मंगदा बकरोटा
तुरत करो मांझे आणीए-असां दूरा जो जाणा।
हरण आया हरनोटा, राजे रामेरी प्रौऴी...

साथ ही ढोल और शहनाई बजाते हैं और पात्र अपने-अपने स्थान पर नृत्य भी करते जाते हैं। आवश्यकतानुसार कई प्रकार के हास-परिहास भी शुरू हो जाते हैं। यदि मेज़बान के घर पुत्र-बधू आई हो या पुत्र प्राप्ति हुई हो या नौकरी मिली हो तो गद्दी बड़े अंदाज़ से घर के मालिक को बधाई देकर खुश करता है। मेज़बान उनको अन्न और धन देकर प्रसन्न करता है। इस प्रकार दिए गए अन्न को 'बरू' (वर) की संज्ञा दी जाती है। 'वरू' को *हरणात्र* के भंडार में डाला जाता है। कुठेई (छोटा अन्न वर्तन) बजंत्रियों को दी जाती है। बोझ उठानेवाले को अलग से अन्न दिया जाता है। अन्न व धन का हिसाब भण्डारी के पास रहता है। यदि *हरणात्र* के कलाकार प्रसन्न हुए हों तो दुबारा नृत्य आरम्भ होता है। हास-परिहास कई संवादों के माध्यम से खुलता है। संवाद निश्चित या रटे-रटाए नहीं होते। वाक्-पटुता पर आधारित होते हैं। गद्दी इसके केन्द्र में होता है। प्रायः संश्लिष्ट

भाषा का प्रयोग किया जाता है।

गद्दण अपने पेट में कुछ कपड़े बाँधकर ऐसा प्रदर्शन करती है जैसे गर्भवती हो। गद्दी उसकी ओर बड़े ध्यान से देखता है। कोई उससे पूछता है–*गद्दिया, कै हैरंदा?* (गद्दी क्या देखते हो!)

गद्दी : *ऐरा! फुटणा लूगरी* (यार फूटनेवाली है)। सभी हँसते हैं।

नाचते हुए एक 'खप्पर' एक दम गिरकर मरने का अभिनय करता है। गद्दन एकदम चिल्लाती है– *'मेरिआ खसमा! मेरिआ खसमा!!'* वह रोती-चिल्लाती गद्दी के पास पहुँचती है। गद्दी उसे पुचकारकर चुप होने को कहता है। गद्दन डंडा लेकर गद्दी को धमकाती है। सब हँसते हैं, गद्दी धीरे से गद्दन से पूछता है–

'कज़ो रूंदी? (क्यों रोती हो?)'

गद्दन : 'चल-चल!' सब हँसते हैं।

गद्दी : *'कै देली?* (क्या दोगी?)' सब हँसते हैं।

गद्दी जाकर मरे *खप्पर* की जाँच करता है। कभी बाजू से परखता है, कभी टाँगों से, फिर 'करंगोर' की टहनी लेकर उसकी डाली को घुमा-घुमा कर मंत्र बोलता है–

डाळी-डाळी डफली-सरमुंड अफरी
डाळी बाही गरहणो-माहणु लगे मरने
डाळी बाही करंगोरे-माहणु धणे मोरे

फिर भी वह नहीं उठता। अब गद्दी-गद्दन से मसखरी करता है, *'चल मुइये मेरी सौगी।'* सब हँसते हैं। अब वह उसे बाजू से पकड़कर भगाने का अभिनय करता है। गद्दन शोर मचाती है। 'खप्पर' उठकर उसके पीछे डंडा लेकर दौड़ता है। सब हँसते हैं।

सीधी अश्लीलता के बजाए संश्लिष्ट और दोहरे अर्थोंवाली भाषा को अधिक पसंद किया जाता है। जहाँ किन्नौर के *'चैत्रोल लोकनाट्य'* में सीधी अश्लीलता का प्रदर्शन होता है, वहाँ *हरणात्र* में ऐसी यौन-क्रियाओं को स्थान नहीं दिया जाता। *होरिङ्-फो* में भी अश्लीलता प्रदर्शित होती है।

व्यंग्यात्मक संवाद का उदाहरण–

पुरुष : *गदिआ तेरी बकरी कितणा दुध दिंदी?*

गद्दी : (एकदम) *सुक्की! जिहाँ ब्लौकाँ री टाँकी* (सूख गई है, जैसे सरकारी टैंक)। सब हँसते हैं।

कोई अन्य : *गदिआ तेरा दब्बु* (लड़का) *कै कमांदा?*

गद्दी : *अरा! कै दसणा पंज साल स्कूले पढ़दे भुची गै। हाले गिणती न गणांदा अक, अते रोज़ उठी स्कूले खिट।* (क्या बताऊँ, पाँच साल स्कूल जाते हो

गए, अभी एक गिनती नहीं गिनता)। सब हँसते हैं। गद्दी अब अपनी कुतिया को पुकारने का अभिनय करता है–'उलो! उलो!!'

फिर अपनी भेड़ों को बुलाना शुरू करता है–'हाऽ...! ओऽ...!'

अब सारा जलूस उसके पीछे-पीछे चलना शुरू करता है। वही–हो-हो-हो और जयकारे!

संवाद और व्यंग्य के साथ-साथ कई छोटे-छोटे गाने भी गाये जाते हैं। गीत या तो एक घर से दूसरे घर को जाते-जाते गाये जाते हैं या नृत्य करते समय गाये जाते हैं। इन गीतों के विषय विविध होते हैं, जैसे भारी बर्फ़ गिरना, कोई अनूठी घटना, अधिक अन्न-धन प्राप्त करना, पशु पालन के प्रसंग तथा प्रेम व विरह आदि।

गाते, नाचते, कूदते सुबह हो जाती है। प्रातः भी नौ या दस बजे तक यह क्रम जारी रहता है। अंत में *हरणात्र* उसी स्थान पर समाप्त की जाती है, जहाँ से आरम्भ हुई थी। सभी पात्र अपनी-अपनी वेशभूषा उतार देते हैं।

अब कोई ऐसा दिन निश्चित किया जाता है, जिस दिन एकत्रित अन्न और धन से सहभोज का आयोजन होता है। उस दिन को *'फगोल़'* कहा जाता है। फगोल़वाले दिन सहभोज के बाद शाम को *हरणात्र* के सभी पात्र वेशभूषा में सज-धजकर नृत्य करते हैं। थोड़ी देर नृत्य करने के बाद सारा साजो-सामान अगले वर्ष के लिए सुरक्षित स्थान पर रखा जाता है। इस प्रकार *हरणात्र* लोकनाट्य सम्पन्न होता है।

कांगड़ा क्षेत्र के लोकनाट्य एवं लोकानुरंजन

डॉ. गौतम व्यथित

लोकनाट्यों का मूल उद्देश्य देव पूजा या प्रकृति-पूजा का रहा है। इसमें दो राय नहीं कि आदिम वन-सभ्यता काल में आखेटकर लाए गए वन्य-पशुओं को जलती आग में भूनना, उसके उल्लास में गाना, नाचना, अभिनय करना ही लोकनाट्यों के उपजीव्य क्षण रहे हैं। शिक्षा एवं आधुनिक विकास से अछूते क्षेत्र आज भी उसी परम्परा में जी रहे हैं।

हिमाचली जनजीवन नृत्य-नाट्यमय है। पहाड़ी जीवन के अवसाद और अभाव के क्षण लोकनाट्यों के रस में डूबते ही पुनः रसमय हो जाते हैं। ऐसे नाट्यों का रंग लालित्य एवं विधान परम्परा रंग-सृजन की पृष्ठभूमि में 'ध्वज महोत्सव' का स्मरण दिलाते हैं, जो भारतीय सांस्कृतिक जीवन की प्रथम घटना मानी गई है। इस रीति से देवताओं ने असुरों को पराजित किया था, जिनका यहाँ अनुकरण किया गया। ब्रह्मादि देवता इस अभिनय से अति प्रसन्न हुए थे। उन्होंने उपहार में अभिनेताओं को अनेक वस्तुएँ प्रदान की थीं। इन्द्र का शुभ्र ध्वज उसी समय का उपहार है। उन्होंने इसी से असुरों के शरीर जर्जर किए थे। ऐसे दिव्यास्त्र से प्रसन्न होकर देवताओं ने इसे 'जर्जर' नाम दिया और वरदान दिया कि जर्जर समस्त नाट्यकर्ताओं और दर्शकों की रक्षा करनेवाला हो। इस घटना ने इन्द्र को रंगमंच का रक्षक बना दिया। तभी से नाट्यारंभ में 'जर्जर पूजा' का विधान शुरू हुआ। हिमाचल के लोकनाट्यों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है–

(क) देव-दानव संघर्ष को रूपायित करते लोकनाट्य।
(ख) शिव-शक्ति, राम-कृष्ण लीला तथा पौराणिक लोकनाट्य।
(ग) सामाजिक विसंगतियों को दर्शाते लोकनाट्य।
(घ) ऐतिहासिक-सामाजिक घटनाओं को प्रस्तुत करते लोकनाट्य।

कांगड़ा एक पुराना जनपद है। प्रचलित आख्यान, ऐतिहासिक दस्तावेज़,

गढ़, किले व मंदिर आदि इसके प्रमाण हैं। इस विशाल राज्य की सीमाएँ ऐतिहासिक प्रभावों के कारण निरंतर बदलती रहीं। हमीरपुर और ऊना ज़िले भाषाई एवं सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी कांगड़ा क्षेत्र में माने जा सकते हैं।

कांगड़ा जनपद में भगत, रास, नाच, स्वाँग, चंद्रावली, भाण्ड या बाण्डे, जात्रा या जातर आदि लोकप्रिय नाट्य रूप हैं। परन्तु लोकहृदय में जितनी उत्सुकता भगत लोकनाट्य के प्रति रही है, उतनी दूसरे रूपों के प्रति नहीं रही। लीलानाट्यों में रासलीला और रामलीला की परम्परा इस सदी के दूसरे दशक से अधिक प्रचलित हुई। भारत विभाजन के पश्चात् रास मंचन धीरे-धीरे धीमा पड़ता गया। कालांतर में यह भगत का ही एक अंग बन गया। रास मंचन में मिरासी वर्गीय कलाकार कुशल रहे। अन्य वर्गों ने भी रास के डेरे संगठित किए, परन्तु वे चले नहीं। वृंदावन के रासधारियों का वर्चस्व भी अधिक देर तक नहीं रह सका।

भगत का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

अबुलफज़ल ने आयने अकबरी में भगत सम्बंधी जो विवरण दिया है, यदुनाथ सरकार ने उसका भाव यूँ लिखा है–

The Bhagatiyas have songs similar to kirtaniyas, but they dress up various designs and exhibit extra ordinary.

Kirtaniyas are Brahmins whose instruments are such were in use in ancients. They dress up smooth faced boys as women and make them perform singing the praise of Krishna and reciting acts.

इस विवरण के अनुसार अकबर काल में दो लोकनाट्यधर्मी परम्पराओं के संकेत मिलते हैं–(1) ब्राह्मणों की कीर्तन परम्परा, और (2) भगतों की भगत परम्परा। भगत में बहुरूप की प्रधानता थी। हास-परिहास मुख्य तत्त्व था। ये भगतिये प्राचीन नट-परम्परा के कलाकार थे और मंदिरों में आयोजित उत्सवों में लोकरंजन करना इनका काम रहा होगा। इसी कारण कीर्तनियों के साथ ही इनका उल्लेख मिलता है। औरंगज़ेब के काल में मंदिरों से ठाकुरों की मूर्तियों के साथ ये लोग भी निष्कासित हुए। घुमक्कड़ बनकर मार्ग में पड़ते गाँव-कस्बों में अपनी कला का प्रदर्शन करके रोज़ी-रोटी कमाने लगे। औरंगज़ेब के समकालीन (1685 के लगभग) मौलाना मुहम्मद अकरम ग़नीमत के ग्रंथ नौरंगे-इश्क में भी भगत सम्बंधी उल्लेख मिलता है। इसमें संकेत है कि उन दिनों भगत, भांडों की नकल परम्परा जैसा ही हास-परिहास और हल्के मनोविनोद का प्रदर्शन था। अकबरकाल में भगत नाट्य मंदिरों में ही आयोजित होता था, परन्तु औरंगज़ेब के शासन में भगतिये इधर-उधर बिखर गए। अकरम ग़नीमत ने दिल्ली दरबार में आश्रय प्राप्त बारहवीं हिज़री के भगतबाज़ 'तकी' का उल्लेख किया है।

मथुरा के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ 'रामचन्द्र मुंगा' ने वहाँ के जिलाधीश के पेशकार श्री भगवती प्रसाद कायस्थ को भगत का जन्मदाता माना है। उन्होंने ख्याली लावनी में एक स्वाँग-संवाद लिखा था, जिसके प्रदर्शन पर दस हज़ार रुपये पुरस्कार राशि सरकार से प्राप्त की थी। वही आगे चलकर 'भगत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नाट्य शैली के मुख्य केन्द्र मथुरा और हाथरस रहे हैं। रामनारायण अग्रवाल ने भांडों की नकल और भगतों की तुलना करते हुए लिखा है कि दोनों में बहुरूपिया हास-परिहास, चुहल-चुटकी की अधिकता थी। परन्तु उद्देश्य और प्रदर्शन शैली की दृष्टि से दोनों में भिन्नता थी। भांडों की नकल में मुख्यतया लतीफे बयान करके या नकलें उतारकर जनता को रिझाया जाता था, जबकि भगतिये कोई वेश धारण करके तदनुरूप अभिनय द्वारा दर्शकों को प्रभावित करते थे, जो अधिक कलात्मक था। इसमें अभिनय के तत्त्व अधिक मुखर थे। गायन, हास-परिहास, मसख़रापन आदि भी इसके तत्त्व थे। अग्रवाल सन् 1800 के उपरांत ही भगत का वर्तमान स्वरूप एवं विकास मानते हैं।

रामनारायण अग्रवाल के मतानुसार ब्रज की भगत परम्परा को पुनः स्थापित करनेवाले ख्याल गायक ही थे। आगरा के मोती कटरा में अमरोहा की जिस अभिनय परम्परा को भगत के रूप में स्वीकार किया गया है, वह ख्याल परम्परा ही थी, जिसे ख्याल गायक जौहरी लाल ने प्रश्रय दिया था। उनका मानना है कि मथुरा-वृंदावन के सभी भगत अखाड़े, जो आरम्भ से अब तक भगत का झंडा उठाए थे, मूलतः ख्याल गायक ही रहे हैं। वे कहते हैं कि ख्यालों के विधिवत् अखाड़ों से पहले नटों द्वारा इन प्रदर्शनों को आयोजित करने की कोई व्यावसायिक व्यवस्था तो अवश्य रही होगी। यह भी हो सकता है कि ब्रज के कुछ भगतिए उस समय भरतपुर या आस-पास के क्षेत्रों में पुनः आ गए हों और यहाँ की जनता के.लिए उन्होंने प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया हो। उनकी यह भी धारणा है कि संभवतः स्वाँग की सांगीत परम्परा से इतर कोई लोकनाट्य रूप यहाँ ख्याल के नाम से लोकप्रिय रहा हो। शायद यह ख्याल पंजाब के ख्याल मंच जैसा ही कोई लोकनाट्य हो, जिसमें ख्यालों के आधार पर ही कथा का प्रदर्शन होता रहा होगा। यह लोकनाट्य मंच सांगीत से अधिक भिन्न नहीं था।

बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ संस्कृत नाटक प्रचलन में नहीं रहे। उपरूपकों का प्रभाव बढ़ा। ग्राम्य धर्म फिर उमड़ा। नाच, बहुत से गीत, थोड़ा-सा संवाद, थोड़ी-सी कथावस्तु–ये सब ग्राम्य धर्म पर पालथी मारकर बैठ गए। यहीं से लोकनाट्यों का प्रचलन बढ़ा। ग्रामीणों की अभिनय एषणा ने ग्राम्य धर्म से उसका अनुसरण किया। बाहरी प्रभावों के बावजूद अपनी संस्कृति को सम्भालकर रखा। इस सबकी प्रेरक बनी हरि-कथा, जिससे लोकमंच को रातभर सजीव रखने की एक

अनोखी प्रथा शुरू हुई। उसके लिए उन्हें अपनी भाषा में संवाद सुनाने आवश्यक थे। परिणामतः हरि-कथा ने प्रादेशिक भाषा में नाटक सोचने, लिखने, संवाद रचने की कला दी। भागवत-पात्र की सृष्टि हुई और राधा-कृष्ण की लीला क्लासिकल ढंग से लोकमंच पर उतरी। अभिनय भी मंदिर से निकलकर जनपथ पर आ गया। विशेष धार्मिक भावना की पृष्ठभूमि संसार के सभी नाटकों के आदि रूपों में झलकती है। पी.वी. कीथ का यह मत भी उल्लेखनीय है कि, "वीर पूजा की भावना अथवा धर्म आवेश जो प्रायः प्राणी मात्र के हृदय में निहित रहते हैं, धीरे-धीरे नाटक का रूप धारण कर लेते हैं।" अबुलफज़ल का मत भी इसी धारणा की पुष्टि करता है। डॉ. रिज़वी ने भगत परम्परा पर बात करते हुए लिखा है कि "यह हिन्दुओं का मज़हबी स्वाँग है, जिसमें नरसिंह और कृष्ण के रूप उभरते हैं।"

कांगड़ा की भगत-परम्परा

भगतिया परिवारों से बातचीत करने पर भगत परम्परा की दंत कथा मिलती है। कांगड़ा के निकट लपियाना गाँव में कोई राँझू नाम का भगतिया हुआ। वह अपने नाट्य कर्म में बड़ा माहिर था। एक बार ज्वाली के निकट 'अणोही' गाँव में भगत करने की साई थी। घर से निकलते देर हो गई। रास्ता लम्बा था, रात अणोही के जंगल में ही हो गई। अँधेरी रात में रास्ते का पता नहीं चल रहा था। मंडली की राय से रात वहीं काटने का निर्णय हुआ। लकड़ियाँ इकट्ठी की गईं। घियाना जलाया और वहीं भगत रचा दी। रात के अंतिम पहर में थाली फेरने की प्रथा का निर्वाह करने के लिए चादर फैलाकर भगवान से अरदास की। संयोगवश शिव-पार्वती उसी मार्ग से गुज़र रहे थे। उन्हें देखकर पार्वती ने कहा—"महाराज! आपके भगतों की श्रद्धा भावना भी बड़ी विचित्र है। जंगल में मंगल कर दिया है। परन्तु इनकी लीला देखनेवाला तो कोई भी नहीं दिखता। बेचारों को इतने परिश्रम के बाद भी कुछ नहीं मिलेगा। पार्वती की इच्छा जानकर शिव ने डमरू और सोने का सिक्का उस चादर पर फेंका। इस करिश्मे पर मंडली प्रसन्न और चकित हुई। राँझू ने साई ली थी, वह अपनी मजबूरी को बताने उस गाँव की ओर चल पड़ा। रास्ते में लोगों के मुख से यह सुनकर कि बीती रात को भगतियों ने जँगल में कमाल की भगत की, उसे बहुत आश्चर्य हुआ। राँझू उस मंडली में भारी का काम करता था। उसे प्रभु-कृपा का बोध हो गया। बाद में यही राँझू 'बाबा राँझू' के नाम से लोकप्रिय हुआ। उसने भगत पार्टी का गठन किया। उसके बाद उसका चेला 'बाबा घिन्नू' हुआ। उस परिवार में शिव का डमरू आज भी सुरक्षित है।

इसी परम्परा में संगारू भगतिया का नाम भी लिया जाता है। कांगड़ा में भगतिया डेरेदारों में दुआनू उर्फ दीवान चंद निवासी धनोटू का नाम भी उल्लेखनीय है। वह सत्तर वर्ष की आयु तक भगत का डेरेदार रहा। सन् 1983 में उसका निधन

हो गया। 15 वर्ष की आयु से उसने इस विरसे में हारमोनियम मास्टर, नकलची, नर्तक आदि की भूमिकाएँ खूब निभाईं। संगत के लिए 15 साल तक होशियारपुर में एक मिरासी की मंडली में भी काम किया। कांगड़ा में प्रचलित भदेस भगत को सुधारने में दुआनू का योगदान स्मरणीय रहेगा। उसकी पार्टी में होंसू राम, मास्टर नीरू राम, रत्नू, कोदरू और बाद में रामदास आए। मास्टर सालिग राम निवासी कियारी-शाहपुर का भी अपना अलग स्थान रहा है। आलमपुर निवासी मस्तराम की पार्टी, कुठेड़ा-सोलदा के धर्म चंद और रसीला राम की पार्टी तथा ज्वाली नूरपुर के मिर्चू भगतिया की पार्टी लोकप्रिय मंडलियाँ रही हैं। इसके अतिरिक्त डाडासीबा, ज्वालामुखी, बंडिया-बैजनाथ में भी भगतिया परिवार रहे हैं।

आज़ादी के बाद सर्वहारा दलित वर्ग में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ नयी चेतना आई। जीविका के नए आयाम खुले। परिणामतः आर्थिक विकास के कारण समाज में नया दौर शुरू हुआ। वर्गगत एवं परम्परागत व्यवसायों में कल्पनातीत परिवर्तन आया। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के फलस्वरूप गाँव की दहलीज पर पहुँचे सिनेमा तथा टेलीविज़न के प्रभाव से लोक का परम्परागत मनोरंजन बिगड़ गया। अतः रामलीला, भगत, रास और देहाती नाटक प्रभावित हुए। इनके संवाद, गायन, नृत्य और अभिनय नीरस और बेसुरे लगने लगे। कस्बों, गाँवों में चल रही रामलीला पार्टियाँ, नाटक मंडल तथा भगतिया डेरेदार धीरे-धीरे लुप्त होने लगे। जीवित रहे मात्र दो पात्र डन्डू मसख़रा और सखी। बेकार हो गए स्वाँग, विशेषकर जातीय स्वाँग जो बड़े चटाखेदार हुआ करते थे।

भगत को लेकर डेरेदारों से मेरा जो संवाद हुआ, उसके आधार पर आज़ादी के बाद भगतिया डेरों का निकटवर्ती सीमांती इलाकों में प्रदर्शन के लिए आना-जाना भी रुक-सा गया। इस कारण स्वाँगों, कथानकों का आदान-प्रदान सम्भव नहीं हुआ, जो परम्परा में अनेक स्वाँगों को ग्रहण करने के अवसर प्रदान करता रहा था। भगतियों द्वारा स्वाँगों और नाटकों को ग्रहण करने की परम्परा मौखिक थी। देखा-देखी में ही कुछ ग्रहणकर, कुछ सोच और जोड़ लेते। वैसे भी नकल के लिए अकल की ज़रूरत होती है। कहावत भी है कि अकल के बिना नकल सम्भव नहीं। दूसरे वे नकलची भी अब कहाँ रहे।

कुल मिलाकर इन सारी परिस्थितियों ने भगतिया डेरों के ह्रास में अपनी भूमिका निभाई। जो बचे हैं, उन्हें सदा किसी साई की उम्मीद रहती है। मौका मिलने पर अपनी ओर से पूरी कोशिश करते हैं कि दर्शकों को इसका पुराना मज़ा मिल सके। भगत का आज भी वही क्रम है—पहले कृष्ण लीला, उसके बाद वही पुराने एक-दो स्वाँग और उसके बाद कोई पुराना नाटक खेलते हैं। इस तरह रात का चौथा पहर निकाल देते हैं।

भगत तथा भगतिये

आरम्भ में 'भगत' को व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त न थी। सर्वहारा तथा दलित समुदायों में ही इस लोकनाट्य का प्रचलन था। शेष समाज को देखने की वर्जना थी। स्त्री समुदाय तो इसका नाम भी न लेता था। केवल वे ही स्वाँग दिखाए जाते, जो दलित तथा झीर जातियों से सम्बद्ध होते थे। तब केवल ये दो वर्ग ही भगतिया-परिवार के या भगत के डेरेदार होते और अभिनय भी यही लोग करते थे। ये कलाकार परस्पर रुचियों-वृत्तियों, व्यावहारिक कमज़ोरियों को स्वाँग द्वारा प्रदर्शित करते थे। इसे 'दो मंडली' भगत भी कहते थे। अश्लील संवाद के साथ मुक्त अभिनय में भगत की खूबी समझी जाती थी। वर्गगत स्वाँगों के अतिरिक्त सामाजिक-धार्मिक प्रसंग भी नकल के विषय बनते। बेतुकी बातें, इधर-उधर के प्रसंग, भदेस संवाद आदि भगत की पहचान थे।

मैंने सन् 1950 के करीब जो भगत देखी थी, उसका यही रंग था। मनसुखा या रौलू इसका एकमात्र ऐसा पात्र रहा है, जो प्रसंगानुकूल किसी भी पात्र के प्रश्न या संवाद का उल्टा उत्तर देता, जो हास्य-व्यंग्य की मुद्रा में दर्शकों के मन को छू जाता और वे हँसी में लोटपोट होते विसर-से जाते। ऐसे स्वभाववाले व्यक्ति को जो बात-बात में हँसा दे, हर बात को उल्टा या विपरीतार्थ में लेकर किसी तीसरे अर्थ की ओर संकेत करे, उसे आज भी *'भगतियां दा रौलू'* कहते हैं। भगत के आनुष्ठानिक तथा लोकरंजनात्मक रूप रहे हैं।

भगत का आयोजन सुक्खण या मनौती पूरी होने पर किया जाता है। जैसे किसी कार्य की पूर्ति पर सत्यनारायण की कथा को सुनना, मनोरथ-सिद्धि का प्रतीक रहा है, वैसे ही सर्वहारा और श्रमिक वर्ग में 'भगत करवाने' को महत्त्व दिया जाता है। छठे दशक के अंत तक दलित जातियों के विवाह-उत्सव पर लग्न की रात में 'भगत' प्रदर्शित की जाती थी। झीरों के यहाँ भी ऐसी परम्परा रही है।

भगत

कांगड़ा जनपद में शाहपुर-क्यारी, बग्गा-तिलोकपुर, ज्वालामुखी, आलमपुर, डाडासीबा, ज्वाली-नूरपुर, बंडिया-बैजनाथ आदि कस्बों में भगतिया पार्टियाँ हैं। इन्हें दूरस्थ स्थानों से अग्रिम राशि 'साई' के रूप में आती है, जिसे स्वीकारने पर वे उन गाँवों में जाते हैं। अपने इष्ट देवी-देवता की पूजा-उपासना के बाद आयोजक से पूजा करवाते हैं, मनौतियाँ मनवाते हैं, तत्पश्चात् आरम्भ होता है, भगत का मंचन जिसमें सबसे पहले कृष्ण लीला होती है।

कृष्ण लीला

भगत का आरम्भ *पूर्वरंग* से होता है। साज़िन्दे हारमोनियम व तबला की

ताल के साथ पक्के राग की नकल पर भगवान कृष्ण की भक्ति-लीला के बोलों का आलाप करते हैं, जिसकी अपनी स्वर-लहरी, तान तथा ताल का सौंदर्य है। जीवन की क्षण-भंगुरता, संसार की असारता, प्रभु-भजन का महत्त्व ही इस समय के गायन का मूल विषय होता है। यथा–

राम नूं भुलायीं ना, लख वे चुरासी गोते खायी नां।
पुत्र-धीयां-नार सभी मतलब दे संगी,
कोई न पुछे बात जद चिट्ठी आई बरंगी,
ई प्यारिया!!!
बिच वे चुरासी गोते खायी नां॥

इस समय हारमोनियम और डौंरू (तबला) को कुछ इस प्रकार बजाया जाता है जैसे इसके शुरू होने का शंखनाद किया जा रहा हो। इसी बीच सारे कलाकार सज-धजकर, भूमिका के अनुरूप, मंच पर आते हैं। एक सखी के हाथ में पूजा-पात्र रहता है, जिसमें धूप-दीप सजे होते हैं। सभी समवेत स्वर में गाते हैं–

ओम्, गणपत गणेश मनायो मेरी देवा।
गणपत गणेश मनायो मेरी देवा॥

साथ ही भगवती चामुण्डा की भेंट भी गाई जाती है–

गढ़ कांगड़े धौली धारा,
मैया तेरा भवन बनाया।
गढ़ कांगड़े काली धारा॥

अपने देवी-देवताओं की स्तुति-वंदना के पश्चात् साजिन्दे पुनः हारमोनियम-तबले पर मधुर धुन बजाते हैं; बीच-बीच में डेरेदार कोई कच्चा-पक्का राग भी अलापता है। अचानक मोर-मुकुट, पीताम्बर, मुरली लिए श्रीकृष्ण मंच पर आते हैं। मंच पर इधर-उधर टहलते सखा 'मनसुख' को स्मरण करते हैं। मनसुख को आवाज़ लगाते हैं–

कृष्ण : ऐ जी! मनसुखया!
मनसुख : (नैपथ्य से) तेरा मन कियां दुखया?
कृष्ण : (प्यार से) मनसुखलाल जी!
मनसुख : (धीरे से) तेरा होया बुरा हाल जी।
कृष्ण : (व्यंग्य से) मैं तुझे मोटर भेजूँ?
मनुसख : (बात बनाते हुए) जी! मैं नी पीन्दा।
कृष्ण : क्या कहा?
मनसुख : जी बोतल!
कृष्ण : (मुस्कराते हुए) मैं तुझे लारी भेजूं?

मनसुख : (इनकारते हुए) जी, मत भेज दे।

कृष्ण : (आश्चर्य से) क्यों?

मनसुख : (बात बनाते हुए) जी, मैं जबरा होई गिया।

इसी बीच वक्र मुद्रा में, हाथ में डंडा-सिंगा लिए, विचित्र वेषभूषा में मनसुख जी मंच पर आते हैं। श्रीकृष्ण की बंदगी करते हैं और फिर दोनों के मध्य संवाद शुरू होता है। कृष्ण मनसुख की किसी भी बात का बुरा नहीं मानते, अंतरंग सखा जो ठहरे। उसी की सहायता से श्रीकृष्ण अपनी लीलाओं का प्रसार करते हैं।

कृष्ण लीला प्रसंग जो भगत में मंचित किए जाते हैं, उनमें माखन-लीला, पनघट-लीला, छल्ला-मुंदरी, चंद्रावल-लीला अत्यंत लोकप्रिय हैं। एक स्थान पर एक ही लीला दिखाई जाती है। छल्ला-मुंदरी और चंद्रावल लीला की अधिक फरमाइश रहती है, कारण इनमें हास्य-व्यंग्य रहता है। कृष्ण का लोक रूप भी अधिक उभरता है। 'पनघट लीला' प्रसंग में सखी-मनसुख संवाद की बानगी देखिए–

सखी : वे!! मनसुखया?

मनसुख : वे ऽ हाँ!!

सखी : वे मरै तेरी माँ!

मनसुख, चिट्टा दाढ़ा, सिर पर लंबा टोप, मुँह पर काले-सफेद बिन्दे, पाँव में घुँघरू, फटी-पुरानी पैंट या पाजामा पहने हाथ में छिछरा लिए मंच पर उल्टा-सीधा नाचने लगता है। सखी उसे पकड़ती है, थामने की कोशिश करती है, परन्तु वह तो मस्ती में वक्र मुद्राएँ बनाता नाचता ही जाता है। सखी जब उसे पकड़ती-मनाती है तो वह मन ही मन प्रसन्न होता है–सखी का स्पर्श ऐसे कहाँ मिलता है? अंततः सखी पकड़कर बोलती है–

सखी : वे लाला मनसुखया!

मनसुख : (प्यार से) वे हाँ!

सखी : (उसे पकड़कर) वे ताँह।

मनुसख : (बाजू आगे करके) वे पकड़ मेरी बाँह।

सखी : (बाजू झिंझोड़ती हुई) तू खसमे जो खाँ।

मनसुख : (अपना मुँह उसके आगे करके) तू छड्डे तां मैं खां।

इस प्रकार संवाद का एक लम्बा सिलसिला चलता है, जिसमें लीला प्रसंग के साथ-साथ मनसुख की हाज़िर-जवाबी का पता चलता है। दर्शक समाज हँसी-ठट्ठे के गुलछर्रों में डूबता-इतराता आनंद लेता है।

भगत पर मथुरा-वृन्दावन की रासधारी-परम्परा का पर्याप्त प्रभाव है। परिणामतः भगत से जुड़े कृष्ण लीला प्रसंग व गेय संवाद शैली भी स्थानीय भगतियों ने अपनाई। गोपी-कृष्ण प्रसंग देखिए–

गोपियाँ :

रामचंद ने बाग लुआयो, बिच बिठायो माली नी,
हर-हर बूटे जो पाणी दिन्दा, इकनां रखदा खाली जी।
इकना जो फल बहुत बहुतेरे, इकनां जो पत डाली नी,
तेजवान लिख गईं विधमाता, जाती रे दुनिया खाली नी।
हेरी बला बृजमोहन आयो, मोहन आयो ॥

श्रीकृष्ण :

आती रे आती तू अलबेली आकर के करती नखरा।
कुछ आप हँसे तेरे नैन हँसे और नैनों के बीच हँसे कजरा ॥
मत्थे की बिंदिया चम-चम चमके, नक मोती हँसे तेरी बेसर का,
मारन वाला मार गयो कुछ खौफ न खायो परमेसर का ॥
हेरी बला बृजमोहन आयो, मोहन आयो ॥

नृत्य-गीत/मुज़रा

कृष्ण लीला मंचन का समय रात बारह बजे से पूर्व है। कलाकारों को विश्राम देने, दर्शकों की रुचि बदलने तथा कुछ पैसा इकट्ठा करने के लिए नृत्य-गीत (मुज़रा) भी प्रस्तुत किया जाता है। भगत में इस शैली का प्रयोग 'विक्टोरियन थियेटर' से प्रभावित है, जिसे स्त्रियों का अभिनय लड़कियाँ ही प्रस्तुत करती थीं। भगतियों ने उसी थियेटर से नखरेदार नृत्य, मुख-सज्जा, सलवार-कुर्ता-साड़ी के विचित्र प्रयोग, नटखटपन द्वारा दर्शकों को आकर्षित करना सीखा है। भगत में 'बेल कराना' भी एक सभ्य रिवाज़ बन गया है। सखी के मुँह से पैसा देनेवाले का नाम बुलवाकर उसी के नाम, दो-चार उलटी-सीधी अभिनय भरी नृत्यमुद्राएँ की जाती हैं। परन्तु भगतिया मंच सनातनता की परम्परा निभाता दाता के वंश की बेल बढ़ाने की अरदास करना नहीं भूलता।

स्वाँग या नकल

कृष्णलीला के बाद 'स्वाँग' की फरमाइश की जाती है। स्वाँग लगाना, नकल लगाने का पर्यायवाची है। अतीत में इसका स्वरूप भदेस था, परन्तु आज के स्वाँग सभी वर्गों के लिए दर्शनीय हैं। पुराने स्वाँगों की परम्परा में गदिये दा स्वाँग, बाबे दा स्वाँग, साधु दा स्वाँग, लंगे दा स्वाँग (डाऊए दा स्वाँग), फकीरे दा स्वाँग, मीम-साहब दा स्वाँग, नारदे दा स्वाँग आज भी उसी रुचि से अभिनीत किए जाते हैं। उनकी भाषा व्याकरण और व्यवहार में बंध गई है। प्रस्तुति भी वर्तमान नाट्यमंच से प्रभावित होकर शिष्ट बन गई है। भगतिया परिवारों की अपेक्षा अब सभी वर्गों के लड़के शौकिया इसमें भागीदार बन रहे हैं, जिनके पास शिक्षा,

सभ्यता, नाटकीयता की परम्परा है; सिनेमा, रेडियो, टेप्स, टी.वी. के प्रभाव भी हैं। अतः अब स्वाँग, नृत्य-मुद्रा के स्वरूप और भगत की गेयता में पर्याप्त अंतर आ रहा है।

बंडिया-बैजनाथ क्षेत्रीय भगतिया-पार्टी को हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी की कार्य योजना के अंतर्गत प्रो. योगेश गम्भीर ने प्रशिक्षण शिविर के तहत नाट्याभिनय की बारीकियाँ सिखाईं। उन्हें गेयटी थियेटर शिमला में प्रस्तुति के अवसर अवश्य मिले। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने भी शाहपुर की भगत पार्टी के लिए धर्मशाला और राजमंदिर नेरटी के मंच पर प्रस्तुति के अवसर जुटाए, प्रशिक्षण भी दिया, दूरदर्शन जालंधर से प्रस्तुति भी करवाई। भाषा, अभिनय, प्रस्तुति, कथा आदि में अनियमित रहनेवाले भगतिये अपनी चाल से बेचाल नहीं होते, परन्तु इस दिशा में कुछ और प्रयास इस रंग प्रस्तुति को समसामयिक बना सकते हैं।

नाटक

भगत का तीसरा और अंतिम चरण नाटक या ड्रामा का है। इस क्षेत्र के भगतिये अधिकांशतः पंजाबी में लिखे, पंजाब की ड्रामा पार्टियों द्वारा खेले गए नाटकों को अपनी लोकभाषा में मिश्रितकर अपनी नाटकीय सूझ के अनुरूप प्रस्तुत करते हैं। भक्त-सुदामा, शामोनार, राजा हरिश्चंद्र, सस्सी-पुन्नू, हीर राँझा, अमर सिंह राठौर, जैमल फत्ता आदि लोकप्रिय नाटक रहे हैं, जिन्हें प्रायः मंचित किया जाता है। इनकी प्रस्तुति, भाषा, वेशभूषा, मंचसज्जा सबकुछ भगत के अनुरूप है। न सैट बदलता है, न वेशभूषा में विशेष अंतर रहता है। परन्तु जहाँ तक मेरा निजी अनुभव है, इन सारे अभावों के बावजूद इनकी अभिनय कुशलता प्रस्तुति की आवश्यकताओं को पूरा कर देती है। सुने-सुनाए संवाद, आँखों से ग्रहण किया अभिनय, हृदय में समाई प्रस्तुति ही इन कलाकारों की सफलता का रहस्य है। सूर्योदय से पूर्व 'ओम जय जगदीश हरे' की आरती गाकर भगत समाप्त होती है।

बाण्डे

बाण्डे शब्द भाण्ड या संस्कृत रूपक 'भाण' का ही रूपांतर है। कांगड़ा जनपदीय लोकनाट्यों में 'बाण्डे' नाट्य रूप भी पर्याप्त लोकप्रिय है। यह एक आनुष्ठानिक लोकनाट्य है, जो प्रतिवर्ष कार्तिक मास की पूर्णिमा की रात को आयोजित होता है। इस नाट्य की परम्परा कांगड़ा के देहरा तथा नूरपुर उपमण्डलों में; विशेषकर अमलेला (देहरा) नामक गाँव और भडवार (नूरपुर) के निकट के गाँव में प्रतिवर्ष इसी पर्व पर आयोजित होने की है। यह लोकनाट्य धार्मिक-सांस्कृतिक दृष्टि से इतना लोकप्रिय है कि दूरस्थ स्थानों से भगतिये इसमें भाग लेते हैं, और

बड़ी संख्या में दर्शक एकत्रित होते हैं। इसमें चतुर भाण्ड (भाण्ड का कलाकार) अपने और दूसरों के हास्य और व्यंग्य प्रधान अनुभवों को आकाश भाषित या वार्तालाप द्वारा प्रस्तुत करता है। ग्रामीण परिवेश में इसकी प्रस्तुति निजी अनुभवों पर, अश्लील भी होती है, फिर भी दर्शक समाज स्वीकार करता है। नूरपुर तहसील का 'मिर्चू भाण्ड' इस कला में बड़ा निपुण और लोकप्रिय रहा है। जब वह बूढ़ा हो गया, दांत टूट गए, फिर भी उसके भगतिया लहजे में कमी नहीं आई थी।

इस लोकनाट्य का अंत पांडवों के स्वाँग की पूजा से होता है। पांडवों का स्वाँग भी बड़े रोचक और कुशल ढंग से तैयार किया जाता है। गाँव की परिक्रमा इसकी विशेषता है। समयानुसार इसमें 'हीर राँझा' या 'पूर्णभगत' के नाटक भी खेले जाते हैं। इसका मंच और प्रस्तुति-विधान भगत जैसा है। इसके कलाकार भी दलित परिवारों के भगतिये होते हैं। अब अन्य वर्गों के लड़के भी इसमें शरीक हो रहे हैं।

स्त्री लोकनाट्य : नाच

'नाच' विशुद्ध स्त्री लोकनाट्य है। 'गिद्दा' भी इसी का नाम है। इसका आयोजन विवाह के अवसर पर किया जाता है। लड़के की बारात जिस दिन चढ़ती है, उसी रात 'नाच' का मंच गरमाता है। पुरुष बारात के साथ जाते हैं और स्त्रियाँ नाच-गाकर मनोरंजन करती हैं। यह नाच रात्रि 8-9 बजे शुरू होता है। पुरुषों को दर्शक रूप में बैठने की भी सामाजिक मनाही है। यदि कोई चालाक पुरुष चोरी-छिपे देखता पकड़ा जाए तो उसकी बुरी गत बनती है।

'नाच' में पहले ढोलक की ताल पर नृत्य गीत शुरू होता है। लड़के की भाभी, ताई, मामी, चाची, मासी, माता, पड़ोसिन सभी बारी-बारी नाचती हैं। इसी बीच अकस्मात् कोई बुढ़िया स्वाँग रचाकर सबके बीच आकर अपना नाट्य शुरू करती है। दर्शक ही पात्र बन जाते हैं। खुला संवाद होता है। नाच में प्रस्तुत नाट्यों के विषय स्त्री-पुरुष व्यवहार, सम्बंध तथा सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर होते हैं। इनका भी कोई लिखित रूप नहीं; न मन में पूर्वाभ्यास-सी परिकल्पना रहती है। ये नाट्य रूप व्याहता-स्त्रियों के साथ ही एक गाँव या क्षेत्र से दूसरे गाँव या क्षेत्र में आते हैं।

लोक नारी में भी अनुकरण की तीव्रता कम नहीं। पुरुष का हैट, पैंट-कोट पहने कोई वयस्क स्त्री, साथ नयी नवेली गोरी लड़की, पूरे मीम-साहब बन कर प्रणय-प्रसंग में हँसी-ठिठोली से समा बाँध देती हैं। पुरुषों के प्रति स्त्री भावनाओं को रूपायित करता यह मंच स्त्री जाति की दमित इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है। प्रसंगानुकूल आशु-संवाद, तदनुरूप नाट्याभिनय इस मंच की रोचकता के मूलाधार हैं। इसमें हर पात्र स्वयं ही निर्देशक और अभिनेता है। लोकनाट्य परम्परा का यह

मंच धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। 'नाच' के स्वाँगों में मीम-साहब, डाक्टर साहब तथा रूहलिया का स्वाँग अत्यंत लोकप्रिय हैं। रूहलिया का स्वाँग सर्वहारा वर्ग में प्रचलित है, जिसमें रूहलिया के मन में विवाह करने की इच्छा, कांटा निकालने के बहाने एक लड़की से आँखें चार होना, तत्पश्चात् विवाह की रस्मों का नाट्यरूप और पुनः गृहस्थी के चक्कर में उलझे रूहलिये के जीवन की विसंगतियाँ रूपायित होती हैं। यह सब चुटकीदार लहजे में होता है।

चंद्रावल़ी

चंद्रावल़ी शब्द का लोक प्रचलित अर्थ आवश्यकता से अधिक सजी-संवरी स्त्री से है। ऐसी बनी-ठनी स्त्री को आज भी व्यंग्योक्ति में कहा जाता है–'क्या चंद्रावल़ी बनी है?' परन्तु इस नाट्य में तो पुरुष ने ही यह रूप धारण किया होता है। अतः इसका हास्यास्पद होना स्वाभाविक है। शरद ऋतु में जब धौलाधार पर्वत बर्फ़ की चादर ओढ़ लेता है तो कांगड़ा घाटी के घर-आँगन में 'चंद्रावल़ी' लोकनाट्य का समय होता है। केवल झीर तथा जुलाहा जाति के लोग ही इस नाट्य के आयोजक एवं अभिनेता हैं। इसमें तबलची, कसियाँ बजानेवाला, कहीं-कहीं हारमोनियम मास्टर तीन साजिन्दे और नृत्य-नाट्याभिनय करनेवाले दो पात्र चंद्रावल़ी तथा डन्डू होते हैं। ये पात्र कान्हा-चन्द्रावल़ी गूजरी के ही रूप हैं।

कृष्ण-चन्द्रावल़ी लीला को 'लोक' में अनेक मंच मिले हैं। ये पात्र लोक मन को छू लेते हैं। कान्हा का लोक रूप ऐसे पात्र से जुड़ गया है, जिसका मकसद उक्ति-वैचित्र्य या अभिनय वैचित्र्य से दर्शकों को प्रसन्न करना, रिझाना, हँसाना, उनका मनोविनोद करना है। यहाँ डन्डू ने सिर पर हैट, आँखों पर बिना शीशे की ऐनक, फटी-पुरानी धोती या पाजामा या जीन की निक्कर, हाथ में वही छीछरा, जिसकी ताल पर वह मसखरियाँ करता नाचता नहीं थकता कुछ ऐसा रूप बनाया होता है। बात-बात पर व्यंग्य-विनोद करना, रसिक संवाद द्वारा लोगों को हँसाना इस पात्र की भूमिका में शामिल रहता है। चंद्रावल़ी के आगे-पीछे वृत्ताकार में घूमते हुए अचानक आमने-सामने खड़े दर्शकों के बीच जाकर किसी से ऐसी चुहल कर देता है कि सारा वातावरण खिलखिला उठता है। उदाहरणार्थ–

दर्शक : कुत्थू ते मारी है?

डन्डू : तेरी थोड़ी मारी, अपणी है, तिज्जो कैह् दी पीड़ होआ दी।

दर्शक : बड़ी अक्कड़ ऐ अरा!

डन्डू : अक्कड़ होऐ चाहीं लक्कड़, तैं वि लैणा (छीछरे की ओर संकेत करके)।

नृत्य-नाट्य के बाद ऐसे संवाद प्रत्येक घर-आँगन में अलग-अलग विषय लेकर मुखर होते हैं। इसमें नृत्य, गीत से अधिक अभिनय है। संवाद गीतात्मक और गद्यात्मक दोनों तरह के होते हैं। कांगड़ा लोकसाहित्य परिषद् ने भगत और

नाच के साथ चंद्रावल़ी नाट्य को भी नागरी मंच पर प्रस्तुत करने के सफल प्रयास किए हैं, जिससे इन नाट्यों में लोकरुचि का विकास हुआ है। इसमें कोई कहानी नहीं है, केवल भगवती माँ की भेंटें गाना और तदनुरूप अभिनय करना ही इस नाट्य का मूल उद्देश्य है। इसे 'चंद्रावल़ी की फेरी' भी कहते हैं।

जगराता

'भगत' के समान 'जगराता' का सम्बंध भी 'सुक्खण' से है। जाग, जागरा, जागरण, जाग्गा इसी के पर्याय हैं। जगराता मंडली को भी विशेष रूप से न्योता जाता है। 'साई' देकर बात पक्की करते हैं। जगराता करवानेवाले सगे-सम्बंधियों को भी न्योता देते हैं। रात्रि के प्रथम प्रहर में जगराता शुरू होता है। इसके भी तीन चरण हैं। प्रथम चरण में भजन-भेंटें, नृत्याभिनय के साथ होती हैं। दूसरे चरण में फरमाइश पर पहाड़ी गीत, श्रोताओं की इच्छानुसार गाये जाते हैं। तीसरे चरण पर रात 1.30 बजे के बाद 'तारा राणी' की पद्यात्मक कहानी, नृत्याभिनय में एक पात्र (बेधक) द्वारा प्रस्तुत की जाती है।

वास्तव में जैसे कभी पंजाबी स्वाँगों और ड्रामों ने भगत के प्रारंभिक स्वाँगों को प्रभावित किया था, वैसे ही अब पंजाब की जगराता परम्परा इस क्षेत्र में प्रभावी हो गई है। लोक रुचि भी अधिकतर जगराता की ओर झुक गई है। सुखण-मन्नौतियाँ अब उसी से पूरी हो रही हैं।

परंतु जगराता मंच भगतिया थियेटर का विकल्प नहीं हो सकता। युगीन यथार्थ को कहने की जितनी सामर्थ्य भगत में है, वैसी जगराता में नहीं है। वैसे भी सामाजिक-राजनीतिक कथ्य में जो भूमिका भगत, बांठड़ा व करयाला की रही है वैसी अन्य किसी मंच की नहीं।

ऐह्ंचल़ियाँ

खेती, मजूरी करनेवाले सर्वहारा वर्ग में 'ऐह्ंचल़ियाँ' सुनने-सुनाने की परम्परा रही है। इस मंच का सम्बंध भी 'सुक्खण' से है। लड़की के माता-पिता उसकी शादी तय होने पर इसका आयोजन करवाने की मन्नत करते हैं। मंगनी होने पर उनके यहाँ एक-दो महीने यह मंच सजता है। प्रायः सर्वहारा वर्ग के हर गाँव में 'ऐह्ंचल़ी मंडली' होती है। इसमें 7-8 जन होते हैं। शौकिया गाना-बजाना, मनोरंजन करना इनका उद्देश्य है। इनके मुखिया को 'बेधक' कहते हैं। वे लड़कीवाले के घर जाकर 'घियाने' के चौतरफा मंच बनाते हैं। एक तरफ घड़ा-थाली, चिमटा, तबला बजानेवाले साजी और दूसरी ओर ऐह्ंचल़ी गायक बैठते हैं। कोई विशेष वेशभूषा नहीं। न कलाकारों जैसा नखरा। आरम्भ में दुर्गा माता की स्तुति व भजन गाते हैं; तत्पश्चात् पौराणिक कथा या कोई ऐतिहासिक-सामाजिक नाटक यथा—राजा

हरिश्चन्द्र, राजा मोरध्वज, राजा विक्रमाजीत, रूप-बसंत आदि को गद्य-पद्य की मिली-जुली शैली में सुनाते हैं। प्रसंगानुकूल नृत्याभिनय भी करते हैं। मंडली में दो वर्ग बनाकर सवाल-जवाब करना, कहीं गीत का मुखड़ा दोहराना, मूलकथा से जुड़ती कोई प्रासंगिक कथा (कली) सुना देना, इस मंच की विशेषताएँ हैं। इसमें श्रोता भी इनके द्वारा बोले गीत या संवाद को दोहराकर भागीदारी निभाते हैं। परन्तु रेडियो, टी.वी. के आने से अब यह मंच विलीन होता जा रहा है।

रास

वृंदावन में सन् 1592 में 'रासमंडल' तैयार हुआ था, परन्तु रजवाड़ों के टूटने के साथ विभिन्न नरेशों द्वारा मंदिरों में स्थापित रास क्रम भी टूट गया। दामोदर स्वामी ने इस परम्परा को अपनाए रखा, इतिहास ऐसा बताता है। रासादि नाट्य जब धर्म से जुड़े तो अनेक व्यावसायिक मंडलियाँ बन गईं, जो वैष्णव-उत्सवों पर रासलीला का प्रदर्शन करने लगीं। हिमाचल में रासलीला मंचन परम्परा नहीं रही। आरम्भ में ब्रज तथा सीमांती क्षेत्रों की रासमंडलियाँ विशेष आमंत्रण पर आकर रास प्रदर्शन करती थीं। इन्हीं के प्रभाव से स्थानीय रासमंडलियाँ अस्तित्व में आईं। इनका विशेष समय बीसवीं सदी का दूसरा दशक बताया जाता है। नगरोटा बगवाँ, फतेहपुर, कोटला, बैजनाथ आदि क्षेत्रों की रासमंडलियाँ अत्यंत लोकप्रिय थीं। बाहर के रासधारिये अनुमानतः सन् 1927 तक ही आते रहे।

कस्बे या गाँव के विशेष निमंत्रण पर आनेवाली रासमंडली के आतिथ्य का सारा दायित्व गाँववालों का होता था। मंडली का मुखिया व अन्य कलाकार उच्च कुलों के दर्शनीय युवक होते थे जो सदाचार में रहते थे। किसी खुले स्थान पर दरियाँ या पंदे बिछाकर मंच बना लेते, एक-दो चारपाइयाँ खड़ी करके सज्जा कक्ष बन जाता। अर्धवृत्ताकार में दर्शक बैठ जाते। प्रकाश के लिए दो मशालची मंच पर दोनों ओर खड़े हो जाते, जो अभिनय करनेवाले के साथ-साथ इस प्रकार घूमते कि सारा मंच आलोकित हो उठता। नर्तकों के साथ घूमती मशालें और मशालचियों के हाव-भाव उनकी कला-कुशलता का प्रमाण देते। रूप-सज्जा और मंच-सज्जा का विशेष ध्यान रखा जाता था।

रास का आरम्भ मंगलाचरण से होता था। एक युवक को कृष्ण बनाकर मंच के मध्य रखी कुर्सी पर बिठा दिया जाता और अन्य कलाकार क्रम से आकर वृत्ताकार में खड़े हो जाते। एक व्यक्ति आरती उतारता, शेष समवेत स्वर में 'जय जगदीश हरे' आरती गाते। दर्शक श्रीकृष्ण वन्दना करते, भेंट चढ़ाते। तत्पश्चात् गोपियाँ कृष्ण के विरह में नृत्य-गान करतीं। इसी बीच 'मनसुखा' जी पधारते और चुटीले-रसीले संवादों में शुरू होता है कृष्ण-गोपी मिलन का उपक्रम। हास्य-व्यंग्य-विनोद भरे संवादों से मनसुख श्रीकृष्ण को गोपियों का विरह दूर करने, उनके संग रास रचाने को राजी कर लेता। अगले दृश्य में रास क्रीड़ा शुरू होती थी। उस स्वाभाविक श्रद्धा

भरे मंचन से अच्छा मनोरंजन होता था। मंच संचालन डेरेदार के हाथ रहता था। सभी कलाकार उसका आदर-सम्मान करते थे। ब्रज एवं स्थानीय भाषा युक्त संवादों में किसी प्रकार की अश्लीलता की गंध नहीं आती थी। दर्शकों के बीच 'थाली फेरने' की प्रथा थी, जिसमें वे श्रद्धानुसार पैसे डालते। समय के साथ लोक-रुचि में बदलाव आने पर इसमें शृंगारिक गाने तथा ऐतिहासिक-सामाजिक नाटक भी जुड़ते गए। इस क्षेत्र में रास-प्रदर्शन की परम्परा बीसवीं सदी के पाँचवें दशक के अंत तक रही। तत्पश्चात् इसका कुछ भाग 'भगत' लोकनाट्य में समाहित हो गया।

रामलीला

रामलीला का स्वरूप यहाँ भी उत्तरी भारत में प्रचलित रामलीला नाटक जैसा रहा है। आरम्भ में स्थानीय रामलीला पार्टियाँ नहीं थीं। वयोवृद्ध श्री ज्ञानचंद शर्मा ने बताया कि यहाँ बाबा कल्याणदास मथुरावाले, सुखदेवसिंह महंत मथुरावाले, पंडित मस्तराम पंचरूखी कांगड़ावाले, श्री रामलखन मलां-कांगड़ावाले रामलीला के डेरेदारों में अत्यंत लोकप्रिय रहे। बाबा कल्याणदास ने तो अपना सारा जीवन ही इस क्षेत्र में बिता दिया। उनकी मृत्यु भी हरिपुर (कांगड़ा) में हुई। कुछ अरसा वे रेहलू, शाहपुर, रैत आदि कस्बों में भी रहे। वे रामचरित मानस के आधार पर रामलीला का मंचन करते थे। एक स्थान पर तीन-चार सप्ताह लग जाते। रामलीला का स्वरूप धार्मिक था। रामचरित मानस की पोथी विशेष चौकी पर सजती। कथावाचक या हारमोनियम मास्टर सुर-ताल में दोहा चौपाई गाता; पात्र तदनुरूप हिन्दोस्तानी में संवाद बोलते। पात्रों की रूप-सज्जा विशेष रुचि से की जाती। प्रस्तुति के लिए शहतीर आदि रखकर मंच बनाया जाता। चार या छह बाँस गाड़कर पर्दे लटकाए जाते। मास्टर के संकेत पर या सीटी बजाकर पर्दा खुलता और बंद होता।

प्रातः उठकर स्नानादि करना, पूजा-पाठ करना, अपनी भूमिका का पूर्वाभ्यास करना, गुरु आज्ञापालन, ब्रह्मचर्य जीवन, स्वयं को अभिनय-पात्र के अनुरूप समझना आदि कुछ विशेष नियम थे, जिनके प्रति उन्हें जागरूक रहना पड़ता। रामलीला के पात्रों को इतना सम्मान दिया जाता था कि लोग उन्हें कंधों पर बिठाकर अपने घर ले जाते, आदर-सत्कार करने के बाद पुनः उसी सम्मान के साथ घर छोड़ जाते। रामलीला मंचन भी एक महीना चलता रहता। कालांतर में स्थानीय रामलीला पार्टियों का गठन हो गया। अब प्रायः हर कस्बे में रामलीला क्लब हैं। परन्तु इनकी प्रस्तुति और पात्रों की नियमावली में पर्याप्त अन्तर आ गया है। लोक रुचि का ह्रास होता जा रहा है। परन्तु अभी भी कुछ ऐसी पार्टियाँ हैं जो आज भी इसे 14 वर्ष तक निभाने की परम्परा पर कायम है। अन्यथा किसी अनिष्ट का भय बना रहता है।

बिलासपुर के लोकनाट्य

डॉ. अनीता शर्मा

वैदिक काल से पूर्व नृत्य, गीत, अभिनय आदि की परम्परा समाज में विकसित हो गई थी। उस काल में नृत्य, गीत, संवाद जन-समुदाय के अंग थे। अतः समाज में विद्यमान जन-नाट्य को *भरत मुनि* ने *नाट्यशास्त्र* द्वारा पूर्णता प्रदान की। उसके बाद संस्कृत नाटकों में समुन्नत और समृद्ध हो चुकी नाट्य कला अनेक उतार-चढ़ावों से गुज़रती रही। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और भाषायी परिस्थितियों में नाटक जन-नाट्य के रूप में जनजीवन के निकट रहकर मनोरंजन के उद्देश्य की पूर्ति करता रहा।

भारत वर्ष में लोकनाट्य शताब्दियों से अभिनीत होते रहे हैं। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जन-नाटक पूर्ण विकसित अवस्था में थे। इन लोकनाट्यों में बंगला में *यात्रा*, बिहारी में *विदेशिया*, अवधी, पूर्वी हिन्दी, ब्रज तथा खड़ी बोली में *रामलीला*, *रासलीला*, *नौटंकी* के अतिरिक्त *स्वाँग*, *भांड* आदि जन-नाट्यों की धारा अविरल गति से बहती रही है। हिमाचल प्रदेश के जनजीवन में भी लोकनाट्य एक महत्त्वपूर्ण मनोरंजन विधा के रूप में सदियों से चला आ रहा है। हिमाचल प्रदेश के अन्य ज़िलों में प्रचलित *भगत*, *बांठड़ा*, *करयाला* की तरह बिलासपुर जनपद में भी लोकनाट्य प्रचलित रहे हैं। इनमें *धाजा* प्रमुख है। इस लोकनाट्य में गीत, नृत्य और पद्य मुख्य हैं। अल्प गद्य में हास्य का पुट देकर दर्शकों का मनोरंजन किया जाता है। धार्मिक विश्वासों से जुड़े इस नाट्य रूप को मंगलवार, शनिवार और रविवार को ही प्रदर्शित किया जाता है। खुले प्रांगण में सारी रात खेला जानेवाला *धाजा* बाबा बलि साहब सिद्ध चानों के स्मरण में प्रस्तुत किया जाता है, जो एक अत्यंत वीर मल्ल योद्धा के रूप में जाने जाते हैं।

कंस ने इसी मल्ल योद्धा को अपने यहाँ आश्रय देकर कृष्ण से मल्ल युद्ध करने के लिए प्रेरित किया था। सिद्ध चानों मल्ल की वीरता का लोहा मानते हुए

कृष्ण ने उसे छल द्वारा हराया था। राजाओं के समय में मथुरा की *छिंज* रूपी इस पौराणिक गाथा को *धाजा* के अंतर्गत प्रस्तुत किया जाता था। *धाजा मण्डली* में 12 से 15 तक कलाकार होते हैं। इन कलाकारों को *'भगत'* के नाम से जाना जाता है। भगतों के अनुसार सिद्ध चानों का प्रथम थान (स्थान) रेती में माना जाता है। जहाँ पहला धाजा प्रस्तुत हुआ। उसके बाद सुआ का थान, मटोड़ का थान, छेते का थान और समेला का थान आते हैं।

धाजा में ढोलकी, हारमोनियम, डमरू, नाद, ढोल, तबला, छैणा और कन्सी आदि वाद्य-यंत्रों का उपयोग होता है। इसमें ढोलकी और बारहसिंगे के सींग से बने नाद को धाजा का प्रारम्भिक वाद्य-यंत्र मानकर अति पवित्र माना जाता है और इन्हें धरती पर नहीं रखा जाता है। बारू भगत को *धाजा* की प्रथम साखी माना जाता है और *धाजा* के गानों में उसका नाम रहता है। सारी रात जलाई जानेवाली मशाल *धाजा* में अनिवार्य रूप से रखी जाती है, जो सम्भवतः नाटक की प्रकाश व्यवस्था की ओर इंगित करती है। धार्मिक मान्यता के अनुसार यदि कोई भगत मशाल उलट दे तो जनता में बीमारी फैल जाती है। पुनः *धाजा* करवाकर ही बीमारी का इलाज होता है। मीठी चूरी और रोट का प्रसाद दर्शकों में बाँटा जाता है। रोट को व्यक्ति द्वारा बाहर आँगन में ही पकाया जाता है। जहाँ धाजा क आयोजन होता है वहाँ उस क्षेत्र के सभी देवताओं का आह्वान किया जाता है।

धाजा ग्राम्य जीवन में धार्मिक वृत्ति के जनसमूह के मनोरंजन और तल्लीनता का प्रमुख साधन है। कल्याणकारी मानी जानेवाली 'कार' देने (लकीर खींचने) के बाद *धाजा* का प्रारम्भ स्तुतियों से किया जाता है। मध्य में जो आग जलाई जाती है उसमें घी, मीठा और तेल के छींटे बीच-बीच में लगातार छिड़के जाते हैं। इसके उपरांत सारी रात भिन्न-भिन्न स्वाँगों की प्रस्तुतियाँ की जाती हैं। प्रत्येक दृश्य में स्वाँग के अनुरूप वेशभूषा धारण की जाती है।

प्रथम स्वाँग है—कृष्ण गोपियों का स्वाँग *चंद्रावली*। इस दृश्य में एक मुख्य नायक के रूप में कृष्ण का वेश धारणकर पुरुष कलाकार बांसुरी लिए और तीन पुरुष कलाकार गोपियों के वेश में आते हैं। नाद, डण्डा, डोरी, लम्बी सफेद दाढ़ी, धोती और जनेऊ धारण किए नारद आता है। नारद और सखी घुँघरू बाँधे होते हैं। *'श्यामा जी तोरा पनिया हमसे न भरया जाए'*, *'मुरली बजांदा श्यामा जमुना दे कण्डे-कण्डे'* जैसे राग-ताल में निबद्ध भजन गाये जाते हैं। सखियों द्वारा हस्त चालन, कटिचालन, चेहरे के हाव-भाव और पाद पटकनी इसमें प्रमुख रहते हैं। सभी पात्रों के खड़े होने और अभिनय की अपनी एक विशिष्ट शैली रहती है। नारद विदूषक की भूमिका निभाता है।

दूसरा स्वाँग *बांवरे* का है। माता के शाप से यह पात्र अधपगला है।

अंगारों पर चलता है, आग खाता है। दो व्यक्तियों के परस्पर वार्तालाप द्वारा हँसी-मज़ाक का माहौल बना रहता है। सभी स्वाँगों में लोक शैली में मधुर गायन चलता रहता है।

नटणी के स्वाँग में भानुमती के खेल प्रमुख रहते हैं। इसमें जादुई करतब किए जाते हैं। जैसे मुकुट लगाकर, घुँघरू बाँधे नारी वेशधारी पुरुष कलाकार पाँव और पेट के बल तलवार पर चलता है। हाथ के ऊपर आग अथवा जलती ज्योति की थाली घुमाना, तलवार लेकर शक्ति रूप में ताल पर नाचना इत्यादि भी इसमें शामिल हैं।

डाऊ चेला का स्वाँग, *नाहर सिंह* बजिए का स्वाँग भी प्रमुख है। इसमें लम्बे-लम्बे बांस के डण्डों पर नाहर सिंह वेशधारी कलाकार चलता है।

हनुमान और *भैरों* का स्वाँग, जिसमें लाल लंगोट और गोटे से मढ़ी कमीज़, मालाएँ, घुँघरू धारण किए एक पुरुष पात्र और भैरों की वेशभूषा में एक हाथ में आग से भरा खप्पर और दूसरे हाथ में चिमटा लिए एक अन्य पुरुष पात्र ताल वाद्यों के साथ मधुर लोकशैली में गायन करते हुए मुख्य अखाड़े में प्रकट होते हैं। हल्के-हल्के गद्य या पद्य द्वारा दृश्य की जानकारी दर्शकों को मिलती है।

गद्दी-गद्दण और *पहाड़िया देव* के स्वाँग *धाजा* में अनिवार्य माने जाते हैं। इन स्वाँगों में नृत्य, गायन, वाद्य की ऐसी ताल और लय उत्पन्न की जाती है कि कई दर्शकों को 'खेल' आनी शुरू हो जाती है। इसे देव कृपा माना जाता है। *'घोड़े का स्वाँग'* और *'बाबा हस्तबलि का स्वाँग'*—इन दो स्वाँगों पर खर्च अधिक होने से इनकी प्रस्तुति अब कम ही होती है। पात्रानुकूल वेशभूषा की कमी से स्वाँगों की रोचकता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। *धाजा* के अंत में आमंत्रित देवताओं को वापिस भेजा जाता है।

दीवाली से आठ दिन पूर्व प्रारम्भ होनेवाला चंद्रावल़ी लोकनाट्य धाजा के अन्तर्गत होनेवाले चंद्रावल़ी स्वाँग से भिन्न लोकनाट्य है। गाँव के प्रत्येक घर के प्रांगण में प्रस्तुत होनेवाला यह लोकनाट्य अलग ही रूपाकार में प्रस्तुत किया जाता है। कृष्ण की सखी चंद्रावल़ी के वेश में घुँघरू बाँधे पुरुष कलाकार आठ-नौ अन्य कलाकारों के साथ सारी-सारी रात गाँवों में घूमकर गायन, नृत्य और अभिनय करते हैं, जिसमें माखनचोरी, पनघट, दानलीला के प्रसंग प्रमुखतया रहते हैं। इसमें समयानुसार रागों के आधार पर कृष्ण और राम के भजन गाए जाते हैं। उदाहरणार्थ—

राग जोग — *दे दे दे दे जवन का दान गुजरिए*
दहिएं के बेचन वाली
मैं गुजरी जमुना तट की
बेचन न देवे नन्द के छैल

	दहिएं के बेचन वाली
राग वागेश्वरी	*राम नाम रस भीनी चदरिया*
	झीनी रे झीनी
राग सोरठ कृष्णा	*दे बिना मेरा दरद न होर वे*
	सोहणे-सोहणे जंगलां च पैलां पांदे मोर वे।
राग जोग	*पनिया भरन कैसे जाऊँ सखी अब*
	मैं जमुना जल भर जात रही
	रोक लई नन्द के छैल।
भ्यागड़ा	*जमुना किनारे इक बसे गज़रेटी*
	दहियां दे बेचण जावे
	इक छोटा जह्या बालक जी
	दऊएं दियां मंगदा जगातां।

इस *चंद्रावल़ी* में कृष्ण और मनसुखा नहीं होते हैं। सखी और गायक नृत्य और गान में पारंगत कलाकार होते हैं। हारमोनियम, तबला, ढोलक, खंजरी, डोरू, कंसी, चिमटा वाद्ययंत्र बजाये जाते हैं। लोग धूप जलाकर मंडली का स्वागत करते हैं। संगीत, नृत्य, संवाद और विशिष्ट हाव-भाव युक्त शैली में आबद्ध चंद्रावल़ी की प्रस्तुति के उपरांत घर के लोग थाली में कुंगु सजाकर सबको तिलक लगाते हैं। धूप जलाकर चीनी-शक्कर इत्यादि बाँटते हैं। कलाकारों को अनाज भेंट किया जाता है। किसी घर में शादी या बच्चा हुआ हो तो नए वस्त्र भी दिए जाते हैं। आठवें व अंतिम दिन यह लोकनाट्य अपने ही गाँव में आयोजित किया जाता है। पास-पड़ोस और अपने घर में प्रसाद बनाकर कन्या-पूजन के बाद समापन किया जाता है। समेला में सिद्ध चानों मंदिर के बाहर चंद्रावल़ी के दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं।

बिलासपुर ज़िला में भी पूरे उत्तर भारत की तरह शरद काल के आगमन के साथ ही अक्तूबर-नवम्बर मास में राम की जीवन लीला को शृंखलाबद्ध ढंग से मंच पर अभिनीत किया जाता है। आर्य संगीत रामायण अथवा रामायण के स्थानीय पाठांतर को आधार बनाकर शरद नवरात्र से आरम्भ की गई **रामलीला**, दशहरा के दिन झांकियाँ प्रस्तुत करके राम-रावण युद्ध, रावण दहन और तदुपरांत रामराज्य की स्थापना के साथ सम्पन्न हो जाती है। गाँवों में महीना भर *रामलीला* आयोजित की जाती है। *रामलीला* एक ऐसी महत्त्वपूर्ण रंगमंचीय शैली है जिसमें रामकथा के प्रति कलाकारों का अद्भुत लगाव रहता है। जवान, बच्चे, बूढ़े, अमीर, गरीब सभी धर्म व जाति के लोग भी एक साथ मनोरंजन की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि धार्मिक-सामाजिक आस्था के रहते *रामलीला* देखते हैं। नैतिक मूल्यों के प्रति जागरूक होते हुए बदले हुए परिवेश में दर्शक रामायण के पात्रों के चरित्रों में विद्यमान शक्ति को पहचानने

की हद तक जुड़े होते हैं। रामलीला में अभिनेता गायक; वाचक, संगीतकार और वादक को मिलाकर एक बड़ा कलाकार समूह होता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान कुछ मंडलियाँ पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित नाटकों का मंचन भी करती रही हैं। इन नाटकों में हिन्दी, उर्दू और लोकभाषा में मिश्रित संवाद, गायन और वेशभूषा को देखकर व्यावसायिक पारसी नाटक मंडलियों और रासलीला मंडलियों के मिश्रित प्रभाव का आभास होता है।

बिलासपुर क्षेत्र में लोकानुरंजन का एक अन्य प्रमुख माध्यम *छिन्ज़* के आयोजन के पूर्व डाली जानेवाली **धमाल** है। इसमें ढोल, नगारा बजाकर फकीर *धमाल* डालते हैं और विभिन्न करतब दिखाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की भजन मंडलियाँ, प्राचीन गाथाओं–गूग्गा गाथा तथा अन्यान्य लोकगाथाओं और झेड़ों का गायन करती हैं, जिनमें पौराणिक या प्राचीन वीरगाथाओं का लोकशैली में गायन भी किया जाता है। इन्हें प्रस्तुत करते समय किस्सों के दृश्य रचाये जाते हैं, जिनमें कलाकारों द्वारा अभिनय-भंगिमाओं या नृत्य-मुद्राओं से कथानकों में जीवंतता उत्पन्नकर दर्शकों का उद्देश्यपूर्ण मनोरंजन किया जाता है। इस जिला में ऋतु परिवर्तन के साथ उत्सवों, समारोहों के आयोजनों पर धुप्पु, घेरसु, आँचलियाँ, चरकटी, गिद्धा, ममोल, रासलीला इत्यादि विधाएँ भी समाज में विद्यमान रही हैं। लोकानुरंजन की इन विभिन्न विधाओं में अभिनय तत्त्व भी पर्याप्त विद्यमान रहता है।

आधुनिक युग में मनोरंजन के बदलते साधनों और दर्शकों के परिवर्तित रुझान के बावजूद परम्परागत लोकनाट्य सार्थक मनोरंजन की अपार सम्भावनाएँ लिए, जनजीवन में आज भी अपनी पैठ बनाए रखने में समर्थ हैं।

मंडी के लोकनाट्य

डॉ. विद्याचन्द ठाकुर

नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार विविध कला विधाओं में नाट्य विधा की व्यापकता इतनी समृद्ध है कि किसी प्रकार का ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग तथा कर्म ऐसा नहीं है, जिसका समन्वित दर्शन नाटक में न होता हो–

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगी न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् में नाट्यकला की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि नाटक ही एक ऐसी कला विधा है, जिसमें भिन्न-भिन्न रुचि वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक जैसा आनन्द मिलता है–

'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।'

लोकनाट्यों के संदर्भ में भी उक्त तथ्यात्मक बातें पूर्णतया सही साबित होती हैं। विविध कलाओं में लोकनाट्य का अग्रणी स्थान है। इस कला में गीत, नृत्य एवं वादन की संगीत समुच्चय त्रिवेणी में मनोरंजन के साथ-साथ सांस्कृतिक परम्पराओं की सशक्त धारा भी प्रवाहित होती है। पारम्परिक रूप से सभी लोकनाट्यों में कुछ-न-कुछ धार्मिक निष्ठाओं का समावेश रहता है। प्रायः हिमाचल प्रदेश के लोकनाट्यों में कृष्ण लीला के प्रसंग किसी-न-किसी रूप में सम्मिलित रहते हैं। सम्भवतः ऐसा मध्यकाल में वैष्णव प्रभाव के फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति धारा के प्रचार-प्रसार के कारण हुआ है। इस सांस्कृतिक पक्ष के साथ-साथ लोकनाट्यों के क्रम में बीच-बीच में जो संवाद चलते हैं, उनमें जन-समस्याओं एवं जीवन के संघर्षों को यथा प्रसंग गम्भीर तथा व्यंग्यपूर्ण शैली में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। लोक-मानस के समसामयिक चिंतन के अनुरूप सहज सम्प्रेषणीयता का गुण लोकनाट्यों की विशेषता है। इस कला का आज भी समाज में बहुत प्रभाव एवं सहज आकर्षण विद्यमान है।

मंडी जनपद हिमाचल प्रदेश का केन्द्रीय जिला है। इसकी सीमाएँ कुल्लू, कांगड़ा, बिलासपुर, हमीरपुर तथा शिमला ज़िलों से जुड़ती हैं। मंडी जनपद के लोगों के साथ इन सीमावर्ती क्षेत्रों के सामाजिक सम्बंध स्वाभाविक रूप में सदियों से चले आ रहे हैं। अतएव इस क्षेत्र में इन जिलों की संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव पाया जाता है। इस वैशिष्ट्य के कारण लोक-संस्कृति और लोकनाट्य की विविधता मंडी जनपद में अन्य जिलों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। मंडी जनपद की धरती पर जिस लोकनाट्य ने जन्म लिया है, वह 'बांठड़ा' है तथा इसका ही एक अवांतर विकसित रूप 'बुढड़ा' कहलाता है। इसके अतिरिक्त सीमावर्ती क्षेत्रों में करयाला, भगत, हरण तथा मड़याला़ लोकनाट्यों का प्रचलन है।

बांठड़ा

हिमाचल प्रदेश के लोकनाट्यों में *बांठड़ा* लोकनाट्य का सम्बंध पूर्णतः मंडी जनपद से जुड़ा हुआ माना जाता है। प्रमुखतः इसका प्रचलन सुन्दरनगर और करसोग उपमण्डल तथा मंडी सदर उपमण्डल के बल्ह और रिवालसर क्षेत्रों में है। बांठड़ा के प्रचलन के बारे में जनश्रुति है कि मंडी-सुकेत राजवंश के पहले राजा वीरसेन की राजधानी पांगणा में थी। उनके राज्यकाल की एक घटना है। एक दिन राजा वीरसेन महल के प्रांगण में चहल-कदमी करते अनायास ही राज-रसोई के कक्ष की ओर चला गया। उसने देखा कि उसके बांठ (रसोईये) राजा के बज़ीर की आवाज़ में कुछ हास-परिहास कर रहे थे। बज़ीर एवं राजकर्मचारी प्रजा पर किस तरह दबदबा रखते हैं, रौब-दाब से और डरा-धमका कर अन्याय और शोषण करते हैं, उस हास-परिहास में यह स्पष्ट झलक मिल रही थी। न्यायप्रिय राजा राज कार्य की सुव्यवस्था के लिए सारी खामियों को जानना चाहता था, इसलिए वह इससे अत्यंत प्रभावित हुआ।

अगले दिन राजा ने अपने बांठों को दरबार में बुलाया। वहाँ उन्हें उस स्वाँग को करने के लिए कहा, जो उन्होंने पिछले दिन चहलकदमी के दौरान सुना-देखा था। बांठ पहले तो सहम गए, परन्तु जब राजा ने उन्हें निर्भय होकर स्वाँग करने को कहा तो उन्होंने मुक्तभाव से स्वाँग प्रदर्शित किया। स्वाँग में राज्य व्यवस्था में अन्याय की बात सामने आई तो राजा ने इसकी जाँच की और इससे यह निष्कर्ष सामने आया कि बज़ीर लोग प्रजा के साथ अन्याय करते हैं। राजा ने राज्य के सुसंचालन के लिए इस प्रदर्शन को बहुत उपयुक्त समझा। तब से राजा वीरसेन समय-समय पर बांठों के स्वाँग का खुले दरबार में मंचन करवाते थे जिसके परिणामस्वरूप राज-कर्मचारी 'भाण्डा-फोड़' के भय से प्रजा के लिए हितकारी नीतियाँ अपनाने लगे। मनोरंजक होने के कारण धीरे-धीरे इन स्वाँगों का प्रदर्शन मेले और त्योहारों के अवसर पर भी किया जाने लगा। कालक्रम के साथ इन स्वाँगों में

विविध प्रकार के मनोरंजन प्रधान संगीत एवं सम्वाद जुड़ते गए। यही अब एक व्यवस्थित लोकनाट्य के स्थायी अंग बन गए हैं।

वस्तुतः बांठ परम्परा से विकसित यह लोकनाट्य *बांठड़ा* नाम से प्रसिद्ध हुआ। बांठड़ा में हरिरंग, चंद्रावल़ी, साधु, चेला-चेली, मालिन, नाई, बुजुड़, मनमोहणी, किरडू देऊ, साह-साहणी, मेम-साहब आदि के रोचक दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं। सभी दृश्यों के पात्र विभिन्न प्रकार की विचित्र वेशभूषा पहनते हैं। इस नाट्य में अधिकांश पात्र लकड़ी, भेड़-बकरे की खाल या सूखे देसी घिये के मुखौटे पहनते हैं। दाढ़ी-मूंछों के लिए बकरे के बालों अथवा भांग के रेशों (शेल्ह) का प्रयोग किया जाता है। हरिरंग पात्र अन्य वेशभूषा के साथ धोती अवश्य पहनता है और इसी प्रकार चंद्रावल़ी प्रायः मंडी का पारम्परिक चोलू धारण करती है। लोकनाट्य में सभी नारी पात्रों की भूमिका पुरुष ही निभाते हैं।

बांठड़ा का शुभारम्भ खुले प्रांगण में 'हरिरंग' से किया जाता है। हरिरंग के दृश्य में कृष्ण रूप हरिरंग नाट्याभिनय करता है। इसके साथ चंद्रावल़ी भी प्रवेश करती है। हरिरंग के आगमन पर गीत गाया जाता है–

हरिरंग लागा साधो,
हरिरंग लागा...
जमना किनारे रास रचांदा मेरा कान्हड़ा,
रूसी रूसी जाँदा मेरा कान्हड़ा,
हरिरंग लागा...

बांठड़ा के विविध स्वाँगों में एक 'चेला-चेली' का स्वाँग है। इसमें रोचक व्यंग्य के साथ बीस टकों का हिसाब-किताब है। यथा–'तेरे बाल्ले बीह टके थे, तिन्हां रा स्हाब दे।' (तेरे पास बीस टके थे, उनका हिसाब दे।)

'दस! दस! स्हाब, दस! टके थे बीह।'

(बता! बता! हिसाब, बता! टके थे बीस।)

चेला : रस्ते मिली तेरी भैण। से बोली भैणै रे लाड़े भणोई जी। से बोली जी तां मैं बोल्या तू जुगा जुगा जी, होर एक टका तेस्स जो दित्ता।

(रास्ते में तेरी बहन मिली। वह बोली बहन के पति बहनाई जी। वह बोली जी, तो मैंने कहा तू युग-युग जीती रह और एक टका उसको दिया।)

चेली : टके रहे उन्नी।

(टके रहे उन्नीस।)

चेला : आगे मिली एक मुन्नी, टका तेस्सा जो दित्ता।

(आगे एक लड़की मिली, टका उसको दिया।)

तत्पश्चात् एक-एक टका कम होता जाता है और अन्त में जब चेली

कहती है 'टका रहेया एक' (टका रहा एक) तो चेला कहता है– 'ऐब्बे तू गुरु आगे माथा टेक, होर टका रख गुरु रे चरणा। तू अपणे भागा जो देख।' (अब तू गुरु के आगे माथा टेक और टका गुरु के चरणों में रख। तू अपने भाग्य को देख।)

बीस टकों की भांति ही चम्बा के 'हरणात्तर' लोकनाट्य में बीस भेड़ों के हिसाब का स्वाँग गद्दण और गद्दी के बीच होता है। यथा–

गद्दण : भेड़ा रा स्हाब दे, कुल भेड़ा थिये बीह।
(भेड़ों का हिसाब दे, कुल भेड़ें थीं बीस।)
गद्दी : खरा! कुल भेड़ा थिये बीह, अकी जो लई गेया सीह।
(अच्छा! कुल बीस भेड़ें थीं, एक को सिंह ले गया।)
गद्दण : भेड़ा रेही उन्नी।
(भेड़ें उन्नीस रहीं।)
गद्दी : अक खाई मैं भुन्नी।
(एक मैंने भूनकर खा ली।)
इसी क्रम से अन्त में–
गद्दण : भेड़ा रेही अक।
(भेड़ रही एक।)
गद्दी : तेस्सा-रा बड्डा मैं नक्क। कने मुक्की गेई भेड़ा बक्स।
(उसका मैंने नाक काट दिया और सारी भेड़ें समाप्त हो गईं।)

'हरणातर' तथा 'बांठड़ा' लोकनाट्य की तरह साह-साहणी, मेम-साहब, साधु आदि के अनेक स्वाँग परस्पर मिलते-जुलते हैं। मंडी और चम्बा जनपद पर्वत घाटियों से कटे हुए दूर-दूर के भू-भाग हैं, तथापि जो ऐसी समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उससे पर्वतीय लोकमानस का एकात्म रूप एवं सामाजिक मेल-मिलाप की सुदीर्घ परम्परा प्रतिबिम्बित होती है।

बुढड़ा

मंडी के जिन क्षेत्रों में *बांठड़ा* मंचित होता है, वहाँ लोकनाट्य *बुढड़ा* के प्रदर्शन की परम्परा भी चली आ रही है। कुछ लोगों के विचार में बुढड़ा नाट्य बांठड़ा के हरिरंग, चेला-चेली, साह-साहणी आदि स्वाँगों के बीच का एक स्वाँग है। बुढड़ा लोकनाट्य के बीच गाये जानेवाले एक गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस विचार को पुष्ट करती है–

चानणी ओची री पार चागा,
ग्वालू रा बांठड़ा भाईयो लागा।

अर्थात् पार ऊँचे पर्वत-शिखर पर चाँदनी का सौंदर्य छिटका हुआ है और इधर ग्वालों का 'बांठड़ा' लग पड़ा है।

बुढड़ा लोकनाट्य के अध्ययन से इन गीत-पंक्तियों की सार्थकता यहीं तक स्पष्ट होती है कि बुढड़ा के मंचन की परम्परा अवश्यमेव बांठड़ा की पृष्ठभूमि से प्रेरित होकर विकसित हुई है। जहाँ तक स्वाँगों में एक रूप होने का प्रश्न है, इसमें यह तथ्य सामने आता है कि 'बांठड़ा' के स्वाँग क्रम का भाग 'बुढड़ा' न तो आज है और न ही पहले कभी रहा है।

वास्तव में जिस काल में *बांठड़ा* का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, उस समय समाज में वर्ण व्यवस्था के नियम बड़े जटिल थे। बांठड़ा लोकनाट्य का मंचन जातीय लोगों द्वारा किया जाता था। असवर्ण लोग इसमें अभिनय नहीं कर सकते थे। बांठड़ा स्वाँग के दृश्यों को देखकर उनमें भी यह लालसा जगी कि वे भी कुछ इस प्रकार का नाट्याभिनय करें, जिससे वे अपनी नाटक की अभिलाषा पूरी कर सकें। इसी सोच के परिणामस्वरूप असवर्णों द्वारा अपने ही ढंग का बांठड़ा शुरू किया गया। आज जबकि वर्ण व्यवस्था शिथिल हो गई है। सवर्ण लोग भी 'बुढड़ा' का अभिनय करने लगे हैं, जबकि पहले *'बुढड़ा'* केवल असवर्ण ही खेला करते थे। वे गाँव में घर-घर जाकर प्रांगण में इसका प्रदर्शन करते थे। जिस काल में यह लोकनाट्य प्रारम्भ हुआ उन दिनों अधिकांशतः असवर्ण लोग गाँव के ग्वाले हुआ करते थे। अतः इस लोकनाट्य को *'ग्वालू रा बांठड़ा'* (ग्वालों का बांठड़ा) नाम दिया गया। परन्तु पराल घास का आवरण ओढ़े इसके मुख्य पात्र की शक्ल-सूरत बूढ़े व्यक्ति की तरह दिखाई दी तो लोगों ने व्यंग्य के रूप में इसे *'बुढड़ा'* कहना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे इस लोकनाट्य के लिए 'बुढड़ा' नाम ही व्यवहार में प्रसिद्ध हो गया और *'ग्वालू रा बांठड़ा'* यह नाम लोकगीत की पंक्तियों तक ही सीमित रह गया।

बुढड़ा लोकनाट्य की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पात्रों के बीच सीधा वार्तालाप नहीं होता। इसका पूरा अभिनय नृत्य, गायन और वादन पर आश्रित है। इस तरह यह नृत्यनाट्य है। बुढड़ा में सीधे सम्वाद-वार्तालाप का न होना भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को इंगित करता है। लोकनाट्यों के सम्वादों में व्यंग्य का पुट होना स्वाभाविक है। असवर्णों के व्यंग्य-बाण उस समय का आभिजात्य वर्ग कदापि सहन नहीं कर सकता था। इसलिए इसका पूरा प्रदर्शन संगीतमय ढंग से किया जाता है।

इस लोकनाट्य का प्रमुख पात्र 'बुढड़ा' कहलाता है, जिसका पूरा शरीर धान के पराल से आच्छादित रहता है। उसके सिर तथा दोनों हाथों के अग्र-भाग पर तीन-तीन लम्बे-लम्बे सींग जैसे बनाए जाते हैं। बुढड़ा के साथ दो पुरुष नारी वेश में होते हैं, जिन्हें 'चंद्रावळी' कहा जाता है। ये स्त्री रूपी पात्र घाघरू या चोलू तथा घुण्डू (दुपट्टा) पहने होते हैं और हार, बालू, बेसर, चॉक आदि नारी आभूषणों को भी पहनते हैं। भगवा वस्त्र में एक जोगी होता है। एक पात्र हाथ में डंडा लिए होता

है, जिसे डंडू कहते हैं। चिथड़े पहने हुए एक मसखरा (विदूषक) और एक ढीली-ढाली पर्वतीय पोशाक में 'पहाड़ी' नामक पात्र होता है।

इस नाट्य में नृत्याभिनय करता हुआ सबसे पहले बुढड़ा प्रांगण में प्रवेश करता है। उसके बाद क्रम से चंद्रावली, जोगी, डंडू, पहाड़ी आदि पात्र इसमें सम्मिलित होते हैं। इसका प्रदर्शन बुढड़ा मण्डली द्वारा आश्विन पूर्णिमा अर्थात् गौ-माला के दिन से कार्तिक पूर्णिमा यानी घोड़-माला के दिन तक घर-घर जाकर किया जाता है। बुढड़ा में प्रचलित गीतों की कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं, जिनमें स्पष्टतः व्यंग्य का पुट झलकता है–

नाचे ओ बुढड़ेआ खड़ा-खड़ा,
आधी रोटी पूरा बड़ा,
पाया हो बुढड़ेआ तेरे मड़ा।
आया हो सुहागणिये फुल्ले माले,
मरूआ पंजपतरा फुल्ले डाले,
जोगी मरदा सेले पाले,
सैहर सकेता जो जाईए,
रूं होर कपाह लयाईए,
जोगी जो ल्हेफा भराईए।
पहाड़ा रे देस्सा ले आया मेरा मामा,
बल्हा रे देस्सा जो जाणा रामा।

अर्थात् अरे बुढड़े तू खड़ा-खड़ा नाच! इससे तुम्हें आधी रोटी और पूरा बड़ा (माश का बना भल्ला) मिलेगा। हे बुढड़े! ये तेरे मृतक शरीर के काम आने चाहिए। हे सुहागिन! फूल माला के साथ आना। इस समय मरुआ नामक पाँच पत्तों वाला फूल डाली-डाली पर खिला है। यह जोगी ठंड से मर जाएगा। तुम सुकेत के शहर सुन्दरनगर में जाओ। वहाँ से कपास ले आओ तथा जोगी के लिए लिहाफ-रजाई तैयार करो। हे राम! यह क्या? पहाड़ देश का आदमी आया है, इसने बल्ह मैदानी देश में जाना है।

करयाला

लोक-नाट्य *करयाला* की मंचन भूमि मुख्यतः प्रदेश के शिमला, सोलन और सिरमौर ज़िले हैं। मंडी ज़िला के करसोग उपमण्डल में शिमला से लगते तत्तापाणी आदि क्षेत्र में भी करयाला का मंचन होता है। *करयाला* और *बांठड़ा* लोकनाट्य में पर्याप्त समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों में स्थान-भेद के कारण स्वरूप-भेद हुआ है, अन्यथा इनकी मूल धारा एक ही रही है। *करयाला* को कराला भी कहा जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भयावह अर्थ के वाचक संस्कृत

के कराल शब्द से संभावित है। इस लोकनाट्य में मुखौटे आदि पहनकर पात्र भयावह रूप भी बनाते हैं। इसीलिए इसे *कराला* या *करयाला* नाम से अभिहित किया गया है। *करयाला* में जोगी-जोगिन, पति-पत्नी, साहब-मेम तथा साधु आदि के अनेक स्वाँग किए जाते हैं। साधु के स्वाँगों में हास्य-व्यंग्य के साथ-साथ शास्त्र-ज्ञान का भी बोध करवाया जाता है। साधुओं की मण्डली में एक हास्य विशेषज्ञ 'मसखरा' नाम का पात्र होता है। मसखरा साधुओं से प्रश्न करता है और साधु उसका उत्तर देते हैं। यथा–

मसखरा : बाबा लोगों! एक प्रश्न पूछूँ।

साधु : हाँ! हाँ! बेटा! शौक से पूछो।

मसखरा : आर बी लंका पार बी लंका, बिचे धुआँधारी। राम लखन जब वन को गए थे, तब कहां थे तुम तपधारी?

पहला साधु : आर बी लंका, पार बी लंका, बिचे धुआँधारी। राम लखन जब वन में गए थे, यह थे तिन्हां साथी बगारी।

मसखरा : सच बोलो बाबा! मज़ाक न करो।

दूसरा साधु : सुनो बेटा! सच्ची बात मैं बतलाता हूँ–
आर बी लंका पार बी लंका, बिचे धुआँधारी। राम लखन जब वन में गए थे, हम थे उनके पुजारी।

मसखरा : बाबा बताओ! एक, दो और तीन क्या होता है?

पहला साधु : एक मैं हूँ, दो मैं और तू है तथा तीन मैं, तू और यह दूसरा साधु है।

मसखरा : बाबा मज़ाक नहीं! सच बताओ?

दूसरा साधु : बेटा! सच जो है वह सुनो। एक ओंकार है, दो चाँद और सूरज हैं तथा तीन लोक हैं।

भगत

कांगड़ा ज़िला से लगते मंडी के चौंतड़ा क्षेत्र में *भगत* लोकनाट्य की परम्परा प्रचलित है। भगत का प्रचलन कांगड़ा, चम्बा, ऊना और हमीरपुर ज़िलों में प्रमुख रूप से है। कहते हैं कि विगत समय में मथुरा, वृंदावन के रासधारिये इस क्षेत्र में आते रहते थे। वे घर-घर जाकर कृष्ण-भक्ति के गीत गाते थे और कृष्ण लीला का अभिनय भी करते थे। यहाँ के स्थानीय लोगों ने भी इस कृष्ण लीला अभिनय को ग्रहण किया और स्थानीय परिवेश में ढालकर यहाँ अभिनीत किया, जो 'भगत' लोक-नाट्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें कृष्ण, कृष्ण सखा मनसुखा और सखियाँ (गोपियाँ), राधा, रुक्मणी आदि पात्रों का अभिनय होता है। यद्यपि भगत का प्रमुख विषय कृष्ण-लीला पर केन्द्रित रहता है फिर भी इसके साथ भगत मण्डलियाँ भगवान् राम, राजा हरिश्चन्द्र, पूर्ण भगत आदि पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों का भी

प्रदर्शन करते हैं। कृष्ण-भक्ति गीतों का प्राधान्य तो इसमें रहता ही है, इसके साथ हास-परिहास पूर्ण सम्वाद भी भगत लोकनाट्य में लोक रुचि बनाये रखते हैं। जैसे कृष्ण और मनसुखा के कुछ संवाद–

कृष्ण : अै जी! मनसुखया!
(अरे! मनसुख!)
मनसुखा : की गलांदे महाराज! तेरा मन किहाँ दुखिया?
(क्या कहते हैं महाराज! तुम्हारा मन कैसे दुःखी है?)
कृष्ण : म्हारे मनसुख लाल जी!
(हमारे मनसुख लाल जी!)
मनसुखा : खरा! तेरे हन बुरे हाल जी!
(अच्छा! तेरे हन बुरे हाल जी!)
कृष्ण : हाँ! मेरी तबीयत ठीक नीं।
(हाँ! मेरी तबीयत ठीक नहीं।)
मनसुखा : हाँ महाराज! ठीक होई कदूँ?
(हाँ महाराज! ठीक हुई कब?)
कृष्ण : क्या?
मनसुखा : तुस्सा री नीत, होर क्या?
(तुम्हारी नीयत, और क्या?)

हरण

लोकनाट्य *हरण* का प्रमुख क्षेत्र ज़िला कुल्लू है। इस ज़िला से लगते सनोर, बदार, चौहार और बाली चौकी मंडी-सराज के क्षेत्र में भी यह लोकनाट्य प्रदर्शित किया जाता है। इस नाट्य की पृष्ठभूमि रामायण काल से सम्बंधित मानी जाती है। कहा जाता है कि जब हनुमान ने लंका में जाकर सीता की खोज आरम्भ की तो वह इतनी ही जानकारी पा सके कि उन्हें लंका नगरी में ही किसी स्थान पर रखा गया है। उस स्थान का पता वह नहीं पा सके। वे वापिस राम के शिविर में आ लौटे। तब वहाँ सीता का पता लगाने की योजना बनाई गई। हनुमान अपने कुछ साथियों को लेकर राक्षसी वेश धारणकर लंका में राजा रावण के पास उपस्थित हुए। उन्होंने रावण को याद दिलाया कि मारीच राक्षस ने सोने का हरिण बनकर आपके लिए अपनी जान दी है। इसलिए महाराज की आज्ञा हो तो हरिण के रूप में मारीच की सेवा को अमर बनाने के लिए वे लंका नगरी में हरिण नाटक खेलना चाहते हैं। यह सुनकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने घोषणा की कि लंका राज्य के घर-घर में हरिण नाटक का प्रदर्शन करवाया जाए। तब हनुमान दल ने रात्रि के समय लंका के घर-घर जाकर हरिण नाटक का प्रदर्शन प्रारम्भ किया।

हरिण को लोक भाषा में *हरण* या हिरण कहते हैं। दो व्यक्ति ऐसी मुद्रा में अर्द्ध झुकाव लेते हैं कि दोनों के मिलने से एक चौपाया बन जाता है। उनके ऊपर चितकबरा पट्टू ओढ़ाया जाता है। आगे भाँग की लकड़ी को सजाकर दो सींग लगाए जाते हैं। बीचों-बीच सिर से पीछे की ओर एक सफेद पटका रखा जाता है। यही आकृति *हरण* कहलाती है। हिमाचल के ज़िला किन्नौर में 'होरिङ्फो' और चम्बा में *'हरणात्तर'* लोकनाट्य में भी लगभग इस आकृति का हरिण बनाया जाता है।

मंडी तथा कुल्लू में *हरण* के साथ कुछ विदूषकीय पात्र होते हैं, जिन्हें डंठी कहा जाता है। जब किसी घर के प्रांगण में *'हरण'* का नृत्य चल रहा होता है, उस समय डंठी आगे-पीछे घूमता-फिरता रहता है। लंका नगरी में भी ये इसी प्रकार कोने-कोने में छान-बीन करके सीता का पता लगाने का प्रयास करते थे। जब निश्चित हो जाता कि सीता यहाँ नहीं है तो वे 'हो' की ऊँची आवाज़ करते थे। हरण का नृत्य बंद हो जाता था। तत्पश्चात् कुछ देर हास-परिहास में संवाद के बाद वे अगले घर की ओर प्रस्थान करते थे। इस तरह खोज-बीन करते हुए एक रात उन्हें अशोक-वाटिका में सीता के होने का पता चल गया, उसके बाद हरण का प्रदर्शन बंद कर दिया गया।

कुल्लू में आज भी विजयदशमी से पन्द्रह पौष तक और कहीं-कहीं बसंत पंचमी तक 'हरण' का प्रदर्शन अनेक टोलियों द्वारा गाँव-गाँव तथा घर-घर जाकर किया जाता है। मंडी में अधिकांशतः इसका प्रदर्शन शरद् नवरात्र अथवा देवी-देवताओं के शरद्कालीन पर्वों के अवसर पर किया जाता है। इसमें नृत्य एवं संगीत तो चलता ही है, इसके अतिरिक्त जो स्वाँग-संवाद किए जाते हैं, उनमें हास-परिहास के साथ-साथ बौद्धिक प्रश्नोत्तरी भी चलती है। जैसे एक स्वाँग में एक व्यक्ति डंठी से प्रश्न करता है–

व्यक्ति : जदी तेरा बाब हुआ, तदी कौ थी तू?

(जिस दिन तेरे बाप ने जन्म लिया, उस दिन तू कहाँ था?)

इस प्रश्न के उत्तर में एक डंठी हँसी-मज़ाक में मनघडंत उत्तर देता रहता है। अंत में दूसरा डंठी उसको झाड़ डालते हुए सटीक उत्तर देता है–

दूसरा डंठी : मड़ेया! तदी थी तू तेरे बाबे रै मौत्थै न।

(अरे बुद्धू! उस समय था तू तेरे बाप के मस्तक अर्थात् भाग्य में।)

हरण नाट्य कुछ भिन्न स्वरूप में मंडी जनपद के चौंतड़ा क्षेत्र में भी लोहड़ी की रात को प्रदर्शित किया जाता है। इसमें दो-तीन व्यक्ति जानवर की खाल ओढ़ कर मुँह पर मुखौटे और सिर पर लकड़ी के सींग लगाकर हिरण बनते हैं। इनके साथ चंद्रावली तथा मनसुखा पात्र भी होते हैं। चंद्रावली का नृत्य और मनसुखा का

हँसी-मज़ाक भगत लोकनाट्य की तरह चलता है। इसके अतिरिक्त इसमें साधु, मदारी, ओझा आदि के स्वाँग भी किए जाते हैं।

मडयाल़ा

धर्म-अधर्म, सज्जन और दुर्जन का संघर्ष समाज में युगों से चला आ रहा है। सत्युग में जहाँ भक्त प्रह्लाद, त्रेता में भगवान राम और द्वापर में श्रीकृष्ण धर्म का प्रतिनिधित्व करते थे, वहीं हिरण्यकश्यप, रावण एवं कंस आदि पुरुष दुष्टता के प्रतीक थे।

समाज में दानवी प्रवृत्ति का एक वर्ग *डाकिनियों* का रहा है। ये न केवल जन-साधारण का अनिष्ट करती हैं, बल्कि समय-समय पर देवी-देवताओं को भी तंग करती हैं। कहा जाता है कि एक बार डाकिनियों ने सराज घाटी में बहुत आतंक फैला दिया था। क्षेत्रीय देवी-देवता इनकी दुष्टता का सामना करने में असमर्थ होने लगे। अन्ततः वे भगवान् शिव के पास पहुँचे। उन्होंने आने का कारण पूछा तो देवताओं ने अपनी व्यथा सुनाई। शिव ने अपने भूत-प्रेतों की सेना को यहाँ भेजा और अश्लीलता का पुट लिए हुए ऐसा नाटक खेला कि डाकिनियाँ देवी-देवता तथा समाज के सामने नहीं आ सकीं। सारा क्षेत्र निर्भय हो गया और सर्वत्र शिव के नाम का स्तुतिगान होने लगा। सारे क्षेत्र में शिव का साम्राज्य स्थापित हो गया। यही शिव-राज्य कालांतर में सराज (शिवराज) नाम से विख्यात हुआ है, जिसके अंतर्गत आजकल मंडी जनपद का सराज विकास खण्ड तथा कुल्लू का बंजार, आनी और निरमण्ड क्षेत्र सम्मिलित हैं। इन क्षेत्रों में फाल्गुन मास के देवोत्सव पर उक्त दानवी शक्ति के दमन की स्मृति में '*मडयाल़ा*' लोकनाट्य का प्रदर्शन किया जाता है।

मडयाल़ा लोकनाट्य में कुछ पुरुष अपने चेहरे पर लकड़ी के मडयाल़े (मुखौटे) धारण करके भूत-प्रेतों एवं दानवों की आकृति बनाते हैं। शरीर पर शरूली नामक घास से बने चोलू या फटे-पुराने चिथड़े धारण करते हैं और भयानक दानवी रूप बनाकर वाद्य संगीत की ताल पर नृत्य करते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार का अश्लील अभिनय भी करते हैं। इसलिए जन-विश्वास हैं कि आज भी अदृश्य अनिष्टकारी शक्तियों के शमन के लिए यह प्रदर्शन अनिवार्य है और इस प्रदर्शन से क्षेत्र में वर्ष-भर सुख-समृद्धि का साम्राज्य बना रहता है।

कुल्लू के लोकनाट्य एवं लोकानुरंजन

मौलूराम ठाकुर

कुल्लू के लोग मूल रूप से कृषक हैं। वर्ष में जब खेतों-खलिहानों में काम होता है, तब वे और तो और चूल्हा जलाने, बर्तन साफ करने और भोजन बनाने में भी समय नष्ट करना पसंद नहीं करते। कहावत है–

आऊ महीना शाढ़,
चार मठिंगले सत्तू रे मार,
कोर्म कमोणा ध्याड़।

अर्थात् 'आषाढ़ का महीना आया है, चार बड़े पेड़े सत्तू के खा और सारे दिन काम कर।' परन्तु कुल्लू के लोग जहाँ मेहनती और परिश्रमी हैं वहाँ कला-प्रेमी और विनोद-प्रिय भी हैं। सर्दी आरम्भ होते ही जब वे खेती-बाड़ी के काम से प्रायः मुक्त हो जाते हैं तो जीवन में रस लाने के लिए अनेक मनोरंजन जुटाते हैं। ऐसे मनोरंजक साधनों में लोकनाट्य प्रमुख हैं।

कुल्लू में लोकनाट्य की परम्परा बड़ी समृद्ध तथा विशिष्ट है। यह एक विशेष मर्यादा में बंधी हुई परम्परा है। अंतर्राष्ट्रीय दशहरा उत्सव के अंतिम दिन की पूर्व संध्या पर, जिसे मुहल्ला की रात्रि कहा जाता है, महादेव की हेसण (हेसी जाति की स्त्री, जिनका काम मंदिरों और उत्सवों में गीत-संगीत तथा गाने-बजाने का होता है) ढालपुर मैदान में दशहरा के लिए अस्थायी रूप से स्थापित रघुनाथजी की मूर्ति के सामने विशेष नृत्य और अभिनय प्रस्तुत करके 'हरण' लोकनाट्य का शुभारम्भ करती है। यह आश्विन पूर्णमासी से पूर्व की रात्रि होती है। उस दिन से लेकर पन्द्रह पौष तक हरण लोकनाट्य गाँव-गाँव में खेला जाता है। *पोशे-री-पंद्रह* (पौष के 15 प्रविष्टे) की पूर्व संध्या पर एक विशेष स्वाँग में मुख्य स्वाँगी नाचते हुए हरण के सींग तोड़ देता है और उसी के साथ यह लोकनाट्य समाप्त हो जाता है। भांग के डंठलों से बनाए और विशेष रूप से सजाए हरण के सींगों की उससे पूर्व पूर्ण सुरक्षा की

जाती है। उनका बीच में टूटना अपशकुन और अशुभ माना जाता है। *पोशे-री-पंद्रह* से लेकर आगामी दशहरा के मुहल्ला की रात्रि तक न हरण लोकनाट्य का गीत गाया जाता है, न संगीत बजाया जाता है, न हरण नचाई जाती है, न कोई स्वाँग किया जाता है। ऐसा करना अशुभ और अपशकुन माना जाता है।

हरण लोक-नाट्य खेलकर इकट्ठे किए अन्न और धन से *पोशे-री-पंद्रह* को दिन के समय एक बड़े प्रीति-भोज का प्रबंध किया जाता है। सारे दिन की मौज-मस्ती के बाद उसी रात अश्लील लोकनाट्य का शुभारम्भ किया जाता है। दिन भर के राग-रंग के बाद गाँव के साँझे प्राँगण में सभी लोग इकट्ठे होते हैं। बाजे-गाजे के साथ पूरे गाँव की परिक्रमा की जाती है और वापिस आकर 'घियाना' जलाया जाता है और अश्लील लोकनाट्य प्रस्तुत किए जाते हैं। ये नाट्य माघ महीने के अंतिम दिन तक जिसे *तरायण* (उत्तरायण) साजे के रूप में मनाया जाता है, खेले जाते हैं। उस रात नाट्य के अंश के साथ 15 पौष को जलाए गए घियाने को बुझा दिया जाता है। उसके बाद आगामी वर्ष के 15 पौष तक उन अश्लील नाट्यों को भूलकर भी नहीं खेला जाता। दूसरे दिन अर्थात् प्रथम फाल्गुन से देव-नाट्य तथा अन्य नाट्य आरम्भ हो जाते हैं, जो बैशाखी तक प्रदर्शित होते हैं, परन्तु छुटपुट रूप से कभी-कभार बाद के दिनों में भी प्रस्तुत होते रहते हैं।

कुल्लू के लोकनाट्य का मूलाधार यहाँ की देव-प्रथा है। यहाँ के देव-पूजन में जो पद्धति अपनाई जाती है, वह आदि से अंत तक कलात्मक तथा नाट्यात्मक है। यहाँ के देवताओं के रथ काष्ठकला और मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और जिस तरह से उन्हें सिर पर या कंधों पर उठाकर नचाया जाता है, उसमें नाट्य-अभिनय के अद्‌भुत प्रदर्शन देखने को मिलते हैं। देवता का प्रसन्न होना, रूठना, क्रोध व्यक्त करना, खुशी जताना अपने-आप में नाट्यकला के चित्रण हैं। देव-गाथा तथा देव-पूजन के गीत, संगीत, वार्ता, सम्भाषण और भिन्न मुद्राओं ने ही वस्तुतः यहाँ के लोकनाट्यों को जन्म दिया है।

कुल्लू में लोकनाट्य की यह परम्परा दो-चार सौ वर्ष पुरानी नहीं है। देवी-देवता कुल्लुई समाज के अभिन्न अंग हैं। अतः जितना पुराना यहाँ का समाज है, उतनी ही पुरानी यहाँ की देव-प्रथा है और उतनी ही प्राचीन यहाँ की नाट्य परम्परा। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम तक पहुँची है। इस परम्परा में लोक-मानस बोलता है। कुल्लुई लोकनाट्य की एक अन्य विशिष्टता इस तथ्य पर आधारित है कि यहाँ के लोकनाट्यों का प्रयोजन मात्र मनोरंजन नहीं है। ये लोकनाट्य उपदेशात्मक और नीतिपरक हैं। कुल्लुई समाज को धर्मनिष्ठ तथा नीति कुशल बनाने में यहाँ की नाट्य-परम्परा ने प्रमुख भूमिका निभाई है।

यह भी आश्चर्य की बात है कि इतने लम्बे समय की उथल-पुथल के

बावजूद कुल्लुई लोकनाट्य की शैली और स्वरूप ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। भले ही हरण के स्वाँगों में वृद्धि हुई है, उसके कुछ नृत्य भूले जा चुके हैं, परन्तु जहाँ तक उसकी मूल प्रकृति का सम्बंध है, वह अब भी सुरक्षित है। हरण में कांत और बूढ़ी के अलावा कुछ स्वाँगी भी होते हैं। आज भी यह नाट्य प्राचीन समय में निर्धारित तिथि से एक दिन पहले या बाद में प्रस्तुत नहीं होता। इसी तरह देऊ-खेल का अभिनय गूर के अलावा और कोई पात्र नहीं कर सकता। अश्लील नाट्य यदि परम्परा से गाँव के साँझे प्रांगण में होता रहा है तो वह वहीं होगा या उसी गाँव की सीमा के साथ-साथ खेला जाएगा। इस प्रकार कुल्लुई नाट्य परम्परा ने अपनी मर्यादा को सदा सुरक्षित रखा है।

नाट्य या नाटक को यहाँ 'खेल' कहते हैं जैसे *देऊ-खेल, नड़-खेल, हरण-खेल* आदि। यहाँ 'खेल' शब्द अंग्रेज़ी भाषा के शब्द 'प्ले' का पर्यायवाची है। शैली और स्वरूप की दृष्टि से यहाँ के लोकनाट्यों को निम्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

1. अभिनय-प्रधान : हरण, बांठड़ा, निरशू।
2. कथा-प्रधान : रामलीला, रासलीला।
3. देव-नाट्य : देऊ-खेल, कणाश, शरानी।
4. अश्लील-नाट्य : राखस खेल, गिहणा, झिहरू, बांढू, गनेड़।
5. स्वाँग : पुहाल गद्दियों का स्वाँग, शौयरी स्वाँग।
6. मुखौटा-नाट्य : फागली।

अभिनय-प्रधान लोकनाट्य

यों तो बिना अभिनय के कोई लोकनाट्य सम्भव नहीं है। अभिनय तो लोकनाट्य की आत्मा है। परन्तु अभिनय-प्रधान नाट्य में प्रधानता अभिनय की रहती है। इनमें एक कथानक न रहकर छोटे-छोटे अनेक कथानक रहते हैं, जो क्रमशः प्रस्तुत होते हैं। उनके अंतराल में लोक-नृत्यों की प्रस्तुति होती है। कुछ नृत्य तो विशेष रूप से लोकनाट्य के ही अंग होते हैं, जैसे हरण लोकनाट्य के नृत्य। अभिनय-प्रधान लोक-नाट्यों में हरण का विशेष महत्त्व है।

हरण

हरण शब्द संस्कृत 'हरिण' का तद्भव रूप है। कुछ क्षेत्रों में इसका उच्चारण 'हौर्न' भी है। इस लोकनाट्य में मुख्य पात्र हरिण पशु का अभिनय होता है। इसीलिए इसका नाम 'हरण' प्रसिद्ध है। इस लोकनाट्य के दो पक्ष हैं–नृत्य पक्ष और स्वाँग-अभिनय पक्ष। दोनों का एक-दूसरे के साथ अटूट सम्बंध है। एक पक्ष के बिना दूसरा पक्ष अधूरा है। इनका सम्बंध दो आँखों से भी गहरा है। एक नेत्र न होने पर दूसरे नेत्र से आदमी देख सकता है। परन्तु हरण नृत्य के बिना यह स्वाँग

नहीं हो सकता और स्वाँग-अभिनय प्रस्तुत किए बिना हरण नृत्य नहीं हो सकता।

हरण नाट्य का नृत्य अन्य लोकनाच से भिन्न है। ढोल, नगारा, दराघ (बड़ा ढोल जिसे केवल एक तरफ से बजाया जाता है और नगारे के सहयोग के बिना यह अकेला नहीं बजता) काहल (करनाल), नरसिंघा (रणसिंहा), शहनाई, बाँसुरी, गलगोजा और भाणा इसके वाद्ययंत्र हैं। खेल का आरम्भ काहल और नरसिंघा बजाने से होता है। इनके बजते ही सबसे पहले हरण खेला जाता है। हरण लोकनाट्य के मुख्य चार पात्र होते हैं—हरण, कांत, बूढ़ी और स्वाँगी। स्वाँगी पाँच-छह के लगभग होते हैं और केवल स्वाँग-अभिनय से इनका सम्बंध है। हरण, कान्ह और बूढ़ी, नृत्य-पक्ष से सम्बंध रखते हैं।

हरण का एक विशिष्ट परिधान होता है। इसके लिए बारीक ऊन के काते समान लम्बाई-चौड़ाई के दो चितकबरे हल्के पट्टू (कम्बल) लिए जाते हैं, जिनमें श्वेत और काले रंग की डब्बियाँ होती हैं। उन्हें एक तरफ से लम्बाई की ओर और दूसरी तरफ से चौड़ाई की ओर सिलाया जाता है। सिले हुए भाग को एक आदमी की पीठ के पीछे फेंककर खुले दोनों सिरों को टाँग तक लटका देते हैं। भाँग की लकड़ी के दो टुकड़े लेकर सींग बनाए जाते हैं, जिन्हें बाहर से कपड़ों और फूलों से सजाया जाता है। तब सिले हुए पट्टू के सिरे के साथ इन दोनों सींगों को उस आदमी के सिर पर बारीक दुपट्टे से बाँध देते हैं। वह आदमी तब अगली हरण कहलाता है। नाचने से पूर्व वह अपने शरीर को काफी आगे झुका देता है। तब उसके पीछे एक-दूसरा आदमी डाला जाता है। वह अगली हरण के नितम्ब पर अपना सिर टिकाकर स्वयं भी आगे को झुक जाता है। पिछला हरण अगले हरण की पीठ पर दोनों हाथ फैला देता है ताकि हरण का पूरा शरीर लगे। इसे पिछली हरण कहते हैं। उन दोनों की पीठ पर सींगों से लेकर पीछे तक दुपट्टा, जिसे स्थानीय भाषा में पट्टकू कहते हैं, लटकाया जाता है। हरण के दोनों व्यक्तियों की पीठ पर से गुज़रता यह दुपट्टा जब शरीर से बाहर पीछे की ओर लटकता है तो वह पूँछ बन जाती है। इस तरह यह पूर्ण हरण बनती है, जो देखने में असल हरिण लगता है।

हरण नृत्य का दूसरा पात्र काह्न कहलाता है। यह करियाला का डांगरा काह्न नहीं है, न चंद्रावळी का काह्न है, वह काह्न वस्तुतः कृष्ण-कन्हैया ही है। वह हरण और बूढ़ी के साथ नाचने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं करता। मुँह से कुछ नहीं बोलता। न बूढ़ी नाचने के सिवाय कुछ और अभिनय करती है। काह्न का लिबास ठीक वही होता है जो स्थानीय सामान्य नाच में पुरुष का होता है। सिर पर टोपा पहना जाता है, जिसमें सोने या चाँदी की झालरें और मनाल (मोनाल) पक्षी की सुन्दर और चमकती कलगी सजी होती है। शरीर पर श्वेत रंग का ऊनी चोला और उसी रंग का तंग चूड़ीदार पाजामा पहना जाता है। दायें कंधे से बायीं कमर को सुनहरी दुपट्टा बाँधा

होता है। पैर में स्थानीय घास के पूले या आजकल बूट भी पहने जाते हैं।

हरण का तीसरा पात्र बूढ़ी असल में बुढ़िया नहीं होती। इसके चयन में विशेष ध्यान रखा जाता है, क्योंकि नृत्य प्रस्तुति का दर्शकों पर पड़नेवाला प्रभाव इसी पर निर्भर करता है। यह पुरुष पात्र होता है, जिसे स्त्री की पोशाक पहनाई जाती है। सिर पर थिपू (रुमाल), शरीर पर फूलदार श्वेत पट्टू, सलवार या चूड़ीदार पाजामा, आभूषण आदि पहनाये जाते हैं। यह लड़का देखने में सुन्दर और नाचने में कुशल होना चाहिए।

हरण के लगभग बारह से अधिक विशिष्ट नृत्य हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के गीतों के साथ अलग-अलग शैली में नाचे जाते हैं। परन्तु अधिकांश नृत्य अब लुप्त होते जा रहे हैं। आज इस वैज्ञानिक युग में लोक-कलाएँ प्रायः नष्ट हो रही हैं। फिर भी हरण के लिए छह नृत्य आवश्यक हैं। ये हैं– *साई-बधाई, सूने-रा बाधणू, चंद्रावळी, देवा-री-खोली, दुध-कटोरू और हरण पाहुणी आई।* इनमें एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हुए नाचे जानेवाले सामान्य नाटी-नृत्य शामिल नहीं हैं। मार्ग में साधारण नृत्य चलते हैं। ये नृत्य सामान्य नाटी के अंश होते हैं। इनका हरण-नृत्य के साथ विशेष सम्बंध नहीं होता। हाँ, हरण खेल को यह अधिक मनोरंजक अवश्य बनाते हैं।

हरण का नृत्य प्रायः *साई-बधाई* से आरम्भ होता है। यह लास्य नृत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें संगीत धीमी गति का होता है। हरण केवल एक जगह नाचती है। आगे-पीछे, इसकी हरकतें रहती हैं। बूढ़ी हरण के सिर से पूँछ की ओर और काह्न पूँछ से सिर की ओर धीमी गति से नाचते हैं। एक हाथ हरण की पीठ पर और दूसरा कमर पर होता है। बीच में पहुँचकर दोनों हाथ मिलाते हैं। फिर दोनों दूसरा हाथ हरण पर फेरते हुए चलते हैं और पहला हाथ कमर पर होता है। *सूने-रा बाधणू* नाच में हरण दो कदम दायीं ओर चलकर दो कदम पीछे की ओर चलती है। दूसरी बार दो कदम बायीं ओर चलकर पुनः कदम पीछे हटाती है। काह्न और बूढ़ी में से एक हरण के सिर के सामने और दूसरा पूँछ के पीछे नाचता है। काह्न प्रायः कमर में बाँधे दुपट्टे के दोनों सिरों को दोनों हाथों में लेकर नाचता है और बूढ़ी के एक हाथ में रूमाल होता है और दूसरा हाथ खाली हवा में नाचता है। समय-समय पर दोनों नाचते हुए अपना स्थान बदलते रहते हैं।

चंद्रावळी नृत्य पहले दोनों नृत्यों अर्थात् *साई-बधाई* और *सूने-रा बाधणू* का प्रायः संयुक्त रूप है। इन तीनों में संगीत और गीत भिन्न-भिन्न होते हैं। इन तीनों नृत्यों में काह्न और बूढ़ी हरण को बहुत देर तक अकेला नहीं छोड़ते।

देवा-री-खोली, दुध-कटोरू और *हरण पाहुणी आई* तीनों नृत्य तेज़ गति के हैं। इनमें गति क्रमशः तेज़ होती जाती है। देवा-री-खोली में काह्न और बूढ़ी हरण को छोड़कर कभी उसकी दायीं ओर तथा कभी बायीं ओर हाथ में हाथ डालकर नाचते हैं तथा स्थान बदलते रहते हैं। हरण नीचे बैठकर घुटनों के बल नाचती है तो काह्न

और बूढ़ी भी नीचे बैठकर पंजों पर नाचते हैं। हरण नाचती हुई लगभग एक मीटर के वृत्त में घूमती है। *दुध-कटोरू* और *हरण-पाहुणी आई* तलवार नृत्य हैं। काहून और बूढ़ी एक हाथ में तलवार और दूसरे में मयान लेकर नाचते हैं।

उक्त छह नृत्य, छह विशिष्ट लोकगीतों पर नाचे जाते हैं। इन छह गीतों की विशिष्टता यह है कि ये केवल हरण के साथ ही गाये जाते हैं। किसी अन्य समय इनका गाया जाना अनिष्टकारी समझा जाता है। इन छह लोकगीतों की प्रथम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

साई-बधाई लोका साई-बधाई,
हौर्न आई खोली हौर्न आई।

सूने-रा बाधणू भाइयो, रूपे री नौदी,
औजके बीछड़े भाइयो, मिंलले कौधी।

कान्ह बी नौचू, बूढ़ी बी नौची
हौर्न नौची म्हारी,
जोथ जनण दे पियाशा,
रात भियाणा सारी।

नौचे़-नौचे़ हौरणीए देऊआ री खोल़ी,
सूसी रा सूथणू, छ़ोटे री चोल़ी।

नौच़ भलीए हौरणीए दूधे भौरू कटोरू,
भाई चारला भेड़ा बौकरी, भाभी च़ारली गोरू।

हौर्न पाहुणी आई सालीए हौर्न पाहुणी आई
बाहर निकल मेरी साल़ीए, हौर्न पाहुणी आई।

स्वाँग-अभिनय पक्ष

स्वाँग हरण का दूसरा पक्ष है। जब खलिहान में हरण, बूढ़ी और काहून नाच रहे होते हैं, तब स्वाँगी कुछ दूर स्वाँग तैयार करते हैं। लगभग दस मिनट नाच के बाद स्वाँगी ज़ोर से हू-हू की आवाज़ निकालते प्रवेश करते हैं। तभी संगीत, वाद्य, गायन बंद होता है। हरण खड़ी होती है। पीली हरण पट्टू से बाहर आ जाती है और काहून व बूढ़ी सभी किनारे पर खामोश बैठ जाते हैं। फिर स्वाँग आरम्भ होता है। यह अपने आप में एक सम्पूर्ण एकांकी है। परन्तु इसके न तो विषय पूर्व निर्धारित

होते हैं न ही पात्रों के संवाद रटे-रटाए होते हैं। यह स्वाँगियों की योग्यता तथा कुशलता पर निर्भर करता है कि अवसर-विशेष पर कौन विषय लिया जाए और उसे कैसे प्रस्तुत किया जाए।

हरण की सफलता का उत्तरदायित्व बहुत हद तक इन स्वाँगियों पर भी है। उनका यह गुण हर्ष और प्रशंसा की कसौटी पर देखा-परखा जाता है। ये लोग प्रकृति से ही बड़े हँस-मुख, उच्चकोटि के गायक, नर्तक, व्यंग्यकार और विनोदी होने के साथ-साथ बढ़िया आशुकवि तथा परिहासपटु होते हैं। अपनी हाज़िरजवाबी और वाक्-पटुता के कारण वे तत्काल मौके पर ही स्वाँग बाँधते हैं और मज़ाल है कि उनकी ज़बान कहीं लड़खड़ा जाए। किसी की हू-ब-हू नकल उतारने में स्वाँगी बड़े चतुर होते हैं। चार-ढाल, रहन-सहन, तौर-तरीके, बातचीत, हाव-भाव की ऐसी नकल उतारते हैं कि उस जाति या व्यक्ति विशेष का सारा व्यक्तित्व आईने में डूबता-इतराता नज़र आता है। स्वाँग करते हुए वे मुँह पर लकड़ी या मिट्टी के बनाए मुखौटे पहनते हैं और अवसरानुकूल वस्त्र धारण करते हैं।

स्वाँग का विषय कुछ भी हो सकता है। सामान्यतः ये स्वाँग समसामयिक सामाजिक समस्याओं पर ही आधारित होते हैं। समस्याओं के समाधान भी इनमें ही प्रस्तुत रहते हैं। इलाके में चोरी, दगाबाज़ी, धोखाधड़ी की कोई घटना हुई हो तो उसे लेकर स्वाँग द्वारा उसकी खूब खिल्ली उड़ाई जाती है। बिना नाम दर्शाये ही पूरा चित्रण प्रस्तुत होता है। मज़ाक में सबकुछ सामने आ जाता है। स्वाँग जहाँ स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करता है, वहाँ यह सुधारात्मक साधन भी है। यही नहीं, समसामयिक विषयों में गाँव की समस्या और उसके प्रति सरकार, पंचायत या किसी अन्य संस्था की उदासीनता को लेकर ऐसा स्वाँग तैयार किया जाता है कि उसका प्रभाव आवेदन-पत्रों तथा प्रतिनिधि-ज्ञापनों से भी अधिक देखने में आता है। इस प्रकार सामाजिक बुराइयों पर हरण का स्वाँग कड़ा प्रतिरोध रखता है।

हरण के स्वाँगी छोटे-छोटे प्रहसनों के माध्यम से लोकपरक अनुभूति और स्वस्थ मनोरंजन प्रदर्शित करते हैं। समाज में प्रचलित अनेक बुराइयों और समस्याओं को एक ही प्रहसन में इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि उनका सही रूप और समाधान सामने आ जाता है। इस समाज में बहुपत्नी प्रथा तो सामान्य रूप से प्रचलित रही है। जहाँ खेती के श्रम के लिए अधिक पत्नियाँ सहायक रही हैं, वहाँ दूसरी ओर उनसे पारिवारिक झगड़े भी खूब पनपे हैं। ऐसे दृश्यों का हरण के स्वाँगों में खूब उल्लेख हुआ है। सरकार की अधूरी योजनाओं पर खुलकर कटाक्ष हुआ है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

मोटे तौर पर हरण का बाह्य रूप-विस्तार मनोरंज़न का आकर्षक साधन लगता है। मूलतः यह मनोरंजन के अलावा पहाड़ी संस्कृति तथा इतिहास की किसी

प्राचीन घटना की कड़ियों को संजोये हुए है। हरण लोकनाट्य का स्वरूप अवश्य ही किन्हीं धार्मिक मान्यताओं से सम्बंधित रहा है। यह बात हरण के मुख्य पात्र *काह्न* से भी पुष्ट हो जाती है।

हरण के चंद्रावल़ी गीत और कुल्लू में प्रचलित लोकगाथा के अनुसार रुक्मिणि और चंद्रावल़ी दो बहिनें थीं। कृष्ण रुक्मिणी को ब्याहकर घर लाते हैं। जब कृष्ण उसके सौंदर्य की प्रशंसा करने लगे तो रुक्मिणी ने कहा, 'मुझसे भी सुन्दर तो मेरी बहिन चंद्रावल़ी है। उसके सामने सूर्य भी धूमिल हो जाता है और स्वर्ग की अप्सराएँ भी उसके आगे पानी भरती हैं।' यह सुनकर कृष्ण चंद्रावल़ी को देखे बिना ही उस पर मोहित हो गए। उसे पाने के लिए उन्होंने कई रूप धारण किए। वे भौंरा बनकर गए। चंद्रावल़ी डर गई। कहने लगी, भौंरे, तू मुझे डंक मारकर कुरूप करना चाहता है। वह दौड़कर एक कोठड़ी में छिप गई। भौंरा मंडराता रहा और असफल होकर वापिस लौटा। तब कृष्ण ने छेउड़ी (सुन्दर युवती) का रूप धारण किया। सिर पर चादर ओढ़ी। कानों में मुंदरी (बालियाँ), पैरों में पुल़ें (भांग के रेशे की जूतियाँ), अंगुली में, सनांगण (सोने के कंगन) की जोड़ियाँ पहनीं। छाती पर पवन-कटोरियाँ लगाईं–

काह्न कीया छेउड़ी रा रूपा, पार धारे नोखी छेउड़ी आई।
काने लाई मुँदरी जोड़ी, पैरे लाई पोलड़ जोड़ी।
गूठी लाई सनांगण जोड़ी, दूधू लाई पौंण कटोरी।
कुणी कीया छेउड़ी रूपा, गवालटू पूजा गुगल धूपा।

ग्वालों ने गोकुल में आई ऐसी सुन्दर स्त्री का गुग्गल धूप से पूजा करके खूब स्वागत किया। परन्तु शीघ्र ही भेद खुल गया। तब क्या था? ग्वालों ने ऐसी पिटाई की कि कृष्ण को जान बचाकर भागना पड़ा।

तब कृष्ण ने अपनी समस्या बलराम को बताई। बलराम ने समाधान बताया, 'तुम हरिण बनो, मैं काह्न बनूँगा और चंद्रावल़ी से कहूँगा कि हरिण को शरण दो। काम बन जाएगा।' गोकुल में बलराम गाने लगा–

हरण पहुणी आई सालीए, हरण पाहुणी आई।
बाहर निकल मेरी सालीए, हरण पाहुणी आई।
चीतरे चाधरू आई भौंरीया, दूरा पार-न आई।
छेके नौचे हरणीए, रात आई भियाई।
किरकिटी तेरी बेहणी, रामशौर तेरा भाई।
हरण पाहुणी मेरी सालीए, साई दे बधाई।

हे साली! हरिण पाहुणी (अतिथि) आई है, बाहर निकल आ। तब चंद्रावल़ी ने पूछा, 'कैसा हरिण है?' उत्तर मिला, 'यह साधारण हरिण नहीं है। यह तो विशिष्ट हरिण है। किरकिटी (कृतिका तारा) इसकी बहिन है। रामशौर (रामशर नाम का

तारा) इसका भाई है।' यह सुनकर चंद्रावली घर से बाहर निकली और ज्यों-ही उसने नाचते हुए हरिण को देखा तो देखती ही रह गई। फिर क्या था, वह हरिण को अपने घर मेहमान ले गई। उसे कमरे के कोने में रखा और स्वयं बिस्तर पर सो गई। अभी आँख लगी ही थी कि कमरे में प्रकाश था और हरिण की जगह कृष्ण को देखकर उन पर मुग्ध हो गई। कृष्ण भी चंद्रावली के रूप-सौंदर्य पर मोहित हो जाते हैं। तब चंद्रावली कामना करती है कि उनका सम्बंध घनिष्ट और लम्बा हो। उनका जोड़ा साई-बधाईवाला (मंगलमय) हो। इस संदर्भ से हरण का सम्बंध चंद्रावली से जोड़ा जा सकता है।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार हरण लोकनाट्य का सम्बंध सीता-हरण से जोड़ा गया है। कुल्लू के भीतरी क्षेत्र में हरण के स्वाँगियों को *डेंठी* कहते हैं। *डेंठी* शब्द यों तो आजकल साधु-संतों के लिए रूढ़ हो गया है, परन्तु वास्तव में इसका मौलिक अर्थ हनुमान है। मारीच राक्षस ने सीता-हरण के समय सोने के हरिण का रूप धारण किया था और अन्ततः श्रीराम ने उसे मार दिया था। सीता की खोज करते हुए जब राम, लक्ष्मण और हनुमान आदि लंका पहुँचे तो सीता के ठिकाने का किसी को पता न चला। लोक विश्वास के अनुसार तब हनुमान की सलाह पर कुछ वानरों ने राक्षस का रूप धारण किया और रावण के पास जाकर अनुरोध किया कि मारीच ने बहुत बड़ा बलिदान दिया है। उसकी स्मृति में कुछ आयोजन होना चाहिए। रावण इसके लिए सहमत हो गया। तब एक खेल रचाया गया, जिसमें हनुमान ने मारीच-हरिण का रूप और अन्य वानरों ने *डेंठी* अर्थात् साधुओं का रूप धारण करके इधर-उधर भागना शुरू किया। इस वेश में उन्होंने ऐसे स्थानों पर भी प्रवेश पा लिया जो गुप्त स्थान थे और जहाँ कोई नहीं जा सकता था। इस तरह उन्होंने सीता को अशोक-वाटिका में खोज लिया था। कहते हैं उसी घटना की याद में हरण लोकनाट्य आज तक प्रचलित है।

बांठड़ा

कुल्लुई लोक साहित्य में *बांठड़ा* मूलतः एक विशेष ताल है और उस ताल पर नाचा जाने वाला एक लोक-नृत्य *बांठड़ा* है। आजकल मंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले कुल्लुई लोकनृत्य प्रायः बांठड़ा ताल और बांठड़ा नाच से ही आरम्भ होते हैं। परन्तु वास्तव में यह परम्परा लोकनाट्य से सम्बंधित है। किसी समय कुल्लू के शहरी क्षेत्रों में बांठड़ा लोकनाट्य का बहुत प्रचलन था। जब गाँवों में हरण लोकनाट्य दिखाया जाता था तो शहरों में बांठड़ा आयोजित होता था। आज भी प्रायः यही परम्परा चल रही है। शहरों और नगरों में बांठड़ा का आयोजन होता है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में हरण का ही प्रचलन है। स्वरूप की दृष्टि से बांठड़ा एक मंच है, जिसमें रात-भर कई प्रहसन, स्वाँग और छोटे कथानक अभिनीत होते हैं। इस मंच

का प्रारम्भ सर्वदा बांठड़ा ताल और बांठड़ा नृत्य से होता है। इसीलिए इस मंच का नाम बांठड़ा प्रचलित हुआ।

हिमाचल प्रदेश में बांठड़ा लोकनाट्य का मूल स्थान मंडी ज़िला है। मंडी ज़िला में भी सुकेत (वर्तमान सुन्दरनगर) प्रारम्भ से ही बांठड़ा का केन्द्र रहा है। विश्वास किया जाता है कि सुकेत का राजा तथा कुल्लू का राजा किशनदास पचहारी महात्मा के शिष्य थे। यों लगता है कि महात्मा किशनदास द्वारा इस लोकनाट्य की परम्परा चलाई गई और उनके इन दोनों शिष्यों के माध्यम से यह सुकेत और कुल्लू रियासतों में प्रचलित हुई। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार बांठड़ा शब्द के मूल में वाणिथड़ा शक है और इसका सम्बंध सुकेत के राजा वीरसेन से है। राजा वीरसेन के समय में सुकेत के लोग अनपढ़ थे। वे लोगों की निरक्षरता से बड़े परेशान थे। उन्होंने प्रजा में साक्षरता बढ़ाने के उद्देश्य से अनेक कार्यक्रम आरम्भ किए। राजा ने अपने दरबार के एक संगीतज्ञ और गायक नगेंद्र को यह काम सौंपा। राजा ने अपनी रियासत में स्थान-स्थान पर थड़े (पत्थर के चबूतरे) बनवाए, जहाँ से नगेंद्र धर्म-प्रचार और साक्षरता प्रसार के लिए नीति-उपदेश दिया करते थे अर्थात् वाणी सुनाया करते थे। इस तरह यह मंच वाणीथड़ा कहलाया अर्थात् ऐसा थड़ा (मंच) जहाँ से वाणी प्रसारित होती थी। बाद में वाणीथड़ा से ही बांठड़ा शब्द बना। वीरसेन का समय संवत् 1268-1303 के लगभग रहा है। इन जनश्रुतियों से यह स्पष्ट होता है कि सुकेत और कुल्लू में बांठड़ा की परम्परा एक साथ आरम्भ हुई है और दोनों स्थानों पर इस नाट्य का प्रयोजन समान रहा है।

दोनों स्थानों में बांठड़ा की शैली और स्वरूप भी लगभग समान रहे हैं। स्थान भेद के कारण उनमें थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य देखने में आता है। सुकेत क्षेत्र में बांठड़ा का आरम्भ मंगलाचरण से होता है, जिसमें प्रायः शिव की स्तुति गायी जाती है। कुल्लू में बांठड़ा ताल और नृत्य से ही बांठड़ा नाट्य का आरम्भ होता है। इस समय गाये जानेवाले गीतों में सर्वाधिक प्रचलित गीत के आरम्भिक पद इस प्रकार हैं–

चानणी ओर चीरी डाबा,
गुआलुआं रा बांठड़ा हुण लागा।
चानणी ओ चीरी चीरी नेरा,
वर्ष छह महीना रा म्हारा फेरा।

अर्थात् चाँदनी पूरी तरह प्रकाशमान है और (इस चाँदनी में) ग्वालों का बांठड़ा आरम्भ हो गया है। चन्द्रमा चलते-चलते मेरे गाँव के ऊपर पहुँच गया है। हमारा (बांठड़े का) साल-छह महीने का फेरा है।

बांठड़ा गीत, ताल और नृत्य के बाद नाट्य का पहला दृश्य *चंद्रावली* का

होता है। इसमें प्रायः सात-आठ लड़के घाघरा, चोली, दुपट्टा, गले में हार, हाथों में चूड़ियाँ आदि स्त्री की वेश-भूषा बनाकर गोपियों का अभिनय करते हैं। लड़कों की आयु बारह-तेरह वर्ष के लगभग होती है। वे निम्न गीत गाते हुए थोड़ी देर मंच पर नृत्य करते हैं–

मोही रे मेरे श्यामा मोही रे
इस बंसीवाले आज मोही रे
सोने की नाहीं रूपे की नाहीं
हरे हरे बांस की बंसी ने पेरी रे
इस बंसीवाले आज मोही रे।

तभी धोती और मुकुट पहनकर कृष्ण मंच पर पधारते हैं। गोपियाँ नाच बंद करती हैं और कृष्ण के साथ वार्तालाप आरम्भ करती हैं। कृष्ण उनके साथ नाचने की इच्छा व्यक्त करते हैं। तब गोपियाँ एक-दूसरे का हाथ पकड़कर वृत्ताकार बना लेती हैं और कृष्ण को बीच में घेर लेती हैं। इस तरह बंसी बजाते हुए कृष्ण बीच में और गोपियाँ वृत में नाचती हैं। थोड़ी देर इस प्रकार नृत्य-अभिनय करने के बाद सभी मंच से बाहर चले जाते हैं।

इसके बाद बांठड़ा में अन्य कथानक प्रस्तुत होते हैं, जो समय के अनुसार छोटे-बड़े अनेक होते हैं। इनमें प्रायः देखे जानेवाले पौराणिक विषय सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र, ध्रुव, भगत प्रह्लाद, श्रवणकुमार, पूर्ण भगत, भस्मासुर आदि के कथा-प्रसंग बहुत लोकप्रिय रहे हैं। इनमें किसी तरह की नवीनता या विशिष्टता दिखाई नहीं देती। इनका प्रदर्शन वैसा ही होता है जैसा देश के अन्य भागों में देखने को मिलता है। मात्र संवाद में पहाड़ी भाषा की शब्दावली रहती है। इनके अतिरिक्त जन-जीवन से उठाए गए कुछ कथानक रूपकों में प्रस्तुत किए जाते हैं। इनमें मशीन के आने से बेरोज़गार हुए ऊन पींजने वाले 'पूंबा-पूंबी' की भुखमरी, गर्भवती हिरणी को मारकर लाए हेड़ी यानी शिकारी की करुणा और अनेक पत्नियों के कारण बड़े ज़मींदार 'झूड़ू भगता' की परेशानी जैसे मार्मिक दृश्य दर्शाये जाते हैं।

निरशू

कुल्लू के औटर सराज क्षेत्र में *निरशू* नाम का प्रमुख लोकनाट्य पूरे वैशाख महीने में गाँव-गाँव में खेला जाता है। इसके लिए किसी विशेष मंच की आवश्यकता नहीं होती। सायंकाल को भोजन के पश्चात् लोग गाँव के किसी खुले प्रांगण में एकत्रित हो जाते हैं। सब लोग बीच में खुला स्थान छोड़कर चारों तरफ बैठ जाते हैं। कलाकारों के आने-जाने के लिए थोड़ा-सा रास्ता छोड़ देते हैं। कलाकार निकट के किसी घर के कमरे या बरामदे में तैयारियाँ करते हैं। जिन दिनों गाँवों में बिजली नहीं पहुँची थी तब प्राँगण या मैदान के चारों कोनों पर लम्बे-लम्बे लकड़ी के डंडों

पर तेल में भिगोकर बेरी या कपड़े के चिथड़ों को बाँध देते थे और आग लगाकर मशाल बना देते थे।

यों तो निरशू के लिए विशेष चुने हुए अभिनेता नहीं होते। कोई भी अपनी इच्छानुसार बीच में प्रकट होकर स्वाँग रच सकता है। परन्तु ऐसे स्वाँग प्रस्तुत करने में कुछ लोग ही निपुण होते हैं और उन्हें यह निपुणता विरासत में मिली होती है। इन कलाकारों के साथ वाद्य-संगीत प्रायः देवता के मंदिर का होता है। इन प्रमुख कलाकारों की गाँव के लोग खूब आव-भगत करते हैं। बजंतरियों को भी अनाज आदि देकर सम्मानित किया जाता है।

निरशू में संगीत, नृत्य और अभिनय तीनों की सामूहिक झलक देखने को मिलती है। एक स्वाँग के बाद दूसरा स्वाँग आने तक जो समय होता है, उसमें आम जनता वाद्यवृन्द के साथ नृत्य करती है। ऐसे मध्यांतरों के दौरान बाजगी ज़्यादातर ढौंसी, ढांकुली आदि से संगीत देते हैं। स्थानीय लोग इसे म्हीन बाजा अर्थात् पतला या मधुर संगीत कहते हैं। यह म्हीन बाजा जिन वाद्यों में बजाया जाता है, उनको सामूहिक रूप से *छावा* का नाम दिया जाता है अर्थात् ऐसे वाद्य जो सब एक ही छाबड़े (टोकरी) में रखे जाते हैं। एक छाबे में दो ढांकुलियाँ, दो बांसुरियाँ, एक छाहड़ी (कांसे की थाली) और एक ढौंसी होती है। इस मधुर म्हीन बाजे के साथ जो विशेष गाने गाये जाते हैं, उन्हें *छाड़ी* कहते हैं। इन छाड़ी गीतों में स्थानीय संस्कृति और पौराणिक संदर्भों का उल्लेख मिलता है। यथा–

सौरगे बोलो इन्द्र देऊ राजा,
पाताले बासुगी नागा।
कांसे राजे लाई कुआदा,
वांढी गौऊओ लेआ कराओ।
उलटी देओ सुलटी लेओ ॥

(स्वर्ग लोक में इंद्रदेव का राज्य है। पाताल में बासुकि नाग का। इस लोक में कंस राजा की अराजकता है। उसने बाँझ गौओं पर भी कर लगा दिया है।)

कार्यक्रम के आरम्भ में सबसे पहले फकीर मंगलाचरण गाते हैं। इसमें वे लोग रात्रि के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए देवता की वंदना करते हैं। इस दौरान देवता का रथ भी अपना प्रमुख नृत्य प्रस्तुत करता है। इस मंगलाचरण में कुछ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे लोग देवता से उस रात होनेवाले स्वाँगों के लिए क्षमा माँग रहे हों, क्योंकि इन स्वाँगों में कभी देवता और उसके गूर पर भी मज़ाक किए जाते हैं। मंगलाचरण के बाद देवता का रथ एक तरफ विराजमान होता है। तब शुरू होते हैं स्वाँग। निरशू में कई प्रकार के स्वाँग रचाए जाते हैं, परन्तु मुख्यतया ये पाँच प्रकार के विषयों से सम्बंधित होते हैं–ऐतिहासिक, धार्मिक,

पौराणिक, साधु-बैरागियों सम्बंधी व सामाजिक।

पहला स्वाँग *डोल बरैकी* का होता है। यह असाधारण रूप से लम्बे कद की स्त्री का स्वाँग है। एक लम्बी लकड़ी पर स्त्री वस्त्र पहनाकर इस डोल बरैकी को संगीत के साथ नचाया जाता है। इसे उठानेवाले स्वाँगी और फकीर अपने वाद्य संगीत के साथ इससे सम्बंधित आख्यान गाते हैं। मुँह पर या तो मुखौटे पहने जाते हैं या फिर वस्त्र फाड़कर चेहरे पर बाँधे जाते हैं। *डोल बरैकी* के बाद राजा ध्रुवदेव, मुगलों का भारत में आगमन, भारत में अंग्रेज़ों का राज इत्यादि से सम्बंधित ऐतिहासिक स्वाँग; रामायण और महाभारत के अंशों पर आधारित पौराणिक स्वाँग; मंदिरों, ठाकुरों की पूजा और गूर से पचेउड़ माँगने जैसे धार्मिक स्वाँग; हरिद्वार के साधु-संत और बीरीभट्ट जैसे संन्यासियों के स्वाँग और फिर दैनिक जीवन में विवाह-शादी, हल चलाना, चक्की पीसना, साहुकारी प्रथा और राजनीति पर कई प्रकार के सामाजिक स्वाँग एक के बाद एक दिखाए जाते हैं।

सारी रात स्वाँगों, छाड़ी गीतों और नृत्य का क्रम चलता रहता है। सुबह के समय देवता के कारकुन द्वारा गड़कू देऊं निकाला जाता है। अंतिम झलकी नौताड़ के स्वाँग की होती है। इसमें भी नौ फुट लम्बे आदमी का स्वाँग रचा जाता है। सुबह के समय *दशी* गायी जाती है। *दशी* के ये टप्पे बैशाख में नई ऋतु शुरू होने के प्रतीक हैं–

एशकी बौर्षे कुयू-चेलू न बाशो।
कि मारो लूणिये कि देशा न नाशो॥

अर्थात् इस साल नई चिड़िया नहीं बोली–क्या बात है? या तो नमक लानेवालों ने उसे मार दिया है या वह नाराज़ होकर हमारे देश से भाग गई है।

यह बैशाख के महीने का वह समय होता है 'जब नई चिड़ियाँ कुयू' बदलते मौसम के अनुसार इस पहाड़ी इलाके में आती है और अपनी मधुर ध्वनि से लोगों को मोह लेती है। इसकी आवाज़ सुनना लोग बड़ा शुभ मानते हैं–

जौ लोउए कोछड़ीए, गेहूँ रातीए कीशे।
पाणी दे दशीए, हामे छमाहिए चीशे॥

अर्थात् जौ काट दिए हैं और कणक की बालियों में लाल रंग आ गया है। हे भगवन्! पानी दे दो, हम छह महीने से प्यासे हैं।

दशी के इन टप्पों और नौताड़ के नृत्य के पश्चात् निरशू की यह शाम सुबह में बदल जाती है और लोग एक बार फिर से अपने खेतों के काम में व्यस्त हो जाते हैं।

इस प्रकार हरण, बांठड़ा और निरशू कुल्लू के प्रमुख अभिनय प्रधान लोकनाट्य है। नाट्य के अन्य पक्ष इनमें गौण रहते हैं।

कथा-प्रधान लोकनाट्य

इन लोकनाट्यों में कथा की प्रधानता रहती है। यों तो हर नाट्य की पृष्ठभूमि में कथा रहती है और उस कथा का मंचीय प्रदर्शन ही नाट्य होता है, परन्तु कुल्लू के कथा-प्रधान लोकनाट्यों में प्रमुखतः कथा प्रवचन ही प्रधान है और शेष भाग कथा में छिप जाते हैं। ऐसे नाट्यों में निम्नलिखित प्रमुख हैं–

रामलीला

कुल्लू में रामलीला का स्वरूप देश के अन्य भागों की रामलीला से भिन्न है। यहाँ तक कि विश्वविख्यात कुल्लू दशहरा के अवसर पर भी अन्य स्थानों की तरह रामलीला आयोजित नहीं होती। न कोई मंच लगता है, न ही मंच पर रामलीला का अभिनय होता है। न रावण, कुम्भकरण आदि के पुतले जलाए जाते हैं। कुल्लू में रामलीला के नाम पर रामकथा सुनाई जाती है। भले ही कभी-कभार कुल्लू शहर में बाहर से आई मण्डलियाँ रामलीला दिखाती हैं, परन्तु शहर से बाहर गाँवों में रामायण को कथा रूप में ही सुनाया जाता है। बीच-बीच में किसी विशेष पात्र को दिखाया जाता है; यथा जन्म के बाद राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को विशेष वस्त्राभूषण में दिखाया जाता है। वनवास जाते समय राम, सीता, लक्ष्मण को दिखा देते हैं। हनुमान को अनेक बार दिखाया जाता है। मारीच पर तीर चलाते राम को दिखा दिया जाता है। सम्वाद आदि प्रस्तुत नहीं होते। वस्तुतः रामायण का पूरा पाठ (ज़ुबानी) सुनाया जाता है, जो कई रातों तक चलता है। यों तो सर्दी के दिनों में अनेक गाँवों में ऐसा रामायण पाठ होता है, जिसमें रामचरित-मानस की चौपाइयों और दोहों का सस्वर पाठ किया जाता है, परन्तु नवरात्र राम-कथा के प्रमुख दिन हैं। यहाँ की रामकथा की विशेषता यह भी है कि अनेक प्रसंग स्थानीय भाषा में बोले और गाये जाते हैं। वस्तुतः सारे क्षेत्र में लोक रामायण की जो प्रथा पाई जाती है वह रामलीला के अंश ही कहे जा सकते हैं। ग्रामीण जनता अपनी भाषा में गाये और अभिनीत किए प्रसंगों का सारी रात आनन्द लेती है। उछलता-कूदता हनुमान प्रायः गाता है–

पार हाऊँ समुन्दरा जानू।
सीया रा झट पता लानू।
राखसा री जान खानू।
लिंगटा-न औग तड़ानू।
लंका-बे भस्म बणानू।
कुम्भकरण री नींज गुआनू।
रावणा रे पराण नशानू
रामे रे नाऊंए सेऊ बणानू।
राम लछमणा बे पारे पझानू

सीया संगे राम मलानू।
हाऊँ या दानू हाऊँ सा दानू।

हनुमान कहता है 'मैं समुद्र के पार जाऊँगा। सीता का पता लाऊँगा। राक्षसों की जान लूँगा। अपनी पूँछ में आग लगाऊँगा। लंका को भस्म करूँगा। कुम्भकरण की नींद हराम करूँगा। रावण के प्राण-पखेरू हरूँगा। श्रीराम के नाम पर पुल बाँधूँगा। राम और लक्ष्मण को समुद्र पार पहुँचाऊँगा। सीता के साथ राम को मिलाऊँगा। मैं दानव वीर हूँ, दानव वीर हूँ।'

रासलीला

गाँवों में श्रीकृष्ण के जीवन के अनेक प्रसंग यथारूप में कहने और गाने की परम्परा है। इनकी कथाएँ कुल्लुई समाज में बहुत प्रसिद्ध हैं। लीला नाट्य के रूप में इनके जीवन की अनेक घटनाएँ प्रस्तुत होती हैं। गाँवों में साज-सज्जा और मंचीय वस्तुओं की कमी होती है। इसलिए मूल रूप में कथा सुनाई जाती है और समय-समय पर प्रमुख पात्रों को दर्शाया जाता है। यथा—कृष्ण जन्म की घटना बताते हुए एक पात्र को वसुदेव बनाकर उसके सिर पर छोटे शिशु को टोकरी में बिठाकर गोकुल के लिए प्रस्थान कराते हैं। वह मंच पर यमुना नदी से गुज़रने का अभिनय करता है।

इसी तरह गोकुल में बाल-लीला के अनेक प्रसंग दर्शाए जाते हैं। लीला सम्बंधी अनेक लोकगीत भी समय-समय पर सुनाए जाते हैं। भले ही सभी प्रसंग नाटकीय रूप से प्रदर्शित नहीं होते, परन्तु जो भी दृश्य प्रस्तुत होता है वह क्रम से कटा हुआ या घटना से पृथक् नहीं लगता। पूतना की घटना कथा रूप में सुनाई जाती है। परन्तु मंच पर एक पुरुष पात्र को स्त्री की वेशभूषा में एक बालक को दूध पिलाते दिखाया जाता है। इसी तरह गोवर्धनधारण, कालिया दमन, कंस के उपद्रव, कृष्ण-सुदामा, शिशुपाल-वध आदि घटनाओं से सम्बंधित दृश्य प्रस्तुत होते हैं।

मार्गशीर्ष और फाल्गुन मास इन नाट्यों के प्रमुख मास होते हैं। तारापुर के रोपड़ी गाँव में मनाई जानेवाली कतरूसी नारायण (कृष्ण-नारायण) की फागली में गूर श्रीकृष्ण की पूरी कथा सुनाता है। समय-समय पर सभी गूर तथा उपस्थित दर्शक मंच की पूरी परिक्रमा करते हैं। उस समय कृष्णलीला के कई स्थानीय प्रसंग भी सुनने और देखने को मिलते हैं, जिनका संदर्भ श्रीमद्भागवत पुराण में भी नहीं मिलता। उस समय नड़ का अभिनय देखते ही बनता है। श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वह कई तरह से अभिनय करता है।

स्थानीय भाषा मिश्रित हिन्दी में कथा की अनूठी शैली सुनने और देखने को मिलती है। नाच की अधिकता, गीतों की प्रधानता, संवादों का अभाव, कथा का प्रवाह इन नाट्यों को निश्चय ही ग्राम्य-धर्म का जामा पहनाते हैं।

देव-नाट्य

देव-नाट्य से अभिप्राय ऐसे नाट्यों से है, जो देवी-देवताओं से सम्बंधित हैं या जो देवी-देवताओं के सम्मुख या मंदिरों में खेले जाते हैं। वस्तुतः ये सामान्य लोकनाट्य नहीं हैं, अपितु मर्यादा में बंधे हुए नाट्य हैं। इन्हें नाट्य नाम से भी नहीं जाना जाता और न ही इन्हें लोग खेल समझते हैं। परन्तु विशेष मर्यादा और पवित्रता की भावना होते हुए भी इनमें मौजूद नाट्य तत्त्वों से इन्कार नहीं किया जा सकता। भले ही लोग इन्हें खेल न मानें फिर भी इनके साथ स्वतः खेल शब्द जुड़ने से (यथा देऊखेल) इन्हें खेल मानने में कोई संदेह नहीं है।

देऊखेल

देऊखेल सामान्य खेल नहीं, वरन् देवताओं का खेल है और देव-नाट्य का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। हर कोई इस खेल को नहीं खेल सकता। इसके लिए विशेष पात्र होते हैं–गूर। देवता के समाज का हर कोई व्यक्ति गूर नहीं बन सकता। देवता के विशेष मेले या आयोजन पर जब सारा वातावरण देवता के गाजा-गाजा–दर्जनों ढोल, नगारा, करनाल, रणसिंहा, ढौंसू, दराघ, भाणा आदि से गूँज रहा होता है, तब जिस व्यक्ति में देवता की आत्मा प्रवेश कर जाए, वह ज़ोर-ज़ोर से काँपना, उछलना, कूदना शुरू करता है और इस उछल-कूद में जब उसके सिर की टोपी गिर जाए तो उसे *बाठर* और इस क्रिया को *बाठर निकलना* कहते हैं। तब से वह अपने सिर के बाल नहीं काट सकता। माँस नहीं खा सकता। तम्बाकू नहीं पी सकता। मासिक-धर्म वाली स्त्री के हाथ का और उस घर का भोजन नहीं खा सकता।

इस बाठर को किसी विशेष अवसर पर, जिसे *रूहर पियाणा* कहते हैं, देवता के मलेघा गूर (मुख्य गूर) के कंधे पर बिठाकर, कटे हुए बकरे की गर्दन से निकलती रक्त की धारा पिलाकर, गूर-समुदाय में प्रवेश दिया जाता है। तब वह गूर बन जाता है। एक देवता के दस-बारह गूर होते हैं। यही गूर *देऊखेल* के पात्र होते हैं।

देऊ-री-सौह अर्थात् देवता के मंदिर का आँगन या खुला मैदान *देऊखेल* का मंच होता है। इस मैदान में सारा जनसमूह एक विस्तृत वृत्त अर्थात् खुले दायरे में खड़ा हो जाता है। वृत्त में सबसे आगे की पंक्ति में संगीत-वादक अपने-अपने वाद्ययंत्रों को बजाते हुए खड़े होते हैं। इस दायरे में एक ओर अन्य लोगों से आगे सभी गूर वरिष्ठता के आधार पर खड़े होते हैं। सबसे वरिष्ठ गूर सबसे आगे दायीं ओर खड़ा होता है और शेष उसके बायीं ओर वरिष्ठता के आधार पर क्रम से खड़े होते हैं। उनके दायें हाथ में घंटी तथा बायें हाथ में धड़छ (पूजा का कड़छी की शक्ल का पात्र) होता है। वे घंटी बजाते रहते हैं और धड़छ में धूप जलता रहता है। उसी समय देवता का कारदार उन सभी शस्त्रों–लोहे का गुर्ज, शांकल (जंज़ीरों का गुच्छा), लोहे की कटारें आदि उठाकर मैदान के मध्य में गाड़ देता है, जिनके द्वारा उस देवता

ने आदिकाल में दूत, भूत, दानव, प्रेत, पिशाच, राक्षस को मारकर अपनी जनता को उनसे मुक्ति दिलाई थी।

वाद्य-यंत्रों पर देऊ-*खेल* का विशेष संगीत बजता है। तब सबसे पहले मलेघा गूर अर्थात् मुख्य गूर धीमी चाल से नाचता हुआ केन्द्र की ओर बढ़ता है, जहाँ शस्त्र पड़े होते हैं। सभी गूरों की तरह उसकी दोनों टांगें घुटनों से नीचे नंगी, सिर नंगा, सिर के बाल बिखरे और पीछे की ओर कमर तक लटके होते हैं। कमर तक का शरीर भी नंगा होता है।

सारा देऊखेल मूक-अभिनय में होता है। बीच में शस्त्रों के पास पहुँचकर मलेघा गूर हाथों में घंटी और धड़छ थामे हुए बाजुओं को आगे फैलाता है। एक नज़र चारों ओर घुमाता है। दृष्टि घंटी-धड़छ पर केन्द्रित करता है और वाद्य-यंत्रों के संगीत में अत्यंत गम्भीर मुद्रा में पहले शस्त्रों की परिक्रमा करता है; फिर नाचना आरम्भ करता है—तीन कदम दायीं ओर, तीन कदम वापिस बायीं ओर नाचते हुए घंटी को धड़छ के ऊपर घुमाता है। उसे टेढ़ा करके धूप के धुएँ को हवा में फैलाता है। मुँह में मंत्र जपता रहता है। कुछ देर इस तरह नाचने के बाद कमर झुकाकर दायीं ओर तथा फिर बायीं ओर मुड़ता है। इस प्रकार धड़छ के धूप-दीप से मलेघा गूर सबसे पहले चारों दिशाओं की स्तुति करता है। यह देऊखेल का *मंगलाचरण* है।

तब वह घंटी-धड़छ कारदार को थमा देता है तथा भूमि में गाड़े शस्त्रों में से लोहे के गुर्ज को उठाता है। दोनों हाथों को चौड़ा करके गुर्ज के साथ पहले की तरह चारों दिशाओं की ओर गुर्ज चलाने का प्रदर्शन करता है। हर बार गुर्ज को दोनों हाथों से पकड़कर ज़मीन पर और फिर अपने कंधे पर प्रहार करता है और अभिनय करता है कि उसने किस तरह गुर्ज से अपने शत्रुओं को मारा। अंत में वह इसे भी कारदार को सौंप देता है। इसे *लोहा खेलना* कहते हैं। तब जंजीरों के गुच्छे को उठाता है और उसे घुमा-घुमाकर यह संकेत करता है कि उसने किस तरह शत्रुओं को जंजीरों से बाँधा। बायें हाथ में गुच्छा थामकर बायें हाथ की कलाई पर दायें हाथ की दो उंगलियाँ रखकर घोड़े की सवारी का संकेत करता है। फिर गुच्छे पर दायें हाथ की हथेली फेरकर हवा में फूँक मारता है कि उसने किस तरह गुच्छे से बाँधकर शत्रु को हवा में उड़ा दिया। अंत में इसे भी कारदार को थमा देता है।

इसी तरह बारी-बारी अन्य हथियारों को उठाता है और चारों दिशाओं में नाचता हुआ, उनका प्रयोग दर्शाता है। अन्य हथियारों में कटारियाँ प्रमुख हैं। वह दोनों हाथों में एक-एक कटारी लेकर दोनों बाजुओं को फैलाकर कभी बगल के नीचे और कभी ऊपर प्रहार करता है। कभी कटारी का तीखा भाग अपने पेट में चुभाता है और कभी अपने गालों में धंसा देता है। इस तरह वह कटारियों से शत्रुओं के साथ युद्ध प्रदर्शित करता है। सारे शस्त्रों के प्रदर्शन के बाद वह अंत में यही प्रदर्शन भेखल

की कोमल हरी शाखाओं से करता है। भेखल तांत्रिक झाड़ी मानी जाती है। इसे वह कारदार को न सौंपकर अपने शरीर के ऊपर से पीछे की ओर फेंक देता है। इस प्रदर्शन से वह यह सिद्ध करता है कि देवता ने किस तरह शत्रुओं का सफाया करके शांति की स्थापना की और मानव समाज के लिए धन-धान्य एवं सुख-सम्पन्नता प्रदान की।

ज्यों ही मलेघा गूर भेखल झाड़ी की शाखा पीछे की ओर फेंकता है, तभी पंक्ति में खड़े गूरों में से पहला गूर अपने घंटी-धड़छ अपने आदमी को दे देता है, जो पिछली पंक्ति में उसके साथ बैठा होता है। तब वह नीचे झुकता है और चारों अंगों अर्थात् हाथों और पैरों से चलकर मलेघा गूर के पैर छूता है। मलेघा गूर उसकी नंगी पीठ पर दोनों हाथों से थपकी देकर उसे खड़ा करता है। दोनों आमने-सामने एक की अंगुलियाँ दूसरे की अंगुलियों में डालकर हाथ मिलाते हैं। हाथों को दायें-बायें क्रम से अपनी ओर खींचते हुए नाचते हैं और आपसी सहयोग का प्रदर्शन करते हैं। तब दोनों को एक-एक कटारी दी जाती है। वे दोनों एक-एक हाथ पकड़कर दूसरे हाथ से कटारियों के प्रहार का प्रदर्शन करते हैं। इन दोनों द्वारा कटारियों का अभिनय समाप्त होते ही पंक्ति में से दो और गूर अपने घंटी-धड़छ दूसरों को सौंपकर चारों अंगों से चलकर केन्द्र में पहुँचते हैं। दोनों गूरों के पैर छूते हैं। वे दोनों इन्हें थपकियाँ देकर ऊपर उठाते हैं और फिर कटारियों का प्रदर्शन करते हैं। ऐसा क्रम तब तक जारी रहता है जब तक सभी गूर प्रदर्शन पूरा नहीं करते।

इस प्रकार *देऊखेल* आदि से अंत तक मूक-अभिनय का अनूठा प्रदर्शन है। प्राचीन समय में ऋतु-त्योहारों, शत्रुओं पर विजय, सिंहासन-आरोहण के अवसरों पर ऐसे अभिनय ग्राम-निवासियों की सभा में प्रस्तुत किए जाते थे। चूँकि गूर नंगे होते हैं, इसलिए वे नेत्र, हस्त, वक्ष, पाँव, अधर और ठोडी द्वारा किए जानेवाले संकेतों से अपनी भावनाएँ स्पष्ट अभिव्यक्त करते हैं।

कणाश

स्थानीय बोली में देवताओं की भाषा को *कणाश* कहते हैं। जब एक देवता दूसरे देवता का आह्वान (अच्छे अर्थों में) करता है या स्मरण करता है तो पहले देवता का मलेघा गूर दूसरे देवता के मंदिर की ओर मुँह करता है तथा ऊपर मुँह करके 'मंगलाचरण' का प्रदर्शन करता है। इसे *कणाश देणा* कहते हैं।

नाट्य के रूप में *कणाश* वास्तव में *देऊखेल* का एक भाग है। अनेक स्थानों पर दिन के समय देऊखेल का प्रदर्शन होता है और सायंकाल को *कणाश* का आयोजन किया जाता है। कुछ सामान्य भेद को छोड़कर सभी स्थानों पर *कणाश* का आयोजन समान रूप से किया जाता है। उदाहरणस्वरूप मणिकर्ण के *कणाश* नाट्य का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा। फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष

के प्रथम बुधवार से ठीक पंद्रह दिन पहले शाम को अँधेरा होते-होते नौड़न (नड़ जाति की स्त्री) अपने घर की दूसरी मंज़िल के बरामदे में बैठकर *कणाश* भाषा के तेरह बोलों का लयबद्ध उच्चारण करती है। तभी गाँव की राजपूत स्त्रियाँ अपने-अपने घरों के बरामदे में बैठकर इन बोलों का सस्वर उच्चारण करतीं हैं। यह क्रम पंद्रह दिनों तक जारी रहता है।

शुक्ल पक्ष के पहले बुधवार को नैणा देवी के मंदिर के सामने शाम को अलाव की स्थापना की जाती है। इसे *जागरा भकाणा* कहते हैं। *जागरा* स्थानीय बोली में धार्मिक जागरण का पर्याय है। रात भर के लम्बे जागरण के लिए अलाव की आवश्यकता रहती है। यह प्रकाश का भी काम देता है और फाल्गुन की सर्दी से भी बचाता है। वीरवार को देवी के रथ को सजाया जाता है। शुक्रवार को दिन के समय देऊखेल आदि का आयोजन होता है। सायंकाल देवी के रथ के साथ सबसे आगे नौड़न तथा उसके पीछे राजपूत वंश की स्त्रियाँ पारम्परिक वेशभूषा में सज-धजकर *कणाश* गाती हैं तथा वृत्त में नृत्य करती हैं। अब कणाश कें तेरह बोलों को दो बार गाया जाता है और तब तक सभी स्त्रियाँ वृत्ताकार नाचती हैं। इस बीच नौड़न अनेक तरह के अभिनय करती है। अब देवी के रथ को आसन पर रखा जाता है और नौड़न और अन्य स्त्रियाँ पुनः *कणाश* के तेरह बोलों को दो बार गाती हुई पूर्ववत् नृत्य करती हैं। इस तरह का कणाश नृत्य-नाट्य तीन दिन तक चलता है, जब नैणा देवी को पुनः मंदिर में स्थापित किया जाता है।

शरानी

लगभग सारे हिमाचल में चैत्र मास को तेरहवाँ महीना कहते हैं और तब तक इसका नाम नहीं लिया जाता जब तक वादक जाति विशेष के लोग (स्त्री-पुरुष) घर-घर विशेष गीत गाकर और नाचकर इस बात का संकेत नहीं देते। गीत के प्रथम बोल प्रायः इस प्रकार होते हैं–

आओ शड़ोहनियो ऋतो,
माहूं भणौक्तियो सीतो,
गूड़ीखा भणौक्तियो बीतो,
पाथरू शवालुओं नीतों,
राजा बेठो शुणदो गीतो।

अर्थात् वसंत ऋतु आ गई है। मधु-मक्खियों के भिनभिनाने का समय आ गया है। कड़कती सर्दी के दिन बीत गए हैं। पत्थरों पर शैवाल जम गया है और राजा यह गीत सुनने बैठ गया है।

लगभग सारे हिमाचल में चैत्र मास बाल-नाट्य का महीना है। महीना-भर कांगड़ा, ऊना, हमीरपुर आदि बाह्य क्षेत्र में 'रली' नाम से और सोलन, लोअर महासू,

करसोग आदि क्षेत्र में 'लाहोल' या 'लाउलो' नाम से गाँव की कन्याएँ बाल-नाट्य खेलती हैं, जिसमें शिव-पार्वती विवाह प्रमुख होता है। बैसाखी के दिन शिव-पार्वती की मिट्टी से बनाई मूर्तियों को पास की नदी में प्रवाहित किया जाता है। इन्हीं दिनों कुल्लू क्षेत्र में *शरानी* नाम से इस प्रथा का निर्वाह होता है।

चैत्र मास के प्रथम प्रविष्टे की रात को गाँव की सारी अविवाहित लड़कियाँ ग्राम देवता के मंदिर में इकट्ठा होती हैं। सभी नए सुन्दर वस्त्रों में सुसज्जित होती हैं। वे सबसे पहले मंदिर-परिसर की सफाई करती हैं। उसे लीप-पोतकर नया रूप देती हैं। उसके बाद पूरे अभिनय के साथ एक लम्बी गाथा गाती हैं। इस गाथा को *शरानी* कहते हैं और इसी के आधार पर पूरे नाट्य को भी *शरानी* ही कहा जाता है। स्थान-भेद से इसके श्राणी, श्रेणी, शौरानी, शोड़ानी, शौआरनी, शराणी, श्रानी आदि उच्चारण भेद भी हैं। पूरी गाथा के स्पष्ट रूप से भिन्न अंश हैं और प्रत्येक अंश के साथ अभिनय और प्रस्तुति में अंतर दिखाई देता है। गाथा के पूर्वार्द्ध की भाषा वर्तमान कुल्लुई नहीं है। न ही वह पहाड़ी भाषा की किसी बोली से मेल खाती है। इसलिए अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। परन्तु उसके उत्तरार्द्ध की भाषा पूर्णतया वर्तमान कुल्लुई है। मूल *शरानी* शब्द भी पूर्वार्द्ध की भाषा से सम्बंधित है और इसीलिए इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि मूल रूप से यह पुरानी मूल भाषा में बहुत लम्बी गाथा रही है, जो अब भूली जा चुकी है और एक छोटा-सा अंश ही पूर्वार्द्ध के रूप में हम तक पहुँचा है।

मंदिर-परिसर और देव-मूर्ति की सफाई और स्वच्छता के बाद सबसे पहले कुंवारी कन्याएँ मंगलाचरण के रूप में देवता की स्तुति गाती हैं–

सोने पौट घणै रूपै धै,
निखलै गोडरिए खौड़ीए द्वार।
सोने शरेड़ा की मौते हारों,
घोंड़ी रे घुंघरुआ देऊ जंबलू रे बार ॥

चूँकि भाषा आज की कुल्लुई नहीं है, अतः इसका भावार्थ यों हो सकता है–हे देव, तू सोने के पट के पीछे है या चाँदी के पट के अंदर। द्वार खोल और बाहर निकल (दर्शन दे)। (हम तुझे) सोने से अलंकृत करें या मोती के हार से। गले में घुँघरू पहने घोड़े की सवारी में देवता जंबलू बाहर आए हैं। हम उसके बलिहारी हैं।

इस पद को पुनः दोहराया जाता है और 'देव जंबलू' के स्थान पर 'देवता त्रिजुगी नारायण, देवी मण्डासण, देऊ नारद मुनि' आदि के नाम बारी-बारी लिए जाते हैं। इस तरह स्थानीय सभी देवी-देवताओं की स्तुति गाई जाती है।

इसके बाद लड़कियाँ दो दलों में बंट जाती हैं। आधी स्त्रियाँ बनती हैं,

आधी पुरुष। तब वे गाँव के अनेक विषयों पर चर्चा-परिचर्चा करती हैं और अन्त में प्रेमालाप करती हैं–

पुरुष– आओ माओ की हो सेरी
तेरो डौंखरा, तेरो डौंखरा पोलड़ू ओ जोगी।
स्त्रियाँ– खीरी रो, रो चूड़ी, खीरी रो चूड़ी महासाय।
पुरुष– आओ माओ की हो सेरी
तेरो डौंखरा, तेरो डौंखरा सुथणू ओ जोगी।

भावार्थ–पुरुष पूछते हैं, 'हे सखिओ! तुम अकेली क्यों हो और खेतों में कौन है?' स्त्रियाँ–'हे महाशय! क्यों, तुम्हें क्यों चिंता पड़ गई है?' पुरुष–'तुम्हारे सुन्दर शरीर के अंग अर्थात् पैर सुन्दर जूतों द्वारा सुसज्जित करने के योग्य हैं... तुम्हारी टाँगें सुन्दर सूथण (सलवार) के योग्य हैं।'

इसी तरह अगले पदों में पुरुष बनी लड़कियाँ कहती हैं–'तुम्हारा शरीर सुन्दर घाघरा, सुन्दर चोली, सुन्दर पट्टू, सुन्दर कंगण, टेढू, जहीरो, बाली, बालू, जराणू आदि आभूषणों से सुसज्जित करने के योग्य है।' तब वे उत्तर देती हैं–

स्त्रियाँ– *आशा पुआशा पाणी पुआशा, म्हारी साथणा सेरी।*
सुथणू री जोटो, पोलड़ू री जोटों, तुसरा हुथणू॥
आशा पड़ाशा, पाणी पड़ाशा, म्हारी संगणी सेरी।
घौघरा री जोटो, घौघरा री जोटो, तुसरा हौघरा।
आशा, पआशा, पाणी पुआशा, म्हारी साथणा सेरी।
चोली री जोटो, चोली री जोटो, तुसरी होली।

भावार्थ–(हे पुरुष) तुम्हारी आशा निराशा में न बदल जाए, तुम्हारी आशाओं पर पानी न फिर जाए, क्योंकि खेतों में हमारी साथिन (सहेली) है। हमें सूथण की जोड़ी (दो सलवारें) चाहिए, नहीं तो तुम्हारी सूथण हुथणू (मज़ाक) में न बदल जाए।.. हमें घाघरे की जोड़ी चाहिए, चोली, पट्टू, कंगण, डेढ़, जहीरी, बाली, बालू, जराणू आदि आभूषणों की जोड़ी चाहिए।

यहाँ लोक भाषा में व्यंग्यात्मक शब्दों में मज़ाक उड़ाने के उत्कृष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। लड़कियों का लड़कों से यह कहना कि यदि सुथणू नहीं देंगे तो तुम्हारा सुथणू हुथणू हो जाएगा। हुथणू शब्द निरर्थक है। यह केवल मज़ाक उड़ाने की दृष्टि से ध्वन्यात्मक अनुकरण है। इस तरह से घौघरा से हौघरा, चोली से होली, पौटका से हौटका, पोलड़ू से होलड़ू, डेढू से हेढू, जहीरो से नहीरो, बालू से हालू, जराणू से हराणू आदि ध्वन्यात्मक निरर्थक शब्द जोड़कर हास्यास्पद वातावरण बनाया जाता है।

शरानी के दो स्पष्ट चरण हैं–एक देव-स्तुति, जो निश्चित रूप से बहुत

लम्बी प्रक्रिया है और उससे इस क्षेत्र के देवताओं की प्राचीन पूजा-पद्धति का पता चलता है तथा दूसरा प्रहसन। लड़कियाँ अनेक तरह के प्रहसन प्रदर्शित करती हैं। ऊपर एक उदाहरण दिया गया है। एक दूसरे दृश्य में लड़कियाँ गाँव या आसपास के किसी मर्द या लड़के की नकल उतारती हैं। एक लड़की को उस व्यक्ति जैसा लिबास पहनाया जाता है। मान लो उसका नाम परमानन्द है। तब पहले उसको उकसाया जाता है।

गेहूँ बाहले रूटलै-कुटलै, जो बाहले सेरी।
ओरू एजड़े परमानन्दा चोढ़ पतोकणी तेरी ॥

अर्थात् 'गेहूँ तो बोए हैं दूर पर्वतों पर, जौ बोए हैं खेतों में। अरे परमानन्द इधर आ हम तेरी चोटी खींच देंगी।'

इसके साथ छेड़खानी शुरू होती है। उसे इधर-उधर घसीटना आरम्भ करती हैं। परमानन्द बनी लड़की बातचीत, चलने-फिरने, उठने-बैठने, काम करने आदि की सभी प्रक्रिया में परमानन्द जैसी हरकत करती है। लड़कियों में से एक कहती है–

केंडा बांका तू परमानन्द मेरी पैपड़ीये शोभे।
तौबे एणा मूं परमानंदा तेरे पोलड़ू रे लोभे ॥

परमानन्द तू कितना सुन्दर है। मुझे तो बड़ा ही प्यारा लगता है। मैं तेरे घर बसना चाहती हूँ। (तेरे साथ विवाह करना चाहती हूँ) केवल तेरे जूतों के लालच से।

इस प्रकार लड़कियाँ हर रोज़ रात को मंदिर में जाकर देवस्तुति तथा प्रहसनों का आयोजन करती हैं। चैत्र मास के पूर्वार्द्ध की शरानी को *छोटी शरानी* तथा बाद की शरानी को *बड़ी शरानी* कहते हैं। छोटी शरानी में केवल मंदिर में ही सारा आयोजन होता है। परन्तु बड़ी शरानी में लड़कियाँ देव-स्तुति करने के बाद शरानी गाती हुई गाँव में घर-घर जाती हैं। लोग उन्हें अन्न-धन देते हैं। महीना भर में जो कुछ उन्हें उपलब्ध होता है उससे बैशाखी की पूर्व-संध्या पर प्रीति-भोज का आयोजन किया जाता है। तब गाँव के सभी लोग आमंत्रित किए जाते हैं। सभी हार-शृंगार सज-धज कर आते हैं। इससे लड़कियों की भक्ति-भावना, शिष्टाचार, शालीनता, व्यवहार-कुशलता और कार्य-दक्षता का परिचय मिलता है।

अश्लील नाट्य

यों तो अश्लीलता लोकनाट्यों का अपरिहार्य अंग है। प्रत्येक लोकनाट्य में थोड़ी-बहुत अश्लीलता अवश्य रहती है। लोकधर्मी कलाओं में मनुष्य की स्वतंत्र भावनाओं का दमन करना अधिक अशिष्ट है। लोकनाट्यों में अश्लीलता से जनमानस की सरल प्रकृति प्रस्तुत होती है, जिसे स्त्री-पुरुष सभी स्वीकार करते हैं।

परन्तु कुल्लू में कुछ अश्लील लोकनाट्य ऐसे भी हैं, जिनमें स्त्रियाँ दर्शक के रूप में भी भाग नहीं लेतीं। भले ही चोरी-छिपे कुछ अंश देख लें, परन्तु इनमें अश्लीलता इतनी अधिक रहती है कि इन्हें पुरुष-समाज ही देख-सुन लेता है।

राखस खेल

अधिक अश्लीलता के कारण ही इन्हें प्रायः *राखस-खेल* (राक्षस खेल) के नाम से जाना जाता है। इन अश्लील नाट्यों के पीछे एक जबरदस्त भावना काम करती है। लोगों का विश्वास है कि इस क्षेत्र में मानव-समाज के पनपने से पहले भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच, दूत, दानवों का राज था। उन्हें नष्ट करके मानव समाज स्थापित करने के लिए यहाँ के देवताओं को बड़ा संघर्ष करना पड़ा। अन्ततः जब राक्षसों का सर्वनाश हुआ तो उनके क्रूर और कठोर अत्याचारों की कटु याद में इन अश्लील नाट्यों की प्रथा चल पड़ी। कई ऐसे भी दूत-भूत-राक्षस थे, जिन्होंने वर्ष में कम-से-कम एक बार अपने मायावी रूप में यहाँ आने की आज्ञा देवताओं से प्राप्त कर ली थी। उन्हें भगाने के लिए भी नाट्य करने पड़ते हैं। पहाड़ी लोगों की यह धारणा अन्य समाजों की धारणाओं से भिन्न नहीं है। *भविष्यपुराण* में लिखा है कि पृथु नामक न्याय-प्रिय तथा प्रजापालक राजा के समय में भी ठुण्ढा नामक राक्षसी ने शिशुओं पर कष्ट ढा दिया था और उन्हें एक-एक करके खाना आरम्भ किया था। तब ऋषि वसिष्ठ द्वारा सुझाए उपाय के अनुसार फाल्गुन पूर्णिमा को सभी लड़कों ने लकड़ी, कंडा-झाड़-झंखाड़, घास-पात बटोरकर आग जला दी तथा गाली-गलौच और अश्लील व्यवहार करते हुए उसकी परिक्रमा की। तभी ठुण्ढा राक्षसी वहाँ से भाग गई। कुल्लूई समाज में पौष और माघ के महीने 'काला महीना' के नाम से जाने जाते हैं। मान्यता है कि इन दिनों देवता स्वर्ग चले जाते हैं और तभी 'राखस खेल' खेला जाता है।

गिहणा

पंद्रह पौष की रात को सभी लोग विशेष भोजन बनाकर दो बार खाते हैं—एक बार बियाली (रात का भोजन) और दूसरी बार दनाली (दूसरी बियाली)। तब प्रत्येक घर के केवल पुरुष—बच्चे, बूढ़े, जवान, कायल वृक्ष की लकड़ी की मशालें लेकर घर से बाहर निकलते हैं और गाँव के साँझे स्थान में एकत्रित होते हैं। साँझे स्थान से सभी पुरुष ढोल-नगारे के साथ, हाथ में मशालें लिए हुए गाँव की परिक्रमा करते हैं। परिक्रमा करते हुए विशेष अश्लील गाने और गालियाँ दी जाती हैं। मूल रूप से ये गालियाँ राक्षसों को दी जाती हैं, ताकि वे गाँव छोड़कर भाग जाएँ।

गाँव की सीमा के एक छोर पर पहुँचकर सभी खड़े हो जाते हैं। ढोल-नगारे थोड़ी देर के लिए बंद किए जाते हैं। तब सामने के गाँववालों के लिए विशेष

अश्लील गालियाँ निकाली जाती हैं। प्रायः एक ही समय में दो गाँवों के लोग आमने-सामने होकर एक-दूसरे को वाद-प्रतिवाद में गालियाँ दे रहे होते हैं। एक गाँव के मुख्य दो बूढ़े, दूसरे गाँव के प्रत्येक घर के स्वामी का नाम लेते हैं। उसे कोई अश्लील, लज्जाजनक कार्य करते हुए बताते हैं और शेष सभी लोग उनके पीछे वही शब्द दोहराते हैं और *हो-हो* या *फुलड़ा* कहते हैं। *फुलड़ा* शब्द कहते ही ढोल-नगारे पर ज़ोर-ज़ोर से चोट की जाती है। ऐसी गालियों में दूसरे गाँव का किसी भी घर का स्वामी छूटना नहीं चाहिए; यदि कोई नाम बिना गाली दिए रह गया तो दोनों मुख्य बूढ़ों को *कुत्तखाजी* (चरम रोग) की बीमारी लग जाती है; ऐसी धारणा है। वे दोनों गाँववाले प्रत्युत्तर में बढ़िया से बढ़िया गाली देने का प्रयत्न करते हैं। कितनी बड़ी गाली दे पाते हैं, ये दोनों ओर के मुख्य बूढ़ों की योग्यता पर निर्भर करता है।

दूसरे गाँव के प्रत्येक गृह-स्वामी को, सामान्य अश्लील गालियों के अतिरिक्त उसकी निजी परिस्थितियों के अनुकूल समस्या समाधान के संवाद भी कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई अविवाहित हो तो कहा जाता है कि 'फलां के लिए शादी का प्रबंध किया जा रहा है।' यदि विवाहित होने पर बच्चे न हो रहे हों तो कहा जाता है 'उसके लिए बच्चे पैदा करने का प्रबंध किया जा रहा है।' किसी के अधिक बच्चे हों तो कहा जाता है कि 'भगतू के बच्चों के लिए भोजन-वस्त्रों का प्रबंध किया जा रहा है।' पति-पत्नी के सम्बंध अच्छे न हों तो दोनों के बीच सुलह-सफाई की बात कही जाती है। इसे *गिहणी* या *फुलड़ा मारना* कहते हैं। जब दूसरे गाँव के सभी घरों के मुखिया लोगों को गालियाँ देना समाप्त हो जाता है तो सभी मुट्ठी-भर धूल लेकर उस गाँव की ओर फेंक देते हैं और एक स्वर में उस गाँव के लिए बड़ी-सी अंतिम अश्लील गाली देते हुए, पुनः बाजे-गाजे के साथ गाँव के साँझे स्थान पर पहुँचते हैं। वहाँ पहले से ही पड़े लकड़ी के बड़े-बड़े ठेलों और गाँठों के बीच सभी मशालों को डालकर एक बड़ा 'घियाना' (अलाव) जलाया जाता है। उसकी विधिवत् परिक्रमा की जाती है, मंगलाचरण गाया जाता है और सारी रात नाच-गान होता है। *गिहणा* का यह घियाना पौष मास की अंतिम तिथि तक बुझना नहीं चाहिए। *गिहणा* का यह क्रम माघ की पूर्व संध्या तक चलता रहता है।

झिहरू

माघी की पूर्व संध्या पर लोहड़ी के दिन पुनः हर घर में विशेष भोजन बनता है, जिसमें *बड़े* (भल्ले) ज़रूर बनते हैं। रात को खाना खाने के बाद पुनः पंद्रह पौष की *गिहणा* की परम्परा अधिक ज़ोर-शोर और ठाठ-बाठ के साथ निभाई जाती है। यह *गिहणा* की अंतिम रात होती है। गाँव की परिक्रमा करने और दूसरे गाँव को *गिहणे* के बाद जब *घियाना* की परिक्रमा हो जाती है तो दूसरे अश्लील नाट्य शुरू हो जाते हैं। इनमें से *झिहरू* का पहला स्थान है। इससे पहले के पंद्रह दिनों में

राखस-खेल रोज़ खेले जाते हैं, जिसमें लोग दो दल बनाते हैं। एक दल राक्षस का अभिनय करता है और दूसरा मनुष्य का। राक्षसों को गालियाँ निकाली जाती हैं और राक्षस लोग अद्भुत लज्जाजनक अभिनय करते हुए कभी आग के ऊपर से छलाँगें मारते हैं और कभी इधर-उधर भागते हैं। उसके बाद *झिहरू* खेल शुरू किया जाता है। इसका मुख्याकर्षण अश्लील संवाद और अश्लील अभिनय है। दो मुख्य बूढ़े अश्लील गाने आरम्भ करते हैं और शेष उनका अनुकरण करते हैं और साथ-साथ अभिनय भी करते हैं।

यदि दो मुख्य बूढ़े थक जाएँ या उनकी अश्लील शब्दावली समाप्त हो जाए तो अन्य चतुर बुज़ुर्ग उनका स्थान लेते हैं। उनका हरेक पद तुकांत होता है। शेष सभी अपने-अपने ढंग से उनकी शब्दावली और तुकबंदी के अनुसार दो बार अश्लील अभिनय करते हैं। एक बार जब मुख्य बूढ़े बोल रहे होते हैं और दूसरी बार जब वे स्वयं उन बोलों को दुहराते हैं तो कुछ केवल शब्दावली और तुकबंदी दुहराते हैं। अभिनय नहीं करते। प्रायः अभिनय वही करते हैं, जो अभिनय में चतुर होते हैं या जिन्हें पद के अनुसार तुरंत अभिनय सूझ जाए। एक-एक पद को कई बार दोहराया जाता है और उसी के अनुसार एक-दूसरे से छेड़खानी, अश्लील हरकतें और अभिनय जारी रखते हैं–कभी एक के ऊपर दूसरा चढ़कर अभिनय करता है। कभी कोई लेटता है और दूसरा उस पर चढ़कर अश्लील अभिनय करता है। कभी एक के पीछे दूसरा लग जाता है। दो मुख्य बूढ़ों की योग्यता इसमें है कि वे अश्लील शब्दावली में सुन्दर से सुन्दर तुकबंदी करें और शेष लोगों की कुशलता इसमें है कि उनकी शब्दावली और तुकबंदी के साथ अश्लील से अश्लील, परन्तु बिल्कुल मेल खाता हुआ अभिनय करें। यह सिलसिला कई घंटों तक चलता रहता है।

बांढू

झिहरू आशु कवि की तुकबंदी है, चतुर पात्र का अभिनय है और तेज़ गति की उछल-कूद का नाट्य है। इसलिए यह अधिक देर तक जारी नहीं रखा जा सकता। तब *बांढू* नाट्य आरम्भ किया जाता है। यह आराम से किया जानेवाला अभिनय है। इसके बहुत से संवाद और अभिनय पारम्परिक हैं, जो हर वर्ष समान रूप से प्रस्तुत किए जाते हैं। इसमें तुरंत अपनाई जानेवाली तुकबंदी नहीं है; न ही चरित्रों को तुरंत समझकर किए जानेवाले अभिनय हैं। इसके गीत और अभिनय हैं तो अश्लील ही, परन्तु हर वर्ष समान रूप से किए जानेवाले हैं। उदाहरणार्थ एक *अश्लील बारहमासा* है, जिसकी शब्दावली बड़ी लज्जाजनक है। यह एक लम्बा गीत है, जिसमें हर मास किए जानेवाले अश्लील कार्यों का बखान है। मुख्य बूढ़े उसके पद गाते हैं और अश्लील अभिनय करते हैं। शेष लोग उसे दोहराते हुए अपने-अपने ढंग का अभिनय करते हैं। इसमें छोटे-छोटे अश्लील दृश्य भी दर्शाये जाते हैं।

एक-दूसरे पर कटाक्ष भी किए जाते हैं।

माघी से सात दिनों तक *झिहरू* और *बांढू* ...कनाट्य लगातार खेले जाते हैं। सातवें दिन को *सतदयाले* के रूप में मनाया जाता है। उसके बाद भी ये माघ के अंत तक खेला जाता है, परन्तु माघ से बाद के महीनों में इन लोकनाट्यों का प्रचलन नहीं है।

गनेड़

यह अश्लील संवाद और अभिनय से युक्त एक और विशिष्ट नाट्य है। *गनेड़* कुल्लू के अनेक गाँवों में खेला जाता है, परन्तु नगर का गनेड़ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। वैसे सभी स्थानों पर इसका स्वरूप एक जैसा देखने में आता है। नगर नामक गाँव में यह पौष मास की अमावस्या के चार दिन बाद आरम्भ होता है। रात को मशालों और अश्लील नाट्यों का दौर *झिहरू, बांढू* की तरह रहता है। *गनेड़* के दिन एक व्यक्ति के सिर पर बहुत पुराने सुरक्षित रखे गए मेढ़े के सींग बाँध दिए जाते हैं। यह व्यक्ति *जठियाली* कहलाता है। *जठियाली* को दो अन्य आदमी मूसलों पर बिठाकर कंधों पर उठाते हैं। एक और आदमी उसके सिर पर भांग का मूठा फेरता रहता है। वह प्रमुख व्यक्ति पहले मंगलाचरण गाता है और शेष लोग उसे ज़ोर-ज़ोर से दोहराते हैं–

हे सू मंगल, केसू हाथ
हे सू मंगल, राजा हाथ
हे सू मंगल, रियाय हाथ
हे सू मंगल, सेवक हाथ
हे सू मंगल, घरेरी हाथ
हे सू मंगल, हिड़मा हाथ

–हे शिव, मंगल भगवान, आपके हाथ शुभ हों! राजा, जनता, सेवक, धरती और हिडिम्बा देवी सभी के हाथ शुभ हों!

इस मंगलाचरण के बाद अश्लील गानों और अभिनय का दौर चलता है। कंधे पर रखे मूसलों पर सवार *जठियाली* मेढ़े के सींग और भांग के मूठे सहित पहले गालियों के साथ अश्लील अभिनय करता है और शेष लोग उसे दोहराते हैं। ये गाने *झिहरू* और *बांढू* के गानों और अभिनय से बहुत भिन्न नहीं होते। बारह-मासा इनमें प्रमुख रहता है।

स्वाँग

कुल्लू में *स्वाँग* का कोई समय, विषय या मंच निर्धारित नहीं रहता। यह सामान्य मनोरंजन का साधन है और कभी भी, किसी भी स्थान पर खेला जा सकता

है। विवाह-शादियों और मेले-त्योहारों में अनेक तरह के स्वाँग देखने में आते हैं। मूल रूप में स्वाँग से अभिप्राय नकल करने से है। किसी विशेष बात, घटना, चरित्र, रिवाज़ या परम्परा को उसी तरह या बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करना वास्तविक स्वाँग है। कुल्लुई स्वाँगों की परम्परा बड़ी प्राचीन और विस्तृत रही है। अतः इन्हें किसी सीमा में बाँधकर दर्शाना सम्भव नहीं। यहाँ उदाहरण के रूप में कुछेक स्वाँगों का उल्लेख किया जाता है–

पुहाल-गद्दियों का स्वाँग

पुहाल वे लोग हैं, जो पेशे से भेड़ें पालते हैं। सर्दियों में हर घर का स्वामी और परिवार के लोग अपनी भेड़ें स्वयं पालते हैं। परन्तु जब गर्मियाँ आती हैं और खेती-बाड़ी का काम शुरू हो जाता है तो सभी लोग अपनी भेड़ें गाँव के पुहाल के पास चराने को दे देते हैं। वह इस तरह इकट्ठी हुई सात-आठ सौ भेड़ें लेकर आबादी से बाहर पर्वत-शिखरों पर उन्हें चराने निकल जाता है और बड़ा कठिन समय गुज़ारता है। कई बार मूसलाधार बारिश में भी उसे खुले आसमान के नीचे भेड़ों के साथ रहना पड़ता है। वनों में उसे हिंसक पशुओं का स्वयं सामना करना पड़ता है। कई महीनों तक उसका समाज भेड़ें ही होती हैं या एकाध आदमी। परन्तु वह होता है बड़ा खुशदिल और मज़ाकिया। जेठ महीने के आरम्भ में पुहाल भेड़ें लेकर लाहुल चले जाते हैं और भादों के अंतिम दिनों में वापिस आते हैं।

असौज के प्रथम सप्ताह के किसी एक दिन सभी पुहाल भोजन और पेय-पदार्थ लेकर अपनी-अपनी भेड़ों की ऊन काटने के लिए जंगलों में किसी जगह चले जाते हैं। दिन को ऊन काटते हैं, शाम होते-होते भेड़ें एकत्रित की जाती हैं और भोजन का प्रबंध शुरू होता है। सबसे पहले पुहाल कुशलपूर्वक लाहुल से वापिस आने के लिए मनौती या *सुखणा* (प्रार्थना) की पूर्ति में *शुक्र* के नाम से मेढ़ा या बकरा काटते हैं और उसे पकाकर लोगों द्वारा लाये गए भोजन, सुरा-सरा-लुगड़ी के साथ उसका खूब मज़ा लेते हैं। तब स्वाँग का दौर चलता है। अनेक तरह के स्वाँग निकाले जाते हैं। सबसे पहला स्वाँग पुहाल द्वारा स्वयं निकाला जाता है। वह पिछले चार महीनों के दौरान हुई विशेष घटना का ही स्वाँग प्रस्तुत करता है। वह स्वयं पुहाल बना रहता है। अपने साथी को लाल भालू बनाता है, जो लाहुल में प्रायः पाया जाता है और भेड़ों को उठाकर ले जाता है। लाल भालू भेड़ों पर झपटता है। पुहाल उसको भगाने का प्रयास करता है, उसके पीछे कुत्ते लगाता है। कुत्ते उसे पहचानते हैं, फिर भी भालू के रूप में होने के कारण उस पर खूब भोंकते और झपटने का प्रयत्न करते हैं। वह एक भेड़ उठाने का प्रयत्न करता है और पुहाल उसे छुड़ाता है। उनकी आपसी कशमकश बड़ी मनोरंजक होती है।

दूसरे *स्वाँग* में भेड़ों की बीमारी का दृश्य प्रस्तुत किया जाता है। वह बीमार

हुई लंगड़ी भेड़ों को इकट्ठा करता है। उनकी टाँगों पर सचमुच पट्टी बाँधता है। उन्हें पकड़कर मुँह में पीसा हुआ नमक डालता है। बाँस की बड़ी नाली से भेड़ों को दवाई पिलाने का स्वाँग करता है। अधिक से अधिक भेड़ों के बच्चों को अपने चोले में लपेटकर गोद में समेटता है। इस तरह वह ऐसा प्रदर्शन करता है कि समय आने पर वह भेड़ के कितने मेमनों को उठाकर चलने की क्षमता रखता है। इससे भेड़ों के स्वामी समझ जाते हैं कि उसके पास भेड़ें देना उचित है। वह उनकी रक्षा कर सकता है।

पुहालों के बाद दूसरे लोग *स्वाँग* निकालते हैं। दो पुहालों के बीच प्रतिद्वंद्व को लेकर *स्वाँग* निकाला जाता है। पुहाल पति-पत्नी की कोई घटना लेकर उनका *स्वाँग* किया जाता है। पुहालिन रूठकर दूर बैठ जाती है और पुहाल उसे मनाने के कई ढोंग रचता है। पत्नी भेड़ें छोड़कर अपने कपड़े-बिस्तर इकट्ठा करके भागने का प्रदर्शन करती है और पति उसकी मिन्नत करता है। क्योंकि वह उसके सहयोग के बिना अकेला इतनी भेड़ों को जंगलों में नहीं चरा सकता। एक अन्य *स्वाँग* में पति-पत्नी के बीच प्रेम-सम्बंधों को प्रस्तुत किया जाता है। वे दोनों अकेले वनों में कैसे रहते हैं, ऐसे कुछ दृश्य भी दर्शाये जाते हैं। इनमें कुछ अश्लीलता भी रहती है। भोजन और पेय पदार्थों का ढेर तो लगा ही रहता है। उसे जबरदस्ती खिलाया-पिलाया जाता है। पिलाने का दृश्य तो आम रहता ही है। इसमें सभी भाग लेते हैं। जब तक *शुक्र* को बलि में दिए बकरे या मेढ़े का मांस खाकर समाप्त नहीं होता, तब तक खाने, पीने और *स्वाँग* का दौर चलता रहता है। चूँकि एक क्षेत्र में कई पुहाल होते हैं और प्रत्येक पुहाल के यहाँ यह आयोजन होता है। इसलिए आश्विन के प्रथम दिन से कार्तिक के मध्य तक यह कार्यक्रम कहीं न कहीं चला रहता है।

शौयरी स्वाँग

सारे हिमाचल में प्रथम आश्विन को शौयरी, शैरी या सैरी त्योहार के रूप में बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। कुल्लू में प्रातः गाँव के बच्चे हर घर में जाकर सभी घरवालों को 'जूब' (सं. दुर्बा, दूब) या फूल भेंट करते हैं और घरवाले उन्हें अखरोट देते हैं। दिन को स्थान-स्थान पर देवता के मेले लगते हैं और रात को विभिन्न प्रकार के *स्वाँग* प्रदर्शित किए जाते हैं। अनेक तरह के *स्वाँग* दिखाए जाते हैं। कुछ वर्षों पूर्व एक गाँव में देखे गए इन स्वाँगों की झलक यहाँ देना उपयुक्त होगा। इनके अलावा गाँव की कुछ अन्य समस्याओं पर भी स्वाँग किए जाते हैं।

पहला *गो-मूत्र स्वाँग* है। पानी की समस्या तो हिमाचल के अनेक गाँवों में पाई जाती है। जिस गाँव में भी पानी का अभाव है, वहाँ उसी का *स्वाँग* प्रस्तुत होता है। गाँव में एक नवविवाहित वधू के मायके से मेहमान आया है। पानी के

अभाव में नवविवाहिता को मुसीबत हो गई। वह घड़ों को टटोलती है। बर्तनों को एक-एक करके तलाशती है। गिलास-लोटे पटकती है। परन्तु रिश्तेदार स्वयं भेद खोलता है और कहता है 'इस गाँव में पानी ढूँढने से बेहतर है चिड़िया का दूध ढूँढा जाए। चिड़िया का दूध मिल सकता है, परन्तु पानी नहीं मिल सकता।' जैसे-तैसे वधू पास-पड़ोस से पानी उधार लेकर भोजन बनाती है और खिलाती है; परन्तु अंत में जब मेहमान ने पूजा से पहले नहाना ज़रूरी बताया तो उसे गौंच अर्थात् गौ-मूत्र से नहलाती है।

दूसरा *दाई का स्वाँग* किया जाता है। गाँव में हस्पताल नहीं है, न कोई डिस्पैंसरी है। गाँव की बुढ़िया दाई का काम करती है। इस स्थिति का *स्वाँग* निकाला गया। पट्टू पहने एक पुरुष ने गर्भवती स्त्री का रूप धारण करके खलिहान में प्रवेश किया है। पेट उभरा है, वह दर्द से कराह रही है। पति सेवा-शुश्रूषा कर रहा है। दोनों में तकरार हो जाती है। इस तकरार में बहुत-सी अश्लील बातें भी होती हैं–आखिर यह मुसीबत ही मोल क्यों ली, बिना बीमारी के बीमारी। खूब रो-पीट होती है। पति को विवश होकर गाँव की दाई बुलानी पड़ती है। बूढ़ी दाई कई तरह की कसरतें करवाती है। हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति भी उन कसरतों को कहाँ कर सकता है। परन्तु दाई तो दाई है। हर तरह का खेल करवाती है–डंड-बैठक, भाग-दौड़, तेल-मालिश। जब कुछ नहीं होता तो दरांती लेकर पेट चाक करती है। देखा तो पट्टू के बीच से कुत्ते का बच्चा निकलता है।

अध्यापक का भी एक *स्वाँग* होता है। गाँव में नया अध्यापक आया है। खूब डींग मारता है कि उसे पढ़ाई-लिखाई के अतिरिक्त सब मंत्र-तंत्र-जंत्र आते हैं। वह राक्षसों को बाँध सकता है। उलटे-सीधे मंत्र पढ़ता है। गाँववाले प्रभावित हो जाते हैं। रात को अध्यापक खलिहान में सो गया। तभी एक सफेद-भूत ने प्रवेश किया। लम्बा चोगा, लम्बी दाढ़ी, लम्बी-लम्बी जटाएँ, हाथों में गंडासा। चारपाई हिलती है। अध्यापक हड़बड़ा कर उठता है। भूत को देखकर साहस बटोरता है। मंत्रों की बौछार करता है। परन्तु भूत है कि आगे ही बढ़ता जाता है। मंत्रों का उस पर कोई असर नहीं होता। इस अवसर पर अध्यापक जो मंत्र पढ़ता है, उसका कोई अर्थ नहीं है, कोई क्रम नहीं है, कोई भाषा नहीं है। परन्तु जिस शैली में वह मंत्र जपता है, उससे सब प्रभावित होते हैं। उतना ही भयानक भूत है। आगे ही बढ़ता जाता है और अन्ततः अध्यापक को कपड़े, बिस्तर, किताबें सबकुछ फेंककर भागना पड़ता है।

फिर एक *साहब का स्वाँग* है जिसमें दो व्यक्ति आगे-पीछे कंधों पर दो मूसल थामे हुए हैं। उनकी पीठ में किलटे हैं। मूसलों के ऊपर उलटा-सीधा कोट-पैंट पहने साहब सवार हैं। उनके आगे एक व्यक्ति झाड़ू लिए रास्ता साफ करता आ रहा है। पीछे एक व्यक्ति झाड़ियों का बना चंवर साहब के सिर पर फहराता चल

रहा है। खलिहान में पहुँचकर एक किलटे को उलटाकर उसकी कुर्सी बनाई गई। साहब उलटे-किलटे की कुर्सी पर बैठ गए। सामने दूसरे किलटे पर लकड़ी का पटड़ा रखा गया। वह मेज़ बन गई। उसके ऊपर कुछ कागज़ और कुछ चिथड़े धर दिए गए। गड़बे का दवात है। उसमें बड़ी मोटी लकड़ी की कलम है। सामने पटवारी खड़ा है और लोग बैठे हैं। साहब ने गिरदावरी की पड़ताल शुरू की है। परन्तु उन्हें स्थानीय अनाज का ज्ञान नहीं है। पूछता है 'फलां खेत में क्या बोया है?' लोग कहते हैं 'जौ'। वह सुनता है 'जूँ' और ग़लत रिकॉर्ड पाकर काट देता है। इसी तरह 'गेहूँ' को 'घिऊ' (घू), 'मक्की' को 'मक्खी', 'कोदा' को 'खोता', 'माश' को 'मास', 'मूंगी' को 'गूंगी', 'भांग' को 'मांग' आदि सुनता और समझता है तथा इस तरह पटवारी के सब गिरदावरी-इंदराज़ ग़लत पाकर उसे मौके पर बरखास्त कर देता है।

अब चूँकि पटवारी को नौकरी से निकाला जा चुका है, इसलिए साहब की सवारी को उठाने का कोई प्रबंध नहीं होता। साहब किसी तरह एक आदमी को इसके लिए राजी करता है। परन्तु मूसल पर उठाने के लिए तो दो आदमी चाहिए। इसलिए अकेला आदमी कुर्सी बनाए गए किलटे को सीधा करता है। साहब को किलटे में डालता है और किलटा पीठ पर बाँधकर ले जाता है।

इस प्रकार के स्वाँग की कोई सीमा और समय निर्धारित नहीं है। आम मेले, त्योहारों, शादियों आदि के अवसर पर जब देखा कि नाचते हुए दर्शक ऊब रहे हैं तो बीच में कोई *स्वाँग* प्रस्तुत करते हैं। इन स्वाँगों में प्रायः नकल ही रहती है। लोग एक-दूसरे का *स्वाँग* निकालते हैं; जिसको मौके पर जो विषय सूझा उसी पर स्वाँग निकालता है। मेले-त्योहारों में नाचनेवालों या दर्शकों में से कोई ज़ोर की चीख-पुकार करता है। नृत्य बंद हो जाता है। वाद्ययंत्र बजने बंद होते हैं और एक व्यक्ति अकेला ही अपनी ज़ुबान बिगाड़कर कोई स्वाँग छेड़ देता है। तभी दूसरा सिर पर पल्लू डालकर उसके साथ शामिल हो जाता है और बिना किसी तैयारी के स्वाँग आरम्भ करते हैं। नाट्य का वह दौर जिस ओर गया, सो गया। एक स्वाँग समाप्त हुआ नहीं कि स्वाँग करनेवाला नया गीत आरम्भ करके फिर नृत्य शुरू करता है। हाज़िर-जवाबी, वाक्पटुता और व्यंग्योक्ति ही स्वाँग की जान है। जो लोग विनोदी और मज़ाकिया होते हैं वे बिना तैयारी के तत्काल सुंदर स्वाँग प्रस्तुत करते हैं।

मुखौटा नाट्य

कुल्लू के लोकनाट्यों में मुखौटा का प्रयोग दो प्रकार से देखने को मिलता है। पहली स्थिति में पात्र मुँह पर मुखौटा पहन लेते हैं और एक-दूसरे से या दर्शकों से वार्तालाप करते हैं। यहाँ मुखौटा का प्रयोग वैकल्पिक है। वही वार्ता-अभिनय वे बिना मुखौटा के भी कर सकते हैं। प्रायः देखने में आता है कि एक दृश्य एक बार या एक स्थान पर मुखौटा के साथ किया जाता है और कहीं दूसरी बार उसे मुँह पर

कुछ और पर्दा डालकर किया गया है। हरण के *स्वाँग, गनेड़* और सामान्य *स्वाँग* नाट्यों में मुखौटों का प्रायः ऐसा प्रयोग देखने में आता है। इसका यह भी प्रयोजन रहा है कि जहाँ खुले चेहरे में अश्लील गालियाँ या अश्लील वार्तालाप में प्रायः संकोच होता है, वहाँ पात्र विशेष मुँह पर मुखौटा पहनकर निस्संकोच अश्लील वाक्य, पद और गालियाँ बोल लेता है। यहाँ मुखौटा पर्दे का काम करता है।

मुखौटे कागज़ों, गत्तों, मजबूत चिथड़ों के तो बनते ही हैं, परन्तु सर्वाधिक 'तुंबड़ों' के बनते हैं। तुंबड़ा घिया या कद्दू की एक किस्म है, परन्तु ये सख्त और कड़वे होते हैं और सब्ज़ी आदि के काम नहीं आते। उन्हें लोग विशेष रूप से मुखौटों के लिए या पानी लाने या रखने के लिए पात्र के तौर पर प्रयोग करते हैं; इसी उद्देश्य से उगाते हैं। पकने पर उनका छिलका सख्त हो जाता है। अंदर से बीज आदि निकालकर उन्हें सुखा लिया जाता है। इसका छिलका इतना सख्त होता है कि यदि उसे नमी द्वारा लगनेवाले कीट से बचा दिया जाए तो कभी टूटता-फूटता नहीं है। कुछ घरों में सैकड़ों वर्ष पुराने तुंबड़े के मुखौटे अब भी सुरक्षित हैं। बकरी के बालों की दाढ़ी-मूँछों को उनके ऊपर कई बार लगाना पड़ता है। जिन लोगों का *स्वाँग* रचाने का खानदानी कार्य रहा है (व्यवसाय के रूप में नहीं, शौकिया) उनके पास तुंबड़े के पुराने मुखौटे अब भी सुरक्षित हैं।

फागली

फागली कुल्लू क्षेत्र में मुखौटा नाट्य का एक दूसरा रूप है, जो पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट है। यहाँ मुखौटों का प्रयोग अनिवार्य है। परम्परा से इनका प्रयोग और प्रदर्शन मर्यादा के साथ जुड़ा है तथा इस लोक-नाट्य में ऐसे मुखौटों का प्रयोग होता है, जो सैकड़ों नहीं हज़ारों वर्ष पुराने हैं। वर्ष में केवल फाल्गुन मास ही ऐसे मुखौटा नाट्यों का महीना है। कुल्लू समाज में फाल्गुन मास दो बातों के लिए प्रसिद्ध है–देवताओं की भारथा–*बर्शोहा* के लिए और मुखौटा नाट्य के लिए। ये दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं। फाल्गुन मास में *फागली* त्योहार के अवसर पर सभी देवता अपना इतिहास सुनाते हैं–देवता का जन्म कहाँ और कैसे हुआ, इसे दोहराते हैं। बाहर से आने की स्थिति में वह यहाँ तक कैसे पहुँचा, किस मार्ग से आया। मार्ग में क्या घटनाएँ घटीं। यहाँ आकर क्या परिस्थितियाँ देखने को मिलीं। किस स्थान पर किस दानव, दूत, भूत, राक्षस, पिशाच आदि दुरात्मा से संघर्ष हुआ। उनका कैसे दमन किया और किस कठिनाई से इस क्षेत्र में सुख, शांति और समृद्धि स्थापित की गंई। यही वर्णन 'भारथा' कहलाता है। आनेवाले वर्ष में क्या होगा–वर्षा, बाढ़, सूखा, बीमारी-रोग, अग्नि-कांड, अन्न-धन्न की स्थिति आदि की भविष्यवाणी *बर्शोहा* है।

भारथा (वार्ता) में जिन स्थानीय घटनाओं का उल्लेख ज़ुबानी हुआ है, उनका

नाटकीय प्रदर्शन मुखौटा नाट्य द्वारा प्रस्तुत होता है। सारे कुल्लू जिला में स्थान-स्थान पर इन नाट्यों का आयोजन होता है। कुल्लू क्षेत्र में मुखौटा को *खेपरा* कहते हैं। जब मुखौटे *हरण* या *स्वाँग* नाट्यों में प्रयुक्त होते हैं तो उन्हें *माला-रा-खेपरा* कहते हैं। सराज क्षेत्र में इन्हें *मण्डियाला* कहते हैं। हर मंदिर में सदियों पुराने खेपरे सुरक्षित हैं। ये अखरोट की लकड़ी या खरशू वृक्ष की लकड़ी या मिट्टी के बने होते हैं। खरशू की लकड़ी अखरोट से भी अधिक मजबूत और देर तक टिकनेवाली होती है। 'खरशू' को लोग 'पत्थर बूटा' अर्थात् पत्थर का वृक्ष कहते हैं। विश्वास है कि इसकी लकड़ी पत्थर की तरह हमेशा सुरक्षित रहती है, यदि इस लकड़ी को जलाया न जाए। मुखौटों में चित्रकारी होती है और ये मुखौटे प्राचीन काष्ठ-कला और चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण होते हैं।

हर एक मुखौटे का स्वरूप भिन्न होता है। किसी का मुँह शेर, बाघ, चीता जैसा होता है। किसी की आँखें, कान, नाक मोटे और लम्बे होते हैं। भयानक और विचित्र होना ही मुखौटों की विशेषता होती है। मुखौटा यदि हँसता हुआ भी दिखाया जाता है तो भी भय पैदा करनेवाला रहता ही है। प्रायः उसका वही स्वरूप होता है जो उस दूत, भूत, राक्षस का रहा होगा, जिसे देवता ने अतीत में मारा है। अभिनय भी उसी के अनुकूल होता है—लंगड़ा हो तो पात्र लंगड़ाता हुआ चलता है, यदि टूंडा (हाथ-कटा) है तो एक या दोनों हाथ बंधे होते हैं।

स्वरूप और अभिनय की दृष्टि से स्थानीय भेद होने के बावजूद प्रदर्शन में लगभग साम्यता दिखाई देती है। मुखौटा नाट्य की एक और विशेषता है—मुखौटाधारी कोई वार्तालाप या बातचीत नहीं करते। वे केवल चीख-पुकार से या सीटी बजाकर शोर ही मचाते हैं, परन्तु अभिनय उनका आकर्षक होता है। उछल-कूद तो होती ही है, साथ में हर स्थान के दूत, भूत, राक्षस की विशिष्ट हरकत भी रहती है। वार्तालाप और गाने आदि का काम अन्य पात्र करते हैं, जो एक किनारे पर बैठे होते हैं। कुल्लू में मलाणा, हलाण, चजोगी, सोयल, रूमयू, दुआड़ा, जाणा, बड़ाग्रां, फोजल, शलीण, अलेऊ आदि गाँवों के मुखौटा-नाट्य बड़े प्रसिद्ध हैं।

हर स्थान पर और हर समय मुखौटाधारी पात्रों का चयन पहले ही होता है। ये हृष्ट-पुष्ट और जवान होने चाहिए, ताकि वे खूब उछल-कूद, दौड़-धूपवाला अभिनय कुशलता से कर सकें। वे मुँह पर *खोपरे* पहनते हैं। शरीर में घास-फूस का लिबास धारण करते हैं। घास में प्रमुखतः 'रावल' नाम का विशेष घास होता है। रावल के मोटे और लम्बे पत्ते लिबास का रूप सहज ही धारण कर लेते हैं। रावल घास के लिबास और लकड़ी के मुखौटों से उनका रूप बड़ा भयानक बनता है और वे राक्षस से कम डरावने नहीं लगते। ढोल, नगारा, रणसिंघा, करनाल आदि वाद्य-यंत्रों के संगीत में वे नाचने लगते हैं; परन्तु उनका नाच सामान्य नहीं होता। वे उलटे-सीधे

उछल-कूद करते हैं। छलांगें मारते हैं। अपने में एक-दूसरे के ऊपर सवारी करते हैं। कभी मल्ल-युद्ध का प्रदर्शन करते हैं।

मुखौटाधारी पात्रों के हाथों में बड़े-बड़े डंडे या कुल्हाड़ी आदि हथियार होते हैं। हरेक के पास एक गठड़ी होती है। वे गठड़ी में आभूषण और सुन्दर कपड़े रखते हैं; जिनमें पट्टू, कमीज़, सलवार, पाजामे, कोट आदि होते हैं। पुरुष और स्त्री दोनों के वस्त्र उन गठड़ियों में रखे जाते हैं। वाद्ययंत्रों के संगीत में उछल-कूद, कुश्ती, मल्लयुद्ध, करने के बाद वे दर्शकों के बीच प्रवेश करते हैं। दर्शक चारों ओर कुछ दूरी पर ऊँची-नीची धरती पर बैठे उनका तमाशा देख रहे होते हैं। ज्यों ही वे दर्शकों के बीच प्रवेश करते हैं, लोगों में हलचल मच जाती है। दर्शकों में किसी स्थान पर पुरुषों को और कहीं स्त्रियों को ढूँढते हैं। जहाँ देवता विशेष ने *जौछणी* (सं. यक्षणी) को मारा हो, वहाँ वह केवल नौजवान लड़कों या मर्दों को ढूँढते हैं। लोक विश्वास है कि *जौछणी* केवल मर्दों पर आसक्त होती है, स्त्रियों को कुछ नहीं कहती। जहाँ देवता विशेष ने भूत-प्रेत को मारा हो, वहाँ वे लड़की या स्त्री की तलाश करते हैं। अपने लक्ष्य को ढूँढकर वे उसे दर्शकों में से उठाकर मंच पर लाते हैं और अपनी पंक्ति में खड़ा कराते हैं। तब गठड़ी को खोलकर उसके वस्त्राभूषण एक-एक करके उसे दिखाते हैं। उसे वह वस्त्राभूषण देने का अभिनय करते हैं। उन्हें उनके शरीर में बाँधना और पहनाना शुरू करते हैं। दर्शकों के मध्य से मंच पर लाए व्यक्ति को अपना पति, पत्नी या साथी बनाने का अभिनय करते हैं। वह लड़का या लड़की, मर्द या स्त्री भी अपने सामर्थ्य के अनुसार उनके अभिनय में शामिल होते हैं।

ऐसे मुखौटाधारियों में अनेक बार सचमुच वह प्रेतात्मा प्रवेश करती है, जिसका मुखौटा उस मुखौटाधारी ने पहन रखा हो। इसलिए देवता का गूर हर समय तैयार रहता है और यदि कोई अधिक उछल-कूद करे तो उसे शांत कराता है। चजोगी के मुखौटा नाट्य में चार मुखौटाधारियों के आगे एक धुरी होता है, जो साधारण चोला-टोपा पहनता है। उसके एक हाथ में लम्बा डंडा होता है, जिसे सभी मुखौटाधारी एक के पीछे दूसरा, पकड़े रखते हैं और सारे खेल में उस डंडे को नहीं छोड़ते। धुरी के दूसरे हाथ में कुल्हाड़ी के आकार का देवता का एक शस्त्र होता है, जिसे वह मुखौटाधारियों के सिर पर बार-बार फेरता रहता है, ताकि प्रेतात्मा सचमुच उनमें प्रवेश न करे। मलाणा में मुखौटाधारियों को यह खेल बर्फ़ के ऊपर करना होता है। वे पहले ही अपने पाँव में देसी घी और मिर्च का लेप करते हैं, ताकि बर्फ़ का असर कम हो। उनके हाथ में तौवटी (कुल्हाड़ी के आकार का शस्त्र) होती है। इसे भी वे समय-समय पर एक-दूसरे के सिर पर घुमाते रहते हैं।

मुखौटा नाट्य में भले ही मुखौटा पहने हुए पात्र बोलते नहीं हैं, परन्तु उनका मूक अभिनय इतना प्रभावशाली होता है कि अपने अभिनय से वे हर बात

स्पष्ट अभिव्यक्त करते हैं। उनकी चीख-पुकार इतनी तेज़ होती है कि सारा वातावरण गूँज उठता है। वे अनेक तरह की आवाज़ें निकालते हैं। उनकी आवाज़ों में क्रूरता, भय, आक्रोश, क्रोध साफ-साफ अभिव्यक्त होते हैं। उछल-कूद के अभिनय में एकदम स्तब्धता लाकर वे बाहरी प्रभाव का रूप दर्शाते हैं। अपनी चाल में विभिन्न परिवर्तन करते हुए अपने मन्तव्य को स्पष्ट व्यक्त करते हैं। यह देखने की बात है कि जहाँ शब्दों के अभाव में भावों की अभिव्यक्ति अवरुद्ध हो जाती है, वहाँ मुखौटाधारी अभिनेता अपनी शारीरिक अभिव्यंजना से भावनाओं का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है। वाद्य के सहयोग में किनारे पर बैठे गायक गीतों के बोल बोलते हैं और मुखौटाधारी उन गीतों के शब्दों और भावों के अनुसार सुन्दर अभिनय प्रस्तुत करते हैं।

कुल्लू के लोक-नाट्यों का यह परिचयात्मक विवरण और इनका वर्गीकरण केवल अध्ययन की दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक वर्ग के अंतर्गत कुछेक प्रमुख नाट्यों का उदाहरण स्वरूप यहाँ उल्लेख किया गया है। इन नाट्यों से यहाँ के जनजीवन की झलक मिलती है। देव-भूमि कुल्लू का सारा जनजीवन देव-प्रथा के गिर्द घूमता है। इसलिए नाट्य के क्षेत्र में देव-भावना का प्रभुत्व रहा है। परन्तु देवता का प्रभाव होते हुए भी यह तो निश्चित है कि कुल्लुई नाट्य ग्राम-धर्म की उपज है और इस क्षेत्र की जनता की सहजवृत्ति से सम्बंधित है।

आज लोक-नाट्य संक्रमण काल से गुज़र रहा है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से मनोरंजन के साधन गाँव-गाँव के घर-घर में पहुँच चुके हैं, जिसकी बदौलत लोगों को वर्ष-भर हर तरह का मनोरंजन घर बैठे देखने को मिल जाता है। परन्तु यह इलेक्ट्रॉनिक माध्यम लोक-कला-सम्पदा को हड़पता जा रहा है। वैज्ञानिक चमत्कार, भौतिकवाद, नव उद्योग प्रभावित सभ्यता में लोक-कलाओं की सांस्कृतिक विधियाँ तीव्रगति से लुप्त हो रही हैं। लोक-नाट्य और लोक-नृत्य आधुनिक मंच की विधाएँ नहीं हैं, अपितु ये खुले प्रांगण की कलाएँ हैं। जब इन्हें प्रयोग की विधो बनाकर आधुनिक मंचों की प्रयोगशाला पर लाया जाता है तो इनकी परम्परागत विशेषता और गरिमा नष्ट हो जाती है। इस स्थिति में लोकनाट्य अतीत के मनोरंजन होकर रह गए हैं।

शिमला ज़िला के लोकनाट्य

डॉ. हरिराम जसटा

हिमाचल प्रदेश में वर्ष भर में अनेक त्योहार और उत्सव अपना रंग, रस और सांस्कृतिक वैभव लेकर आते हैं। ऐसे अवसरों पर ग्रामवासी मनोरंजन का आनंद प्रायः रात के समय उठाना पसंद करते हैं। जब दिन-भर के कठिन परिश्रम के बाद उन्हें विश्राम की चाह होती है, तब वे अपनी ऊब मनोरंजन के इन साधनों द्वारा दूर करते हैं।

रात के अँधेरे में ग्रामवासी बड़े-बड़े अलाव जलाकर लोकोत्सवों का आयोजन करते हैं। गाँव की खुली जगह पर बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष एकत्र होकर इन उत्सवों में शामिल होते हैं। स्थानीय लोकवाद्यों जैसे—ढोल, नगाड़े, करनाल, शहनाई की मधुर धुन सुनकर ग्रामवासी उत्सव स्थल की ओर उमड़ पड़ते हैं।

हिमाचल प्रदेश के इन लोकोत्सवों में ही पहाड़ी लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति की सहज, स्वाभाविक और सजीव अभिव्यक्ति मिलती है। लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा एवं लोकनाट्य आदि लोक-संस्कृति की प्रमुख विधाएँ हैं। इनमें लोकनाट्य अधिक सजीव और प्रभावशाली रहता है। इसके द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक, युगों-युगों में सांस्कृतिक धरोहर संचरित होती रहती है।

लोकनाट्य कला उतनी ही पुरानी है, जितने पुराने ये पहाड़ और यहाँ का जीवन। नाट्यकला का सीधा सम्बंध भगवान शिव से जोड़ा जाता है। वही आदि नटराज हैं। नृत्य एवं संगीत के प्रेरक अधिष्ठाता देवाधिदेव हैं। इसीलिए नृत्य एवं नाट्य की स्तुतियों में नटराज का स्मरण सर्वप्रथम होता है।

भारत के विभिन्न राज्यों एवं जनपदों में शताब्दियों से अनेक प्रकार के लोकनाट्य प्रचलित हैं। इनके द्वारा लोकानुरंजन के साथ सामाजिक संस्कारों, विचारों एवं लोककल्याणकारी धारणाओं का प्रसार होता रहा है। देश के विभिन्न जनपदों में प्रचलित लोकनाटकों में दक्षिण भारत के *यक्ष गान* और *वीथि नाटक*, महाराष्ट्र

के *तमाशा* और *ललित*, पूर्वी भारत के *जात्रा* और *गंभीरा*, गुजरात के *भवाई* और *कठपुतली*, उत्तर भारत के *नौटंकी*, *स्वाँग*, *रासलीला* और *रामलीला*, हिमाचल प्रदेश के *करयाला*, *ठोडा*, *बांठड़ा* और *भगत* प्रमुख हैं।

विषयवस्तु की दृष्टि से शिमला ज़िला के लोकनाट्यों को निम्न चार भागों में बाँटा जा सकता है–

1. नृत्य प्रधान : आसाम के कीर्तिनियाँ और ब्रज की रासलीला के समान हिमाचल प्रदेश के शिमला ज़िला का 'ठोडा' नृत्य-नाट्य है।

2. हास्य प्रधान : महाराष्ट्र के *तमाशा*, गुजरात के *भवाई* की तरह शिमला के *सिंह और बूढ़ा* लोकनाट्य हैं।

3. संगीत प्रधान : उत्तर प्रदेश की *रामलीला*, बंगाल की *जात्रा* के समान शिमला की *हार* और *बरलाज* हैं।

4. वार्ता प्रधान : उत्तर प्रदेश की *नौटंकी*, मालवा के *माच* से मिलता-जुलता शिमला का *करयाला* है।

भारत के विभिन्न जनपदों में भक्ति-आंदोलन के समय लोकनाट्यों को अधिक लोकप्रियता मिली है। राष्ट्रीय स्तर पर वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति के प्रसार के लिए *कृष्ण लीला* और राम भक्ति के लिए *रामलीला* को लोकप्रिय बनाने का कार्य किया। इनका प्रचार और प्रसार समय के साथ बढ़ता गया। स्थान-स्थान पर इनके अनेक रूप उभरे।

उपर्युक्त विभाजन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के अन्य जनपदों की तरह हिमाचल प्रदेश की लोकनाट्य परम्परा भी बहुत पुरानी है। इसका लोकजीवन के सभी पहलुओं पर गहरा प्रभाव रहा है और ग्रामीण लोग इनका बड़े चाव से रसास्वादन करते हैं।

शिमला ज़िला में प्रचलित लोकनाट्यों की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(क) इन लोकनाट्यों के कथानकों में सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक मान्यताओं, परम्पराओं और लोकविश्वासों पर आधारित घटनाओं, कथाओं की चर्चा रहती है। कथानक कभी मौखिक वार्ता और कभी हाव-भाव से प्रकट होता है। करयाला जैसे लोकनाट्य में आधुनिक भावबोध की झलक भी मिल जाती है, जो सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमि में सहज ही उभरती है।

(ख) इन लोकनाट्यों में भाग लेनेवाले पात्र स्थानीय वातावरण और सामाजिक परम्पराओं को ध्यान में रखकर अभिनय करते हैं। इनका मूल उद्देश्य लोक मनोरंजन होता है। इनमें विदूषकों की विशेष भूमिका रहती है। पात्र अपनी स्थानीय वेशभूषा, हाव-भाव और साधारण वार्तालाप की शैली से दर्शकों को प्रभावित करते हैं। इन लोकनाट्यों में केवल पुरुष पात्र ही भाग लेते हैं और

नारी का अभिनय भी पुरुष पात्र ही करते हैं।

(ग) लोकनाट्यों में चरित्रचित्रण की अपेक्षा प्रभावशाली भाषा में संवाद-योजना पर अधिक ध्यान दिया जाता है। संवाद प्रायः स्थानीय बोली में, अत्यंत छोटे-छोटे, चुस्त वाक्यों में और नपी-तुली भाषा में होते हैं। इनमें हास्य एवं व्यंग्य का पुट तो रहता ही है, जिससे अभिनय भी प्रभावशाली बनता है।

(घ) लोकनृत्य और लोकगीत इन लोकनाट्यों के स्वाभाविक अंग हैं, जिनके संयोजन से इन्हें अधिक प्रभाव युक्त बनाया जाता है।

(ङ) इन लोकनाट्यों की भाषा में उर्दू, हिन्दी, पहाड़ी और अंग्रेज़ी के शब्दों का मिश्रण होता है। दैनिक बोलचाल के सहज सम्प्रेषणीय शब्द इनमें प्रयुक्त किए जाते हैं।

(च) लोकनाट्यों का रंगमंच मंदिर का आँगन, मेले का मैदान अथवा गाँव की केन्द्रीय खुली जगह होती है। इनमें न पर्दा उठता है और न गिरता है।

(छ) सरलता और सहजता इन लोकनाट्यों की सबसे बड़ी विशेषता होती है। लोक रुचि के अनुरूप उनका विधान होता है।

हिमाचल प्रदेश के अन्य जनपदों की भांति शिमला जनपद में प्राचीन लोकनाट्य परम्परा अत्यंत लोकप्रिय है। बहुत वर्षों पहले विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हमें चेतावनी दी थी–"असंख्य गाँवों को लेकर जो हमारा देश है, उस देश की मनोभूमि में रस का उद्भव आज रुक-सा गया है। जो रस बहुत समय से नीचे के स्तरों में व्याप्त पड़ा है, वह भी दिनों-दिन गर्म हवा की गर्म साँसों में उड़ जाएगा। अंत में प्राणनाशा मरुभूमि आगे बढ़-बढ़कर तृष्णारूपी अजगर की तरह हमारे गाँव में गूँथे हुए इस देश को ग्रसती रहेगी। एक विशेष शिक्षा के कारण हमने देश को देखनेवाली आँखें खो दी हैं–आज जनता का मानसिक उपवास दूर करने के लिए कोई भी उसकी कुछ भी सहायता नहीं करता। उनके कोई आत्मीय या अपने आदमी नहीं होते हैं। बेचारे अपने आप ही पहले ज़माने की तलछट से किसी तरह थोड़ी-सी सांत्वना पाने का यत्न करते हैं और कुछ दिन बाद यह भी खत्म हो जाएगा। सारे दिन के दुःख-दर्द के रीते तट निरानंद घरों में दीया भी नहीं जलेगा और न गीत सुनाई देंगे। वहाँ बाँस के झाड़ों में झींगुर झंकारेंगे, झाड़ियों में से पहर-पहर पर सियारों की बोली सुनाई देगी और उसी समय शहरों में शिक्षाभिमानियों के झुंड, बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिए भीड़ लगाए रहेंगे।" रवि बाबू की यह चेतावनी लोकनाट्यों के संदर्भ में भी सार्थक हो रही है।

लोकनाट्य द्वारा लोगों में सामाजिक सामंजस्य एवं एकता का जितना प्रचार-प्रसार होता रहा है, उतना किसी अन्य माध्यम से नहीं हुआ। आज भी जनमानस में गहरे उतरने के लिए इससे सशक्त माध्यम अन्य कोई नहीं दिखाई देता।

वास्तव में भारतीय जीवन 'लोक' का महासमुद्र है। उसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ संचित रहता है। शिमला जनपद के लोकनाट्यों की एक आंतरिक विशेषता है–यथार्थ जीवन प्रसंग। लोकनाट्यों में चाहे *करयाला* हो या *बांठड़ा, सिंह* और *बूढ़ा* हो या *हार* सभी में यथार्थ कथा-वस्तु का आधार रहता है। इन लोकनाट्यों में कल्पना की अपेक्षा सत्य पर अधिक बल रहता है।

शिमला जनपद के लोकनाट्यों में साहित्यिक नाटकों की तरह काल्पनिकता नहीं होती। इसीलिए अभिनय के लिए किसी सुसज्जित भवन की आवश्यकता भी नहीं रहती। ये लोकनाट्य कहीं भी, बिना किसी रंगमंचीय तड़क-भड़क के प्रदर्शित किए जा सकते हैं।

लोकनाट्यों के सम्बंध में प्रसिद्ध नाटककार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का कहना है–"न इसमें पटपरिवर्तन के प्रसाधन की अपेक्षा है, न दृश्य परिवर्तन की आवश्यकता। वह चारों ओर से दर्शक खचित मंच-पीठ राजमहल है, दीन की कुटिया या गृहस्थ का घर है; वहीं दूसरे क्षण विदेश हो गया। जैसा महादर्पण को ज्यों-ज्यों घुमाइये, त्यों-त्यों उसमें विराट जीवन की बहुरंगी प्रतिछवि अपने आप खिंचती चलती है। ठीक उसी प्रकार लोक रंगमंच, उसके अनौपचारिक अग्रहीन मंच-पीठ और अंततः उसके सहज रंगमंच की प्रकृति है।... लोकनाट्य और उसके रंगमंच का दर्शक केवल दर्शक ही नहीं है, वह उस रंगमंच का सक्रिय अभिन्न अंग भी है। उसका संरक्षक और रसरंजक दोनों।" डॉ. लाल के ये उद्‌गार शिमला जनपद की लोकनाट्य परम्परा को लेकर सटीक बैठते हैं।

अनादिकाल से हिमाचल प्रदेश में यक्ष, गंधर्व, किन्नर, किरात, खश, कनैत आदि नृत्य एवं संगीत कला में प्रवीण आदिम जनजातियाँ रही हैं। हिमाचल प्रदेश की यह लोकधर्मी नाट्य परम्परा अपने रंग-बिरंगे ताने-बाने में देश की प्राचीनतम अभिनय परम्परा को ईमानदारी और सच्चाई से आज तक निभा रही है। समय, स्थान, शिक्षा एवं अन्य बाहरी प्रभाव के कारण इसके स्वरूप में सहज परिवर्तन आ रहा है।

शिमला जनपद के असंख्य प्रहसनात्मक लोकनाट्यों में प्रमुख *करयाला, ठोडा, बरलाज, सिंह* और *बूढ़ा, लीला, खेल, हार, स्वाँग, दिवाली, निर्शू-बिर्शू, स्वाँगटे* आदि गिने जा सकते हैं। शिमला जनपद के लोकनाट्यों में प्रयुक्त हास्य-व्यंग्य की छाप लोकमानस पर दीर्घकाल तक रहती है।

इंसाइकलोपीडिया ब्रिटानिका में गानेर्ट द्वारा व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है– 'व्यंग्य हास्यास्पद अथवा असामान्य के प्रति हँसी उड़ाना अथवा क्षोभ के भावों की सशक्त अभिव्यक्ति है।' ग्रामीण समाज में कोई भी लोकनाट्य बिना हास्य-व्यंग्य के रसहीन ही लगता है।

ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी में व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–'पद्यात्मक या गद्यात्मक कृति, जिसमें तत्कालीन मूर्खताओं का मज़ाक उड़ाया गया हो।' अंग्रेज़ी भाषा के प्रसिद्ध लेखक एवं व्यंग्यकार स्विफ्ट ने कहा है–'व्यंग्य एक प्रकार का शीशा है, जिसमें देखनेवाले को अपने मुँह के अतिरिक्त प्रत्येक का मुँह दिखलाई देता है। यही कारण है कि विश्व भर में व्यंग्य का स्वागत किया जाता है। बहुत कम लोग इससे अपने को पीड़ित अनुभव करते हैं।' *करयाला* और *स्वाँग* लोकनाट्य में जब स्थानीय घटनाओं को लेकर हास्य-व्यंग्य होता है तो ग्रामीण दर्शक हँस-हँस कर लोट-पोट हो जाते हैं।

स्पष्टतः व्यंग्य के तीन तत्त्व हैं : (क) साहित्यिकता या साहित्यिक व्यंजना, (ख) दूसरों की मूर्खताओं की हँसी उड़ाना, (ग) वक्रोक्ति, वचन विदग्धा आदि। शिमला ज़िला के लोकनाट्यों में इन उपकरणों का भरपूर उपयोग हुआ है। व्यंग्य और हास्य का चोली-दामन का साथ है। आधुनिक भारत के प्रसिद्ध कारटूनिस्ट शंकर पिल्ले के अनुसार 'यह अभिशाप है कि लोगों में विनोदप्रियता नहीं रही।' हम लोग भूल गए हैं कि भारतीय परम्परा में तो जनसाधारण अपने देवी-देवताओं और गुरुओं पर भी हँसते रहे हैं, जो अन्यत्र नहीं हुआ। हम अपने शासकों, मंत्रियों, शिक्षकों, धनिकों, कंजूसों पर व्यंग्य करते हैं। प्राचीन व्यंग्यकारों एवं हास्य अभिनेताओं और विदूषकों के हास्य व्यंग्य से कोई भी बच नहीं पाता था। पंचतंत्र, हितोपदेश, कथा सरित्सागर, पुराणों आदि प्राचीन नाटकों में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। तेनाली राम, बीरबल और गोपाल भट्ट हास्य-व्यंग्य कला के कारण अमर हो गए। हँसी-ठट्ठा करना हमारे दैनिक जीवन का अनिवार्य पहलू रहा है।

भरत मुनि ने हास्य के छह भेद माने हैं–हल्की मुस्कान या ठट्ठा, खुली चमकती हुई मुस्कान, हँसी, दिल्लगी, गर्जती हुई हँसी, उन्मत्त हँसी, जिसमें हँसनेवाले की आँखों में आँसू आ जाते हैं। अनेक लोकोक्तियों द्वारा लोकजीवन में हँसी का महत्त्व प्रकट हो जाता है–हँसते घर बसते, हँसी मन की गाँठे बड़ी आसानी से खोल देती है आदि। कठिन परिश्रम की थकावट के बाद हास्य-विनोद से जीवन में ताज़गी आ जाती है। हास्य, जीवन का पोषक तत्त्व रहा है, तभी भारतीय लक्षण ग्रंथों के प्रणेता आचार्यों ने अन्य रसों के साथ हास्य रस को भी स्थान दिया है।

हिमाचल प्रदेश और शिमला जनपद के लोकनाट्यों से हास्य-व्यंग्य निकाल दें तो वे निष्प्राण, ऊबाऊ और निरर्थक लगेंगे। महासू जनपद के *करयाला, स्वाँग, सिंह* और *बूढ़ा* लोकनाट्यों का गहराई से अध्ययन करें तो यह सत्य स्पष्ट हो जाता है।

नकल करना भी हँसी की जड़ है। इन लोकनाट्यों में किसी भी बातचीत, चाल-ढाल, वेशभूषा आदि की नकल विनोद के लिए की जाती है। लोकनाट्यों में हास्य की व्यापकता को स्वीकारा गया है। इसीलिए इसे अधिक लोकप्रिय बनाने के

लिए इनमें व्यंग्य की भरमार रहती है।

शिमला ज़िला का वर्तमान रूप 25 जनवरी, 1971 को बना। इससे पहले यह महासू कहलाता रहा। इस जिला का प्रारंभिक स्वरूप 1814 में उभरने लगा था। 1827 ई. में कोटखाई-कोटगढ़ और शिमला-भरोली-जतोग इस जिला के भाग बने। शेष सारा क्षेत्र छोटी-बड़ी 21 रियासतों में विभक्त रहा, जिनके शासक ठाकुर, राणा, राजा कहलाते थे। इन रियासतों की देखभाल के लिए पहाड़ी रियासतों के राजनीतिक एजेंट शिमला से निगरानी करते थे।

शिमला ज़िला वनों, चरागाहों, पर्वतों और अन्य प्राकृतिक सम्पदा से सम्पन्न रहा, लेकिन सड़क, बिजली, शिक्षा तथा अन्य आधुनिक संचार साधनों का दीर्घकाल तक अभाव रहा। स्थानीय जनता की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति भी अत्यधिक दयनीय थी। जात-पात का बोलबाला रहा। विभिन्न मामलों में न्याय के लिए जनता स्थानीय शासकों, उनके कारिंदों और देवी-देवताओं के निर्णयों पर निर्भर करती थी। कठिन भौगोलिक स्थितियों से घिरी तथा अन्य संचार साधनों के अभाव में जनता के मनोरंजन के प्रमुख साधन मेले-त्योहार और अन्य लोकोत्सव ही होते थे। ऐसे अवसरों पर लोग रंग-बिरंगी पोशाक और आभूषण धारण करते और लोकनृत्य, लोकगीतों एवं लोकनाट्यों द्वारा अपने दैनिक जीवन की नीरसता एवं थकावट दूर करते थे।

15 अप्रैल, 1948 के दिन हिमाचल प्रदेश 30 छोटी-बड़ी पहाड़ी रियासतों को मिलाकर एक प्रशासनिक एवं राजनीतिक इकाई के रूप में देश के मानचित्र पर उभरा। इसी के साथ शिमला जनपद की 21 रियासतों को मिलाकर महासू जिला बन गया जो अब शिमला ज़िला कहलाता है।

शिमला जनपद की जनता सामंतशाही की क्रूरता और शोषण के कारण पिसती रही, फिर भी लोकवार्ता, लोकसाहित्य, लोकगीतों, लोकवाद्यों, लोकनृत्यों एवं लोकनाट्यों द्वारा लोगों ने अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाए रखी। कठिन संघर्ष, शिक्षा के प्रसार, आर्थिक एवं संचार साधनों के विकास के फलस्वरूप इस क्षेत्र के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में सहज परिवर्तन आया है। इसकी विभिन्न इकाइयाँ जो छोटी-छोटी 21 रियासतों में बंटी थीं, अब एक सूत्र में बंध गईं और शिमला ज़िला की एक अलग पहचान, लोक परम्पराओं एवं लोकानुरंजन साधनों के माध्यम से सामने आई है। यह क्षेत्र विभिन्न पर्वत-शृंखलाओं, नदी-नालों एवं वनों से घिरा है। हिमाचल के सोलन, सिरमौर, मंडी और कुल्लू जिलों से इसकी सीमाएँ लगती हैं। शिमला जनपद के जिन प्रमुख लोकनाट्यों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, वे अपने सीमावर्ती जिलों से प्रभाव ग्रहण करते हैं और दूसरे जिलों में शिमला के लोकनाट्यों का आंशिक प्रभाव देखा जाता है। क्योंकि लोक कलाओं को

प्रशासनिक क्षेत्रों में नहीं बाँधा जा सकता, इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

करयाला

शिमला ज़िला का यह प्रमुख लोकनाट्य, हिमाचल प्रदेश का एक प्रतिनिधि लोकनाट्य भी है। लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के बहुआयामी प्राचीन और अर्वाचीन तत्त्व *करयाला* में गुंफित हैं। वैसे तो *करयाला* सारे प्रदेश में चर्चित रहा है, फिर भी शिमला, सोलन, सिरमौर ज़िलों में यह अधिक प्रचलित और लोकप्रिय है।

क्या आप ऐसे नाटक की कल्पना कर सकते हैं, जिसका कोई कथानक, आलेख, सूत्रधार, निर्देशक न हो, फिर भी विभिन्न आयुवर्ग के दर्शकों को रात-रात भर जगाए रखने की क्षमता रखता हो? न बोरियत, न दोहराई, हर बार नया रंग-रूप, नया रस और आस्वाद। यह गुण लोकनाट्य *करयाला* में है। आमतौर पर *करयाला* के प्रदर्शन वर्ष-भर में कहीं-न-कहीं होते रहते हैं। परन्तु दीवाली से बूढ़ी दीवाली तक एक मास की अवधि में *करयाला* गाँव-गाँव में होता है।

करयाला शब्द की व्युत्पत्ति पहाड़ी भाषा के शब्द करेल (कुरेदना, खोजना) से मानी जाती है। इस प्रकार यह लोकजीवन को गहराई से खोजने, जीवन के अनुभवों को गम्भीरता से विश्लेषित करने और हास-परिहास-व्यंग्यपूर्ण बातों से जीवन को अभिव्यक्त करने का साधन माना जाता है।

करयाला लोकनाट्य की प्राचीनता निर्विवाद है। इसका सम्बंध पौराणिक मिथकों से जोड़ा जाता है। करयाला में *साधु स्वाँग* का प्रसंग नवीं शताब्दी की नाथ परम्परा का स्मरण कराता है। कुछ लोग इसका उद्भव स्थानीय देवी-देवताओं की मनौतियों से मानते हैं। कुछ भी हो *करयाला* लोकनाट्य का प्रारम्भ धार्मिक अनुष्ठानों से है। इसमें कुछेक तत्कालीन समस्याओं को छोड़कर शेष सारा ताना-बाना धार्मिक पृष्ठभूमि का रहता है।

करयाला लोकनाट्य के प्रदर्शन के लिए गाँव के समीप खुले मैदान में लगभग 20 वर्गफुट की चौकोर जगह पर भेखल की झाड़ी के चार मोटे डंडों का *चतुरासरा* गाड़कर करयालची अपने खेल के लिए स्थान निर्धारित करते हैं। इन डंडों के साथ रस्सी बाँधकर तीनों ओर से चादर तान दी जाती है। *अखाड़ा* के मध्य में आग जलाकर इस खाण्डा, धूनी या घियाना की पवित्र अग्नि को साक्षी मानकर *करयाला* का खेल होता है।

करयाला को प्रारम्भ करते हुए अनेक धार्मिक विधियाँ पूरी की जाती हैं। इनमें प्रमुख हैं—चौमुखा दीवटा जलाना, जो चारों दिशाओं का प्रतीक है; भूमि स्पर्श करना, जिससे माँ धरती की वंदना की जाती है; अखाड़ा तथा वाद्य-स्पर्श, इसमें ढोल, नगाड़ा, चिमटा, शहनाई, रणसिंघा, खंजरी और करनाल को नमस्कार किया जाता है; और फिर जलते अलाव के चारों ओर श्रद्धापूर्वक परिक्रमा की जाती है।

अखाड़े के एक छोर पर बजंतरी लोकवाद्यों पर बधाई ताल बजाते हैं, जो क्रमशः तीव्र होते-होते थम जाती है। एक छोर से लक्ष्मीरूपा *चंद्रावली* घाघरा-चोली पहने, घूँघट निकाले अखाड़े में प्रवेश करती है। लोकवाद्यों को नमस्कारकर, अलाव की परिक्रमा करती है और अपने हाथ पर रखी थाली में जलते हुए धूप का धुआँ चारों ओर बिखेरती हुई करयाला प्रारम्भ होने का संदेश देती है। *चंद्रावली* कभी अकेले और कभी *डांगर-कान्हा* के साथ क्रमशः जंग-ताल और करयाला-ताल में नृत्य करती हुई, अखाड़ा बाँधती है। अपने इष्ट देवता, ग्राम देवता के आह्वान के साथ-साथ उपस्थित दर्शकों का स्वागत करती है। वास्तव में *चंद्रावली* की भूमिका स्त्री वेश में पुरुष ही निभाता है।

चंद्रावली का नृत्य समाप्त होते ही सभी दिशाओं से विचित्र जटाजूटधारी साधु अखाड़े में प्रवेश करते हैं। साधुओं का स्वाँग और वार्तालाप करयाला के प्राण समझे जाते हैं। 'अलख निरंजन' के उद्घोष के साथ कहरवा ताल पर मस्ती में थिरकते हुए साधु लोकवाद्यों के आगे शीश नवाते हुए गोल दायरे में अखाड़े का चक्कर लगाते हैं। विदूषक या पूरबिया, डांड, बांरा, प्रधान और साधु स्वाँगों के कथ्य और व्यंग्य हास-परिहास के पुट के साथ कुछ भी हो सकते हैं। विषयवस्तु धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक कोई भी हो सकती है। करयालची सहज, स्वाभाविक और कुण्ठारहित होता है। *करयाला* में हास-परिहास की झलकियाँ, व्यंग्य विनोद के छींटे, जीवन की अनेक विसंगतियों सम्बंधी वार्तालाप विभिन्न स्वाँगों में प्रदर्शित होते हैं। अंतराल में बजंतरी और लोकगायक लोकगीत, नाट्टी, गिद्धा आदि प्रस्तुत करते हैं।

लोकनृत्य, लोकगीत और प्रभावशाली अभिनय की त्रिवेणी यह *करयाला* शासक-जनता या पति-पत्नी के सम्बंध, भटकते युवा वर्ग, भ्रष्टाचार और अनेक सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति का सशक्त एवं प्रभावशाली माध्यम है। इस लोकनाट्य में समकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल ढल जाने की क्षमता है। इसे देखने के लिए टिकट, सभागार, प्रचार, विशेष रंगमंच आदि की आवश्यकता नहीं रहती है। कलाकारों की संगीत एवं नृत्य में निपुणता और लोकमानस में गहरी पैठ ही *करयाला* में नित नया रंग और रस भर देते हैं।

करयाला का कोई लिपिबद्ध आलेख नहीं होता। न ही शास्त्रीय नाटक की तरह कोई निश्चित भाषा या प्रस्तुति क्रम होता है। प्रत्येक कलाकार समय, स्थान और निजी दक्षता द्वारा इसमें उपयुक्त संशोधन और परिवर्धन कर सकता है। अभिनय करनेवाले कलाकार संवाद प्रवाह को इस ढंग से आगे बढ़ाते हैं कि दर्शकों एवं श्रोताओं पर उसका सीधा प्रभाव पड़ता है। इसमें संवाद चुस्त, मुहावरेदार, काव्यात्मक और उपयुक्त कहावतों से भरे रहते हैं।

करयाला की प्रस्तुति में प्रयुक्त होनेवाली सामग्री स्थानीय स्रोतों से उपलब्ध होती है। परन्तु आजकल बनी-बनाई सामग्री जैसे मुखौटे, बाल, मूँछें, दुम एवं अन्य सामान उपलब्ध हो जाता है। *करयाला* में प्रदर्शन के लिए पौराणिक विषय कृष्णलीला या रामलीला से भी लिए जाते हैं।

करयाला जैसे लोकप्रिय नाट्य की माँग धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इसके अनेक कारण हैं–

(क) आधुनिक संचार साधनों का तीव्रगति से प्रसार। घर-घर, गाँव-गाँव में रेडियो, टी.वी. इत्यादि होना।

(ख) पाश्चात्य प्रभाव में पॉप संगीत एवं नृत्यों का प्रचलन।

(ग) ग्रामीण संस्कृति की अपेक्षा शहरी सभ्यता का मोह।

(घ) लोकगीतों, लोकनृत्यों एवं लोकवाद्यों के परम्परागत गायक, नर्तक और वादक अपना व्यवसाय छोड़ते जा रहे हैं या फिल्मी प्रभाव के रहते लोक संगीत को विकृत कर रहे हैं।

(ङ) व्यावसायिक करयाला मंडलियों का विघटन।

ठोडा

हिमाचल प्रदेश खश, गंधर्व, किन्नर, किरात तथा नाग आदि जनजातियों की भूमि रहा है। यह कह सकते हैं कि पर्वतीय क्षेत्र की परम्पराएँ, लोकविश्वास और लोकसंस्कृति इन आदिम जनजातियों के उदय, संघर्ष और बिखराव का परिणाम है। इन जनजातियों के शौर्य, साहस, यशोगाथा और जातीय-भावना का प्रतीक लोकनाट्य *ठोडा* है। धनुर्विद्या और वीर रस से परिपूर्ण इस लोकनाट्य में जातीय वीरता की भावना स्पष्ट दिखाई देती है।

शिमला तथा सिरमौर जनपदों के लोकनाट्य *ठोडा* के बारे में आज भी एक पहाड़ी कहावत प्रसिद्ध है–*पीपली़ रा मसाला, ठोडे रा खेल*। अर्थात् मिर्च के मसाले और ठोडा के खेल में अनेक समानताएँ हैं। ठोडा के संवादों में हास्य और व्यंग्य उसी तरह है, जैसे पिपली़ यानी मिर्च का चटपटा मसाला होता है।

शिमला जनपद में *ठोडा* लोकनाट्य कई शताब्दियों से स्थानीय मेलों में दो परम्परागत प्रतिद्वंद्वी दलों– शाठी (कौरव) और पाशी (पांडव) के बीच तीर-कमान से खेला जाता रहा है। यह रात को नहीं, दिन को ही खुली जगह पर प्रदर्शित किया जाता है।

स्थानीय किंवदंतियों एवं लोक-परम्परा के अनुसार यह लोकनाट्य महाभारत युद्ध का प्रतीकात्मक खेल है। डॉ. बंशीराम शर्मा के अनुसार, 'वैदिक युग का एक अत्यंत प्रसिद्ध 'मह', 'धनुर्मह' अर्थात् धनुर्विद्या उत्सव भी था, जिसमें धनुर्विद्या का अभ्यास किया जाता था। आदिवासियों के साथ युद्ध करने के लिए इस विद्या में

पारंगत होना आवश्यक समझा जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि तत्कालीन आदिम जातियाँ भी धनुर्विद्या में पारंगत होती होंगी। हिमाचल प्रदेश के शिमला ज़िला के कुछ क्षेत्रों में ग्रामवासी धनुर्विद्या का आज भी अभ्यास करते हैं और मेलों एवं अन्य उत्सवों पर *ठोडा* लोकनाट्य में अपनी सफलता खोजते हैं।

ठोडा लोकनाट्य में परस्पर विरोधी दोनों दल—शाठी और पाशी, अपनी विशेष वेशभूषा में, घुटनों तक मोटा पाजामा (सूथण) और मोटे बूट पहने, धनुष-बाण हाथ में लिए, मेले की भीड़ के बीच खाली रखे गए स्थान पर ठोडा ताल (युद्ध ताल) पर नाचते हुए और प्रतिद्वंद्वी को युद्ध के लिए ललकारते हुए प्रवेश करते हैं— '*गुरु पूजा मेरिया तेरी जूबड़ी दा*'! (गुरु तेरे मैदान में पहुँच गया है।)

ठोडा में उपयोग किए जानेवाले बाणों को स्थानीय भाषा में शर या शरी कहते हैं। यह तीर अक्सर 'नगाली' की छड़ का होता है। इसका सिरा कुछ चपटा होता है ताकि उसके कारण प्रतिद्वंद्वी की टांग पर अधिक गहरी चोट न लग सके। यही *ठोडा* कहलाता है। प्रायः सभी खिलाड़ी पहनने के वस्त्र आदि अपने साथ लाते हैं। धनुष या धनु चांवा (स्थानीय लकड़ी) का बना होता है। इसकी लम्बाई लगभग 2 मीटर होती है।

डॉ. तुलसी रमण के एक लेख के अनुसार, 'ठोडा जहाँ खेल के रूप में प्रसिद्ध है, वहाँ नृत्य तथा नाट्य भी है। इसमें 'खेल' होता है धनुष-बाण का, नाच उठते हैं खिलाड़ियों के वीर रस से प्रफुल्लित विशाल वक्षस्थल तथा बलिष्ठ भुजदण्ड, नाट्य होता है महाभारत युद्ध का।' शिमला ज़िला के घूंड, ठलोग, ठियोग, शिरगुली, रेंजटा, शवाल, भखोग का ठोडा लोकनाट्य अधिक प्रसिद्ध है।

इस खेल के कुछ नियम होते हैं, जिनका पालन दोनों दलों को करना होता है। ढोल-नगाड़े जैसे लोकवाद्यों की ताल पर खिलाड़ी *ठोडा* नृत्य प्रारम्भ करते हैं। प्रत्येक योद्धा अपने प्रतिद्वंद्वी को पहले शर चलाने के लिए कहता है। पहले शर चलानेवाला या पिछली बार के खेल में हारा हुआ प्रतिद्वंद्वी ही ठोडा का प्रारंभ करता है। इसे धर्म-युद्ध समझकर खेलते हैं। तीर घुटने से नीचे और टखने से ऊपर टाँग (पिंडली) पर मारने का नियम है। दूसरा प्रतिद्वंद्वी बचाव में तीव्रगति से टांगें इधर-उधर नचाता है। तीर चलानेवाला शर को कमान पर चढ़ाकर कानों तक खींचकर घुटने और टखने के बीच टाँग पर निशाना बाँधता है। यदि निशाना लक्ष्य पर लग जाए तो तीर चलानेवाला एक लम्बी चीख के साथ ऊँची छलाँग लगाता है और उसका जोश देखनेवाला होता है। ऐसी कई जोड़ियाँ एक साथ ठोडा खेलती हैं और योद्धा एक-दूसरे को चुनौती देते हुए ललकारते हैं। स्थानीय बोली में व्यंग्य-बाणों से खरी-खोटी भी सुनाते हैं।

ठोडा लोकनाट्य केवल खश या राजपूतों के खूंदों यानी पारम्परिक दलों

दल के ठोडा का भरपूर आनंद उठाते हैं। बजंतरी अपने लोकवाद्यों सहित मैदान के एक छोर पर बैठकर *ठोडा* ताल बजाते रहते हैं।

मैदान में पहुँचकर *पाशी* पक्ष का एक खिलाड़ी एक हाथ में धनुष और दूसरे में बाण लेकर खुली जगह पर नाचता और ललकारता हुआ आगे बढ़ता है–*मेरे धाह शुणे ठोडे खेलने रे पाणू रामा!* (हे पाणू राम! ठोडा खेलने की मेरी ललकार को अच्छी तरह सुन ले।) वह अपने धनुष को चूमता है और बाण को हिलाता हुआ अपने कुल देवता, ग्राम देवता और भगवती दुर्गा का नाम लेता हुआ अपने विरोधी को मैदान में आने के लिए ललकारता है–*देऔ शिरगुलों री जुबड़ी दा पूजा औ खूंद खौशिया।* (वीर खश, देवता शिर्गुल के मैदान में पहुँच गया है।) ऐसी ही अनेक ललकारों से परस्पर विरोधियों को मैदान में बुलाया जाता है।

ठोडा लोकनाट्य का खेल सूर्यास्त तक चलता रहता है। जोड़ियों के बीच बारी-बारी तीर चलाने और बचने का क्रम दिन भर रहता है।

वास्तव में *ठोडा* खेल के लिए तैयारी की आवश्यकता रहती है। यदि तैयारी न हो तो पहाड़ी (महासुवी) में कहावत प्रसिद्ध है– *'घाटौ आजो ठठईरौ, देऔ सूथणौ दि पाणौ'* (ठोडा का खेल निकट है अब सूथण बाँध रहे हैं)। भावार्थ यह है कि जो *ठोडा* जैसे कठिन खेल के लिए तैयार होकर नहीं जाता, वह हार जाता है।

लोकभाषा में व्यंग्य और हास्य का अपना ही बांकपन रहता है। दोनों दलों के खिलाड़ी अपने प्रतिद्वंद्वी को चीख-चीखकर पुकारते हैं। प्रश्न-उत्तर के क्रम में दोनों दल अपने वीर पूर्वजों के शौर्य एवं साहस की दुहाई देते हुए नाचते हैं।

ठोडा लोकनाट्य में खिलाड़ियों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध व्यंग्य-बाणों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

- *ऊँची जागहै रा खौशिया पूजा औ* (ऊँची जगह का खश पहुँचा है)–हा, हा!
- *ब्रागौ रै ब्रागटू संगै नी खेली मेरिया छोहटुआ* (मेरे बच्चे, बाघ के बच्चे के साथ नहीं खेला जाता) –हा, हा!
- *सुतै दो सीहओ न बझेले मेरिया जयरामा* (हे जयराम! सोये शेर को मत जगाना) –हा, हा!
- *जेसरा बाप शिकारी हौला, सै शूकी नी खांदा* (जिसका बाप शिकारी होगा वह सूखी नहीं खाता) –हा, हा!
- *जीऊँदे ब्रागौ रो कालजो नी मिलदो रामलाला* (जीवित बाघ का कलेजा नहीं मिलता रामलाल!) –हा, हा!

इस तरह संवाद के चलते हा, हा की समवेत गूँज के बीच दर्शक *ठोडा* का आनंद उठाते हैं।

व्यंग्य की भाषा में प्रकट किए गए चुनौतीपूर्ण ताने ठोडा लोकनाट्य

के बीच खेला जाता है। ठोडा खेलने के इच्छुक लोग दूसरे दल के लोगों को आमंत्रित करने के लिए, उनके गाँव के देव स्थल या सार्वजनिक जल-स्रोतों के समीप कुछ टहनियाँ रख देते हैं और स्वयं गाँव की सीमा के बाहर खड़े होकर गाँव के खूँद (दल) को *ठोडा* खेलने के लिए पुकारते हैं। गाँव के प्रमुख लोग मिलकर सभा (खुंमली) करते हैं और सहर्ष *ठोडा* का निमंत्रण स्वीकार करते हैं। निश्चित दिन ग्राम देवी-देवता की पूजा-अर्चना के बाद आशीर्वाद प्राप्तकर खेल के लिए प्रस्थान करते हैं।

गंतव्य स्थान पर जाने के लिए सभी प्रशिक्षित *ठोडा* खिलाड़ी एवं अन्य ग्रामवासी गाँव की ठौड़ (खूंदों की वीरता का प्रतीक स्थल) पर एकत्र होते हैं। ढोल-नगाड़े, शहनाई, करनाल, दमामा आदि की समवेत धुन के साथ ग्रामवासी हाथ में लम्बे डंडे, धनुष-बाण, तलवारें, डांगरू उठाए *ठोडा* ताल पर नाचते हुए आगे बढ़ते हैं। ऐसे अवसरों पर युद्ध गीत भी गाए जाते हैं–

बीशू लाला रिजटै, मोरनै रा खेलौ भाईया
घीऊ जौलौ धैवलियै, बाटी दो न तेलौ भाईया
जागह बड़ी नाऊऔ री, हिंवणौ रो पाणी भाईया
ठाहरि मूलै ठेकरे खुमलि न पाणी भाईया
जागह उतरि नाऊ औ री, देखौलै कीशौ भाईया
डेवे न खूंदा बिशूऐ, हारैत न दीशौ भाईया
फागिया लाए कोलिया नगारे दे न काछू भाईया
बौढ़ा हुंदा खौशिया फिरदा नी पाछू भाईया
एहरो लागा बोलदा सैरणटा ज्याला भाईया
लाणी दा एथा कडलै छोड़ना मोहाला भाईया
ऊँची जागह नाऊऔ रि कियाऔ मुहाला भाईया
सूता हुंदा खौशिया जिलकि न जाला भाईया

अर्थात् चौपाल में रेंजटा जगह पर बिशु का मेला जुट रहा है। इस मेले में विरोधियों से झगड़ा होगा। नाऊ गाँव ऊँची जगह पर स्थित है। वहाँ बर्फ़ का ठंडा पानी बहता है। गाँव के वीर लोगों (खूंदों) ने पंचायत में निर्णय लिया है कि विरोधियों से डटकर मुकाबला होगा। सभी तैयार होकर चलें। फागी को नगाड़े उठाने के लिए कहा गया। वीर पुरुष (खशिया) जब रणभूमि की ओर चल पड़ते हैं, तब पीछे नहीं हटते। अन्य सारे साथियों को तैयार करने के लिए बंदूकों को हवा में दाग दिया गया।

ऐसे ही अनेक युद्धगीत गाते हुए, युद्धताल पर नाचते हुए गाँव के वीर लोग उत्सव स्थान पर पहुँच जाते हैं। वहाँ पर रंग-बिरंगे वस्त्र पहने दर्शक *शाठी* और *पाशी*

के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। कभी-कभी ठोडा खेल के नियमों का उल्लंघन करने के कारण दो दलों में तलवारें, डांगरू और लाठियाँ भी चल पड़ती हैं।

प्रत्येक गाँव के मेले में जहाँ ठोडा खेला जाता है, आमंत्रित खिलाड़ियों व ठोडा दल के सभी लोगों का रात-भर विशेष अतिथि सत्कार होता है। आमंत्रित लोगों को मेलेवाले ग्राम समूह के सभी घरों में बाँटकर रखा जाता है।

वैसे तो ठोडा प्रदर्शन के लिए वैशाख का महीना उचित समझा जाता है, परंतु विशेष आयोजन होने पर आषाढ़, सावन, भादों महीने में भी इसका आयोजन सम्भव है।

शिमला तथा सिरमौर के कई स्थानों में ठोडा के खेल का विशेष आकर्षण रहता है। कुछ स्थानों में देवता द्वारा यह खेल बंद कर दिया गया है। जैसे कोटखाई में घियाल परगना में यह पिछले 150 वर्षों से वर्जित है। कहते हैं कि लगभग 150 वर्ष पहले 'रामौ री कराली' मैदान में ठोडा का प्रदर्शन हो रहा था; प्रधान देवता 'बेंद्रा' के साथ गाँव मंझोली का 'डूम' देवता भी आमंत्रित था। खेलते समय किसी खिलाड़ी का बाण प्रतिद्वंद्वी की जगह डूम देवता के मोहरे के गाल पर लग गया। देवता बहुत कुपित हुआ और उसने ठोडा का प्रदर्शन अपने क्षेत्र में बंद करवा दिया।

बूढ़ा

बूढ़ा शिमला जनपद का प्राचीन परम्परागत गीति-नाट्य है। इस नाट्य की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं। बूढ़ा प्रायः बूढ़ी दिवाली के आस-पास प्रदर्शित होता है। परम्परा के अनुसार गाँव के दलित लोग नृत्य-दल बनाकर लोकवाद्यों की मधुर गूँज के साथ, विशेषकर उन घरों में नाचते-गाते हुए जाते हैं, जहाँ उस वर्ष के दौरान पुत्र जन्म हुआ हो या अन्य कोई शुभ घटना घटी हो। बूढ़ा द्वारा वे अपनी शुभकामनाएँ अभिव्यक्त करते हैं और घर का मालिक उन्हें अनाज, वस्त्र और पैसे देकर पुरस्कृत भी करता है।

इस गीति-नाट्य दल में दस से पचास तक सदस्य रहते हैं। संगीत वाद्यों में ढोलकी, खंजरी, हुड़क, डमरु, ढोल, चंकू, बांसुरी और शहनाई आदि बजाये जाते हैं। ये लोकगायक दल पहले ग्राम-देवता के प्रांगण में देवगाथा गाते हैं और नाचते हैं। लोकवादक एक ओर बैठ जाते हैं और खंजरी की तान पर किसी घटना का गाथा रूप में बखान प्रारम्भ कर देते हैं। दल के अन्य सदस्यों में से कुछ रंगीन मिट्टी से पुते लकड़ी के मुखौटे पहन लेते हैं और गाथा-गीत में वर्णित घटनाओं पर मूक अभिनय प्रस्तुत करते हैं। संगीत और प्रणय बूढ़ा लोकनाट्य के प्रमुख संघटक हैं।

सिंह

बूढ़ा गीति-नाट्य के साथ-साथ शिमला जनपद में *सिंह* लोकनाट्य भी प्रचलित रहा है। यह नृत्य-नाट्य का रूप है। यह प्रायः वैशाख के दिनों में प्रदर्शित होता है। इसे भी स्थानीय दलित जातीय कलाकारों द्वारा प्रदर्शित किया जाता रहा है। बूढ़ा की तरह इसके प्रदर्शन के लिए किसी विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। यह भी प्रायः ग्रामदेवता के मंदिर के सामने खुली जगह पर प्रदर्शित होता है। कुछ लोकगायक स्थान विशेष के एक ओर बैठकर खंजरी की तान पर गाथा-गीत का गायन प्रारम्भ कर देते हैं। तभी अभिनेता शेर का मुखौटा पहने उपस्थित हो जाते हैं और खंजरी की ताल पर लोकनृत्य प्रदर्शित करते हैं। वे प्रायः मूक अभिनय करते हैं। केवल 'हू', 'हू' ध्वनि करते चलते हैं।

सिंह नृत्य-नाट्य में गाथा-गीत द्वारा स्थानीय घटनाओं का वर्णन होता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता रहती है। इस लोकनाट्य में सामाजिक विसंगतियों को साधारण लोक भाषा में अभिव्यक्त किया जाता है। इसमें हास्य-व्यंग्य का भी सम्मिश्रण रहता है। लोकगीत कुछ इस प्रकार है–

उतली चाम्बा-चौंरी, चौंरी मूले पाणी।
नोएं भलावी देवसिया राजै केरी राणी॥
तू तो चोले था देवसिया थाली-मगाली मेरै।
हाण्डका ठीकरा कोष्टा देखियौ आथू तेरै॥
तू बोलै देवसिया पौन्द्रौ सूई गावी।
लिण्डै बौलद हाण्डीया थौरटै लावी॥...

अर्थात् हे प्रियतम! तू तो कहता था कि तू मुझे रानी बनाएगा। कहता था कि घर में चाँदी का थाल है, पर वहाँ तो मिट्टी के ठीकरे और लकड़ी के कोष्टे हैं। कहाँ हैं तेरी वह पंद्रह गायें? तेरे पास तो दुमकटा बैल भी नहीं।

एक अन्य कथा-गीत में ग्राम्य युवती और किसी रावल परिवार के युवक की प्रेमकथा का वर्णन आता है। युवती का पिता रावल परिवार की बुराई करता है। रावल बुरे लोग हैं। वे भिक्षा माँगते हैं। परंतु युवती पर पिता की सीख का प्रभाव नहीं पड़ता। वह उस युवक के साथ प्रेम विवाह कर लेती है। कुछ दिनों बाद प्रेमी उसे छोड़कर भाग जाता है। तब लड़की को पछतावा होता है। वह पिता से क्षमा याचना के साथ-साथ अफीम खाकर मर जाने की या गले में रस्सी बाँधकर आत्महत्या करने की बात कहती है।

गायक कलाकारों के अतिरिक्त अन्य कलाकार मुखौटे पहनकर गीत के अनुरूप अभिनय करते हैं। स्त्री का अभिनय भी पुरुष कलाकार ही करते हैं। इस लोकनाट्य में स्थानीय घटनाओं का ही प्रदर्शन होता है। बाहरी विषय इसमें शामिल

नहीं किए जाते। अब ये लोकनाट्य कभी-कभी प्रदर्शित होते हैं।

स्वाँग

स्वाँग लोकनाट्य हिमाचल प्रदेश के अनेक जनपदों में विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया जाता है। कहीं यह एक दृश्य या अंग के रूप में होता है और कहीं स्वतंत्र रूप में। यह ठेठ ग्रामीण मनोरंजन है। हास्य-व्यंग्य द्वारा जीवन के सत्य का उद्घाटन करना इसका मूल उद्देश्य रहता है। जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, यह असल का नकली रूप है। किसी घटना, सम्बंध, चरित्र, रिवाज़, फैशन आदि का नकल द्वारा प्रदर्शन किया जाता है। इसमें कथोपकथन गौण और व्यंग्य प्रधान रहता है। शिमला ज़िला में स्वाँग लोकनाट्य विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया जाता है। दीवाली की रात, बूढ़ी दीवाली, चढेउली, संक्रांति आदि त्योहारों पर इसका प्रदर्शन किया जाता है।

ऐसे अवसरों पर लोग खंजरी, नगारा, हुड़क, दमामा की ताल पर नाचते और गाते हैं। जहाँ स्वाँग प्रदर्शित होता है, वहाँ एक बड़ा घियाना या अलाव जलाया जाता है।

स्वाँग लोकनाट्य में प्रायः दो-चार कलाकार ही होते हैं, जिनमें कुछेक मुखौटा पहने होते हैं। स्त्री-पुरुष, सास-बहू, जवांई-सास, नम्बरदार, साहब-मेम जैसे स्वाँग होते हैं।

स्वाँग की एक झलक का हिन्दी रूपांतर है–

पुरुष : तू कौन?

स्त्री : मैं नन्हकू की सास हूँ। (दर्शकों में से किसी का नाम)

पुरुष : क्यों आई है?

स्त्री : अपने जवांई राजा को मिलने। बहुत दिन से मिली नहीं।

पुरुष : क्यों मिलना चाहती है?

स्त्री : उसे समझाऊँगी कि मेरी लड़की उससे दुखी है। वह शराब पीता है, भांग पीता है। दूसरी स्त्री के साथ घूमता है।

पुरुष : वह तो कहता है तुम्हारी बेटी कुछ काम नहीं करती। जवांई की माँ से अच्छा व्यवहार नहीं करती। नए सूट-बूट माँगती है।

स्त्री : तो क्या हुआ? ज़माना बदल गया है। स्वयं पुरुष नए फैशन करता है। काम नहीं करता। अपने व्यवहार का ज्ञान नहीं। नारी को दासी बनाकर रखना चाहता है। वह भी उसकी तरह पढ़ी-लिखी है। वह भी क्यों ऐसा करे। वह भी आज़ादी चाहती है। मेरा जवांई नन्हकू कहाँ है? मैं उसे खोज रही हूँ।

पुरुष : वह तो कहीं सुल्फे का दम लगा रहा होगा।

इसी तरह स्थानीय परिवेश के अनुकूल स्वाँग की बातचीत और अभिनय होता है।

इन सभी लोकनाट्यों के कुछ चरित्र केवल झलक दिखाकर कहीं गुम हो जाते हैं और कुछ केवल दर्शकों के मनोविनोद के लिए प्रकट होते हैं। साहित्यिक नाटकों की तरह इन नाटकों का उद्देश्य चरित्र चित्रण कभी नहीं रहा।

स्वाँग, सिंह और बूढ़ा जैसे लोकनाट्य, पहाड़ी लोकमानस की प्रवृत्तियों, कल्पनाओं और क्रियात्मक-अनुभूतियों के सहज रूप हैं। इन सब लोकनाट्यों की उत्पत्ति, विकास और प्रसार में लोकविश्वास, लोकाचार, धार्मिक रूढ़ियाँ, लोक-परम्पराएँ, पूजा भावना और लोकानुरंजन के उद्देश्य रहते हैं। इनकी प्रत्येक प्रस्तुति द्वारा ग्राम्य जनता आज भी श्रव्य एवं दृश्य लोककाव्य का रसास्वादन सहज ही कर लेती है।

शिमला ज़िला के ये लोकनाट्य अनेक शैलियों में जनसाधारण के सामने प्रदर्शित किए जाते हैं। इन शैलियों में लीला, स्वाँग, भांड, गुरु-चेला, नृत्यगीत इत्यादि हैं, जिनमें आडम्बर हीन रंग-मंच, पूर्वाभास का अभाव, दर्शक और अभिनेता के बीच सामंजस्य, बाह्य प्रसाधनों की कमी, प्रतीकों का महत्त्व जैसी विशिष्टताएँ मिलती हैं।

लोकनाट्यों की परम्परा को सुरक्षित रखने, उन्हें पुनर्जीवन देने के लिए यदि इस अँचल के नाटककार कुछ प्रमुख और लोकप्रिय लोककथाओं और लोकगाथाओं को आधार मानकर आधुनिक संदर्भ में लोक मंचीय प्रस्तुतियाँ तैयार करते हैं तो यह सार्थक प्रयास होगा।

सिरमौर के लोकनाट्य

सी.आर.बी. ललित

यह बात निर्विवाद है कि किसी भी संस्कृति का निर्माण न तो एक दिन में होता है और न एक व्यक्ति के द्वारा ही। संस्कृति में किसी बड़े जन-समुदाय विशेष के दीर्घकाल के जीवनानुभव का निचोड़ होता है, जिसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी मान्यता मिलती है। समाज के सामूहिक आचार-व्यवहार के तत्त्व मेलों, उत्सवों और त्योहारों में परम्परागत तौर से देखने को मिलते हैं। हिमाचल प्रदेश के सिरमौर ज़िला में भी ऐसे अवसरों पर वहाँ की संस्कृति मुखर होती है। ये मेले-उत्सव-त्योहार सिरमौरी जीवन और समाज को पृथक् सांस्कृतिक पहचान प्रदान करते हैं। सिरमौर एक प्राचीन ऐतिहासिक जनपद है, इसलिए यह लोक साहित्य एवं संस्कृति की दृष्टि से समृद्ध क्षेत्र है।

जन मानस में अटके पौराणिक प्रसंगों के कारण यहाँ की लोक-संस्कृति आज भी समृद्ध है तथा इस जनपद में प्राचीनकाल से ही आर्य-अनार्य संस्कृति का द्वंद्वात्मक रूप रहा है। तहसील पच्छाद, रेणुका, पौंटा में स्पष्ट रूप से खश, नाग आदि जातियों का अधिक प्रभाव रहा है, जबकि गिरिपार क्षेत्र में सांस्कृतिक परम्पराएँ आज भी महाभारत काल की याद ताज़ा कराती हैं। यहाँ अब भी 'शाठी-पाशी' कहलानेवाले खश लोग अपने को कौरवों और पांडवों से जोड़ते हैं। इस तरह परम्परागत समृद्ध संस्कृति की पकड़ यहाँ के लोकमानस पर कायम है, जिसकी झलक यहाँ प्रचलित लोकनाट्यों में भी देखने को मिलती है।

सिरमौरी लोकनाट्यों में *नाटी-गीह, रासो या रासा, ठोडा, करयाला, मौण, स्वाँग* आदि प्रमुख हैं। इनमें नाटक और नृत्यों के सम्मिलित गुण पाए जाते हैं। नाट्यों के साथ इनमें कुछ नृत्य-नाट्य भी हैं। इनकी सबसे बड़ी खासियत यह है कि इन लोकनाट्यों में प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकतानुसार किसी भी पात्र की भूमिका निभाता है। यह कार्य वह प्रायः अपनी पसंद तथा योग्यता के अनुसार करता है।

लोकनाट्य में शामिल प्रत्येक कलाकार अपने किरदार को बिना विशेष पूर्व तैयारी के और बिना निर्देशन व संवाद याद किए ही सहज रूप में निभाता है। लोकनाट्यों में प्रयोग की जानेवाली भाषा सर्वसाधारण की होती है, जिसमें वाक्पटुता का विशेष आकर्षण रहता है। कथोपकथन एवं संवाद चातुर्यपूर्ण व चुटीले होते हैं।

इन लोकनाट्यों–विशेषकर **स्वाँग** या **करयाला** में प्रस्तुति के दौरान प्रयुक्त होनेवाली बहुत कम सामग्री बाज़ार से खरीदी जाती है। ज़्यादातर वेशभूषा या अन्य उपकरणों में स्थानीय सामग्री ही प्रयोग में लायी जाती है। अभिनय के लिए फटे-पुराने कपड़ों का प्रयोग किया जाता है, जिन्हें रोज़मर्रा के प्रयोग में लाई जानेवाली वस्तुओं व अन्य उपादानों को जोड़कर अधिकाधिक विस्मयकारी बना दिया जाता है।

लोकनाट्यों का मुख्य उद्देश्य यद्यपि लोगों का मनोरंजन करना रहता है, परन्तु समाज में घटित प्रमुख घटनाओं का टिप्पणी सहित विवरण भी इनमें दर्शकों को दिया जाता है। खासकर **स्वाँग** या **करयाला** में कथ्य की विविधता के बावजूद उसमें एक निश्चित क्रम ज़रूर रहता है। इस लोकनाट्य में मनोरंजन के साथ-साथ दर्शकों के ज्ञानवर्धन की सामग्री भी रहती है। देश-विदेश की बातें, वहाँ के निवासियों का परिचय, उनका रहन-सहन, जंगली जीव-जन्तुओं की विशेषताओं आदि की जानकारी भी इसमें प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार सिरमौर के ये लोकनाट्य भी जनता के सामूहिक मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन के उद्देश्य से खेले जाते रहे हैं।

शाठी और पाशी द्वारा प्रस्तुत किया जानेवाला युद्ध नृत्य-नाट्य **ठोडा** कौरवों व पांडवों के बीच हुए युद्ध की स्मृति में आयोजित किया जाता है। *ठोडा* यहाँ फलरहित शर अथवा तीर को कहते हैं। इसमें तीर और कमान का प्रयोग होता है। यह मेले-त्योहारों के अवसरों पर खेला जाता है। *ठोडा* नाट्य, नृत्य व खेल का समंजित रूप है। खासकर बिशू मेलों में यह लोकनाट्य अवश्य होता है। इसे खेलनेवाले विशेष प्रकार के मोटे ऊनी सुथण अथवा चूड़ीदार पाजामे पहनते हैं। उनके हाथों में बड़े-बड़े तीर-कमान होते हैं। दो-दो खिलाड़ी जोड़ी बनाकर बारी-बारी से तीर चलाते हैं। इनमें से एक अपने तीर-कमान से दूसरे पर निशाना साधता है, जो उसकी ओर पीठ किए हुए नाचता-बचता रहता है। वह निशाना केवल घुटनों के नीचे ही लगाना होता है।

बिशू मेले में शामिल होने के लिए समूह में जाते हुए प्रस्तुत की जानेवाली ललकारपूर्ण 'हाँकें' विशिष्ट अभिनय का ही रूप है। बिशू मेले का सारा खेल दो दलों के नृत्याभिनय से परिपूर्ण होता है, जिसमें एक दल कौरव पक्ष का अभिनय करता है तथा दूसरा पांडव पक्ष का। ये बिशू मेले सिरमौर के गिरिपार क्षेत्र में चैत्र मास में तथा साथ लगते शिमला के चौपाल, ठियोग आदि क्षेत्रों में बैशाख से आषाढ़

मास तक मनाए जाते हैं। इनमें 'खूँद' कहलानेवाले खशों के एक कबीले की ओर से दूसरे प्रतिद्वंद्वी कबीले को 'बाड़' कर यानी आमंत्रण द्वारा अपने बिशू मेले में **ठोडा** खेल के लिए आमंत्रित किया जाता है और अपने मित्र कबीलों को भी 'नियूंदा' अर्थात् निमंत्रण देकर आमंत्रित करते हैं। ये सभी कबीले निर्धारित तिथि को मेले के मैदान में ढोल-नगाड़े बजाते व बंदूकों-तोपों (बंटू-बजरों) से मोहाले (धमाके) करते हुए पदार्पण करते हैं, जहाँ स्थानीय कबीले के खशों द्वारा निर्मित व्यूह का भेदन प्रतिद्वंद्वी कबीले के सूरमाओं को करना होता है। मित्र कबीला ब्यूह को बाहर से लाँघकर जाने की इजाजत दे देता है, किन्तु 'बाड़' कर बुलाए गए खूँद के साथ लाठियों, डांगरों (फरसों) तथा बंदूकों से लैस स्थानीय खश योद्धा बाहों की सांकल बनाकर दीवार की तरह खड़े हो जाते हैं। आमंत्रित खूँद की तरह इस बाधा को लाँघ कर पूरे मैदान का नाचते-गाते, हुँकारते-ललकारते, लाठियाँ-बंदूकें लहराते हुए चक्कर लगाते हैं।

इस शक्ति-प्रदर्शन में कई बार जोश की ऐसी लहर दौड़ पड़ती है कि नाचती-उचकती लाठियाँ प्रतिद्वंद्वी दल के सदस्यों के सिरों को फोड़ देती हैं, परन्तु ऐसा तभी होता है जब इस युद्ध-नाट्य के नियमों का कोई दल उल्लंघन कर देता है। ऐसी स्थिति तब भी आती है, जब जुबड़ी यानी मैदान का व्यूह भेदकर फेरा लगा लेने के बाद दो प्रतिद्वंद्वी दलों के धनुर्धर ढोल, नगाड़े, करनाल व शहनाई से सज्जित युद्ध-संगीत पर नाचते-झूमते हुए, एक-दूसरे की सूथण यानी ऊन के चूड़ीदार पाजामे की मोटी परत से संरक्षित टाँगों के घुटने और टखने के मध्य की मांसल पिंडलियों पर फल रहित बाणों अर्थात् 'शरियों' से निशाने साधते हैं। वार सहनेवाला खिलाड़ी निरंतर नृत्य करता हुआ, शरों के वार से अपनी टाँग बचाता हुआ धनुर्धर के सामने उछलता-बचता रहता है और धनुर्धर उसकी पिंडली अर्थात् 'माछले' पर शर-संधान कर फलरहित *ठोडा* छोड़ देता है। तीर लगा तो धनुर्धर हर्षध्वनि के साथ अपनी, अपने वंश, कुलदेवी तथा कबीले की प्रशस्ति करता हुआ, सामनेवाले प्रतिद्वंद्वी को धिक्कार-ललकार कर नाचता है। तीर चूक गया तो ऐसा ही हर्षनाद तीर से बचनेवाले का होता है।

अगली बार धनुष में बाण दूसरा खिलाड़ी साधता है और पहलेवाला धनुर्धर उसका वार झेलने के लिए उसके सम्मुख आकर बचना-उछलना आरंभ कर देता है। जब पूरे मैदान में अनेक जोड़े इस युद्ध-नृत्य में तल्लीन होते हैं तो समराँगण का-सा दृश्य बनता है और वातावरण योद्धाओं की ललकारों से गुँजायमान हो जाता है। यहाँ भी युद्ध के नियमों का उल्लंघन, इस युद्ध-नाट्य को वास्तविक युद्ध में बदल सकता है। ऐसा तभी होता है जब कोई धनुर्धर टखने तथा घुटने के मध्य पिंडली से ऊपर, जाँघ या पीठ पर शर से ज़ख्म करके अपने

प्रतिद्वंद्वी को घायल कर दे। ऐसा यदि भूल से हो जाए और प्रतिद्वंद्वी एक रुपये का दंड लेकर उसे क्षमा कर दे तो बात आगे नहीं बढ़ती, अन्यथा दोनों 'खूंदों' यानी दलों के बीच युद्ध की स्थिति बन जाती है।

धनुषबाण (फलरहित-ठोडा) उचकाते हुए 'ठ़ठौरी' (ठोडा खिलाड़ी) प्रतिद्वंद्वी योद्धा को कुछ इस प्रकार हर्षनाद करता हुआ ललकारता है–

पुज़ी गोआ मेरिया बौरिया, उची घरौ रा
खशीया जुब्बड़ौ दा...!
मेरी धाह शूणे मेरिया पाशड़ा/शाठड़ा
शिगड़े जुब्बड़ी दा पुजणेरी...!

पुज़ी गोआ मेरिया शाठिया/पाशिया ताखे ठोठौरी जुब्बड़ी दा!
धौणू बेली पड़जौ शरी मोर रै पाखै
उबो लाए मेरिया सूथणौ हांऔं जुब्बडी दा ताखै!

मैदान में अपने पहुँचने की धमक और प्रतिद्वंद्वी के लिए धनुष-बाण खेलने की चुनौती इन ऊँची ललकारों में स्पष्ट है। ठठ़ौरी अपनी शेखी यों मारता है–

भुला गोआ मेरिया छोटुआ! ज़ै आखिये ना
देखा थिया न, काने भी शुणा थिया!

केथा फौशा मेरिया छोटुआ!
पोरा डियो घरौ खै ऐजे तेरे न सौंहिदै शाठी दे ठोठे!

भुलियौ लागा मेरिया भुलियौ, सिंहौ संगै
सूईणी लागोली सुईणी एजे कौउड़े दै खेलने आलै!

जब 'ठठौरी' का शर-प्रहार चूक जाता है तो बचनेवाला प्रतिद्वंद्वी भी कुछ यों शेखी बघारता है–

ठोठे शिखदा डियो मेरिया छोटुआ!
तबे आए जुब्बड़ी दा शाठी/पाशी रे धुरे!
लागदी ने मेरिया तेरे लागदी अपने
बाबे आस धरीये!

बाइबो लागा मेरिया बाइबो छोटुआ!
घौरे डियो मेरे बेठु आगे घौणू बेलदा!

कभी-कभी तो यह रात-रात भर चलता है। विशेषकर त्योहारों, मेलों, पर्वों, उत्सवों पर लोग इसमें ज़्यादा रुचि लेते हैं। जातर, चड़ेवली, दीवाली, हरणातर आदि के आयोजनों पर मालानृत्य के साथ बीच-बीच में स्वाँग भी खुले मैदान में ही खेले जाते हैं, जिससे पूरे आयोजन में विविधतापूर्ण मनोरंजन प्रस्तुत होता है।

यद्यपि **बरलाज** प्रमुख रूप में वर्तमान ज़िला शिमला और सोलन का एक लोकप्रिय लोकनाट्य है, लेकिन यह सिरमौर ज़िला में विशेषकर गिरिपार के क्षेत्र में भी उतना ही लोकप्रिय है। इसका आयोजन प्रमुख रूप से दीवाली, एकादशी, दयोठन, शरदपूर्णिमा और अमावस्या आदि के अवसर पर होता है। बूढ़ी दीवाली के दूसरे दिन क्षेत्र के कलाकारों का दल गाते, हुड़की-दमामे बजाते हुए सभी सम्पन्न परिवारों से दीवाली के उपहार प्राप्त करता है।

हारूल सम्बंधित खूँद यानी कबीले के पूर्वजों की शौर्यगाथा होती है। एक *हारूल* जो शिलाई व कोटीबूँछ के खूँद कबीलों से सम्बंधित है, कुछ इस प्रकार है–

कोटीयों दू बोंइचोखे देई लाई धाऔ
नामा सयाणा हिरंदा मेलोखे आअरै
लाए मेरिया ढाकिया नगारे दी काछु
मेल करो दाइयो खलाण्डय दू पाछु
भौड़ लागा शुईया शिलाइयो खे जाई
बजे छाड़ी दुनिए खे राम राम शाई
म्हारी दा गुआ भौड़ा सिंगा केथिये आई
रंगरूपीये मुं छोड़ा तुओ आगे लाई
धरती गुपाली मारी किंदी रई जाई
बीजी मेरी गइणिये बशैलू पाणी
धरती गोपाली तेरी हामें ना जाणी
सेरी दी शिलाई ढौलौ ढांगैरी रोली
ताखे खशा सिंगटोउआ मोटी मौसोली
भोड़ लागा शुईया पाछू बौंइचोखे आई
बातो छाडी सिंगटोऊ खे शुणाणी लाई
बातो छाडी सिंगटोऊए आपू मुज़ी लाई
दू झणें हमारके पान्डै बागने खे जाऔ
राजू दीयो पण्डतौ ऐबे पूछना लाऔ
तूए भाटा राजुआ हामों मूजी सींजौ
ठांटी पा तू झगड़ा हमारा लाए न नीज़ो
मेल छाड़ी राजूऐ तबै बागने बुलाई

ओ मेरी काश्कीये, पौशे डियो
मेरिया पौशे!

हाकें असल में अपने वीरों और पूर्वजों की प्रशस्ति में सामूहिक रूप से लगाई गई हुँकारे हैं। इस बीच लोक-वाद्य बजते रहते हैं और साथ चलनेवाले लोग उछल-उछल कर नाचते हैं। इन हाकों में ठोडा नर्तक की शब्द चयन और जुबान की क्षमता भी अपना प्रभाव दर्शाती है। अन्य मेलों के अवसरों पर **हाका** लोकनाट्य शाठी व पाशी खश सूरमाओं द्वारा *ठोडा* नृत्य में पेश किया जाता है।

रासा लोकनाट्य रेणुका, पच्छाद, जुब्बल, बलसन और जोंनसार-बाबर के क्षेत्रों में अधिक प्रचलित है। इसमें पुरुष व स्त्रियाँ एक-दूसरे की बाहों में घेरा डाल कर, सामूहिक रूप से नाचते हैं। इसमें श्रीकृष्ण और गोपियों का अभिनय होता है और गाँव के आँगन में ढोल, हुड़की अथवा खंजरी की खनक के साथ गाँव के युवक-युवतियाँ दिन भर की थकान 'रासा' की थिरकन के साथ मिटाते हैं। नृत्य के साथ-साथ गीत भी गाते हैं। यह एक तरह का नृत्य-नाट्य है। जब यह लोकनाट्य त्योहारों, मेलों तथा उत्सवों के अवसरों पर किया जाता है तो इसमें भाग लेनेवालों की खास वेशभूषा रहती है। कढ़ाई की हुई लम्बी सफेद चोलियों के साथ में चूड़ीदार पाजामा, सिर पर टोपियाँ अथवा पगड़ियाँ पहनी जाती हैं। लोकनाट्य में प्रयुक्त होनेवाले प्रमुख वाद्ययंत्र हैं—हुड़की, नगारा तथा रणसिंगा। नर्तक हाथों में तलवार, डांगरा, डिंगा (लाठी) अथवा रुमाल लिये नाचते हैं।

नाटी अथवा **गीह्** इस क्षेत्र का विशेष नृत्य-नाट्य है। यह तमाम खुशी के अवसरों पर किया जाता है। यह नाट्य दिन अथवा रात्रि किसी भी समय किया जा सकता है। पुरुष और स्त्रियाँ मिलकर इसमें नाचते हैं। वैसे तो यह हर मौसम का नृत्य-नाट्य है, लेकिन दीवाली के बाद से गर्मियों तक गाँव-गाँव में नाचा जाता है। इस वक्त यह दो रूपों में होता है। कभी-कभी तो स्त्रियाँ और पुरुष इसमें सामूहिक रूप से भाग लेते हैं और कभी-कभी सिर्फ पुरुष ही एकत्र होकर इसका आनंद लेते हैं। मायके में मेहमान आई हुई गाँव की बेटियाँ यानी 'ध्याणें' इसमें विशेष रूप से नाचती हैं। इस नृत्य में ढोलक, खंजरी, दमामे, गुजू, करनाल तथा घड़े आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है। शेष दर्शक और गायक ताली बजाकर नर्तकों को उत्साहित करते रहते हैं। ये तालियाँ एक विशेष ताल के साथ बजाई जाती हैं।

नाटी और *गीह्* में तनिक अंतर है। यदि नृत्य करते समय अंगों की लोच और थिरकन में विशेष गणित की पद्धति अपनाई जाए तो इसे *गीह्* कहते हैं। *नाटी* की अपेक्षा *गीह्* में नृत्यकला के तत्त्व अधिक रहते हैं। नृत्य के साथ-साथ दर्शक और गायक बीच-बीच में विशेष ध्वनियाँ निकालकर नर्तकों का उत्साह बढ़ाते हैं।

छुने गुए फिरको बागने आई
बात छाड़ी मेलके दी राजुए लाई
ठांटी पाओ तुए झगड़ा रोटी पाओ खाई
रोटी पाओ खाईयो बे मितरी लाई
दूइये फिरके पीआ झगड़ा ठांटी
मनीये ओ बक्से रे ई पड़ीने गांठी
मनीये जो बक्से दिए नाचियो फेरै
एजी बाते दाइयो बै ढौबी न मेरे
नाची गुआ नाचियो बे सामने आई
पाइलूकी बक्शे दुनिये दी लाई
लागी गुआ दुनिया तू बक्से रे खेलै
पोइली की डांगरे दुअड़ी रे ठेले
खेड़ै दी बागने बुरासौरी बुटी
नौ-नौ लाई डांगरे एक बी न छुटी
दशी लाई डांगरे जुल्फु नुटी
बाजा काटे दुनिया गुआ साहनिया छुटी
छुटा बादू साहनिया शिलाई गोआ हुटी
दाय छाडी भाई खे सानुकौ पाई
बाजा रूऐ दुनीयौ घाईल जाई
तेई चालौ थागदे तेई करो पड़ाई
दाइये ने भाइये ढील बने पाई
थान लिए मौसरू गुदरी दे पाई
बाजा काटे दुनियाँ जियं केले रे गुबी
शुणू बाबै बीजारामे खड़ी आऔले डूबी
बाबा रूआ दुनियारा चुणौला पोलू
तांदू आगे बेटीया थ्याय मरना ठौलू
जोरू रूऔ दुनीयैरी दियोली चान्डौ
जोरू चाणी दुनीयैरी बोइरियै रान्डौ
रूणैरू छाडू इणीकू खशणिये लाई
म्हारै रूऐ मालका निबदलै जाई
ढोकी होला जीन्दवाण धर्मरा भाई
हमारा देणा बदला कोटी बौंइचौ उगाई।

इस हारूल में कोटी और बूँछ दो गाँवों के खूँद पूर्वजों की शौर्यगाथा है।

ऐसी *हारूल* यानी गाथाएँ काव्य और गायन के दुहरे प्रभाव के साथ प्रस्तुत की जाती हैं।

बरलाज का आयोजन प्रायः देवस्थल पर होता है और पूरी-पूरी रात चलता है। प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में देवस्थल में देव-खेल होता है और गूर 'नमाले़' (लोगों की समस्याओं के समाधान) देता है। एक व्यक्ति विशेष यानी 'गूर' में देवता उतरता है और उससे पूछे गए प्रश्नों के उत्तरों को 'नमाले' देना कहते हैं। खुले देव-प्रांगण में आयोजन शुरू होने से पूर्व समिधा जलाई जाती है, जो सारी रात जलती रहती है। इसे 'गीठा', 'घ्याना' अथवा 'आउँड' कहते हैं। *बरलाज* के मुख्य अदाकारों की गिनती प्रायः चार रहती है। ऊन का कोट, तंग मोहरी का पाजामा और सफेद पगड़ी इन अदाकारों का पहनावा होता है। हर कलाकार के पास एक बल्लम-लाठी होती है, जिसे भूमि पर टेककर इसके धातु मढ़े ऊपरी भाग को दायीं बगल के नीचे दबाकर दायें हाथ पर सिर टिकाकर ये अदाकार दो-दो के दल बनाकर आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। दर्शक श्रोता 'गीठे' के चारों ओर खुले घेरे में बैठते हैं।

रमैणा, रथौल और **छोकड़ा**—ये बरलाज लोकनाट्य के तीन प्रमुख अंग माने गए हैं। *रमैणा* में रामचरितमानस अर्थात् लोक रामायण का कोई एक प्रसंग छंद-मुक्त पदों में लय से गाया जाता है। एक दल जो पद गाता है, दूसरा दल उसी को दोहराता चलता है। *रथौल* में *रमैणा* से आगे का प्रसंग सीधे एक ही स्वर में एक विशेष ढंग से सुनाया जाता है। एक दल एक-एक पंक्ति में प्रसंग विशेष को बढ़ाता जाता है और दूसरा उसे स्वीकारता है। *छोकड़ा* में *रथौल* के आगे का प्रसंग नृत्य के साथ सुनाया जाता है। इस नृत्य में मुख्य अदाकारों के साथ इच्छुक दर्शक भी दो-दो के दल बनाकर शामिल हो सकते हैं। *बरलाज* के इस *छोकड़ा* भाग में ढोल, करनाल, रणसिंगा आदि लोक-वाद्य भी प्रयुक्त होते हैं।

सिरमौर के प्रमुख लोकदेवता *शिरगुल* हैं, जिनका जन्मस्थान राजगढ़ के शावगा गाँव में है तथा मुख्य मंदिर चूड़धार पर है। *शिरगुल* देवता से जुड़े सभी आयोजनों, जिनमें *चिड़ेवली* भी सम्मिलित है, में सर्वप्रथम देवता का **लिम्बर** (गाथा रूप) गाया जाता है। एक व्यक्ति *लिम्बर* गाता है और बीसियों लोगों का समूह बाजू लहराते हुए, हो-हो अथवा होऊ-होऊ का नाद करता है। शिरगुल का लिम्बर इस प्रकार है—

चार धूरो... हो-हो,
पोण पाणी... हो-हो,
राजा भूकडू... हो-हो,
दुधमा राणी... हो-हो,
इशरे नाने... हो-हो,

धरती चाणी... हो-हो,
चाणी धरती... हो-हो,
लीये रिंगे... हो-हो,
चुड़ चुगट... हो-हो,
भिये टिम्बे... हो-हो,
तूरे दैवा... हो-हो,
दिलीये... हो-हो,
खाण्डू तेरू, खिलिए... हो-हो,
तू रे दैवा दखण दूर... हो-हो,
तेथीय भेटी सूइणे चूड़... हो-हो,
चुड़ी दू, चडुए दुबटी पाई... हो-हो,
मुझियो दिली पीपले पाई... हो-हो,
भाण्जे तेरे सासूले उब्बी उचाई... हो-हो,
उबी उचाइयो बाँचणी लाई... हो-हो,
भाण्जे तेरे सासूले उब्बी उचाई... हो-हो,
डबी उचाइयो बाँचणी लाई... हो-हो,
बाँची बुँची कागली खीसे पाई
ममीया बोलू शिरगुला, चुड़ीखे आई... हो-हो,
चूड़ तेरी दानवे खाई... हो-हो,
जुठा होइला जुठा ही आई
निवठा होईला निवठा आई... हो-हो,
दिली देवए दिती मार... हो-हो,
दानव मारे लाख हज़ार... हो-हो,
दिली देवए लाई पाड़ा वाका... हो-हो,
पोईड़ी दिली शिरगुले रावण लांका... हो-हो,
तोदी देवरा हाथ मुले... हो-हो,
शांई घोड़ी तोदी उपाई... हो-हो,
चमाठीये लाई... हो-हो,
छिटकी घोड़ी शाहड़े... हो-हो, आई
शाहड़ै देवौ किया भोज... हो-हो,
बाइश शो बाकरे एक ही रोज... हो-हो,
चौमाठीये लाई... हो-हो,
छिटकी घुड़ी... हो-हो,

राईके आई... हो-हो,
राईके राणे समझी पाई... हो-हो,
भेटौ मुरो सुने पाई... हो-हो,
चमाठिए लाई... हो-हो,
छिटकी घुड़ी पांवटे आई... हो-हो,
पांवटे दुणी पाड़ा हाला... हो-हो,
चुपे-चुपे बाणियौ पाडीनै हाला... हो-हो,
देऔ म्हारा चुड़ीखे चाला... हो-हो,
चमाठीए लाई... हो-हो,
छिटकी घोड़ी शावगे आई... हो-हो,
शावगे तेरे पाणी ताल... हो-हो,
भाइया बोलू छन्दा शीरा जुड़ीखै चाल... हो-हो,
ऐरू बोलू भाये तेरे... हो-हो,
काठूआ, फाफरा चुड़ीयै, खाई न बौलू... हो-हो,
जीरी झीन्ज़णी शावग री छौड़ी न बौलू... हो-हो,
ऐजी बातौ बोलियौ चुकी... हो-हो,
बीजो पाड़ी ढाक ढाली माई तेरी... हो-हो,
दुलमा, ऐरो बोलो... हो-हो,
आटी न शावगा जलमो ठाई... हो-हो,
चमाठीए लाई... हो-हो,
छिटकी घोड़ी आईणी आई... हो-हो,
कालै बाग, शरण्पी पाई... हो-हो,
पाछुखे देवेए नजर पाई... हो-हो,
माई तेरी दुदमागइलो आई... हो-हो,
दुदमा माई... हो-हो,
आइणी देवै... हो-हो,
शरण्पी पाई... हो-हो,

(आगे कथाक्रम के अनुसार–फिर शिरगुल मंदिर में गया और दानव के साथ युद्ध हुआ और उसे वहाँ से भगा दिया गया। शर्त पौड़ियाँ बनाने की भी रखी गई, जिसमें पौड़ी दानव न बना सका था और हारकर भाग खड़ा हुआ।)

सिरमौर के लोकनाट्यों में **करयाला** का प्रमुख स्थान है। यह दीवाली से आरम्भ होता है। इसके आकार, शैली और दृश्यों की कुछ बातें निश्चित हैं–*चंद्रावल़ी, साधु का स्वाँग*, नृत्य और कुछ समकालीन समस्याओं के नाट्य

आदि इसमें दर्शाये जाते हैं। ये हर करयाला में शामिल रहते हैं। मुखौटे करयाला के मुख्य उपकरण हैं। ये काठ, मिट्टी, बकरछाप अथवा कागज़ के बनाए जाते हैं। शिमला ज़िला के रामपुर क्षेत्र के मंदिरों में आज भी काठ के अनेक मुखौटे सुरक्षित रखे गए हैं, जिनका प्रयोग विशेष अवसरों पर आयोजित होनेवाले 'स्वाँग' में किया जाता है। करयाला में ऐसे मुखौटों के ज़रिए तरह-तरह के दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इन मुखौटों पर अधजले कोयले से भवें और दाढ़ी उकेरी जाती है और मक्की की मंजरी की मूँछें लगाई जाती हैं।

गाँव के खुले प्राँगण में *करयाला* या *स्वाँग* को किसी प्रकार के मंच या सज्जा की ज़रूरत नहीं पड़ती। यह खेल सायंकाल से शुरू होकर रात-भर चलता है। एक खुले स्थान का चयन करने के बाद उसके बीच आग का *आउँड* यानी अलाव जलता रहता है। उसी के इर्द-गिर्द *करयाला* या *स्वाँग* पेश किया जाता है। अलाव में जली इस अग्नि को पवित्र माना जाता है, इसे *धूनी* अथवा *घयाना* भी कहते हैं। कभी-कभी तो इस अलाव की रोशनी में ही *करयाला* का मंचन होता है। ज़मीन पर गाड़े गए डंडों और रस्सियों की सहायता से अखाड़े का निर्माण किया जाता है। अखाड़ा प्रायः चौकोर आकार का होता है। रस्सियों से घिरा यह स्थान ही करयालचियों का मंच है। इन्हें पर्दों की ज़रूरत नहीं रहती। उसी के साथ कुछ दूरी पर लटकाई गई चादरों की ओट में करयालचियों या स्वांगियों के तैयार होने का स्थान होता है। क्रीम-पाउडर के स्थान पर ये अदाकार राख, गेरू, चने अथवा चावल के आटे का लेप लगाकर मुख-सज्जा करते हैं। वेशभूषा में फटे कपड़े से लेकर पुरानी रस्सियाँ व बीउल वृक्ष अथवा पटसन के रेशे, ऊन, कपास तथा आड़ी-तिरछी लकड़ी या पेड़ की जड़ तक प्रयोग की जाती है।

नगाड़ा, करनाल, रणसिंघा, दमामट, चिमटा, बांसुरी, ढोलक, शहनाई, खंजरी और हारमोनियम करयाला के वाद्ययंत्र हैं। बजंतरी अखाड़े के एक कोने में बैठ जाते हैं। *बधाई ताल* से *करयाला* का प्रारम्भ होता है। ताल बजते ही *चंद्रावल़ी* अखाड़े में प्रवेश करती है। पुरुष ही नारी की वेश-भूषा में *चंद्रावल़ी* का अभिनय करता है। *चंद्रावल़ी* नटी है। वह बधाई ताल के बाद जंग और करयाला ताल पर अखाड़े में नाचती रहती है। नृत्य के साथ-साथ ये तालें धीरे-धीरे द्रुत गति पर पहुँच जाती हैं। कई बार *चंद्रावल़ी* के साथ एक अन्य पात्र भी रहता है, जिसे *सिद्ध कांटा* अथवा *डांगरा कांटा* भी कहते हैं। उसके हाथ में एक डांगरा रहता है। नाट्य आरम्भ होने से पूर्व अखाड़े में प्रायः यही कांटा मशालों अथवा दीपों को जलाता है। इस क्रिया को अखाड़ा बाँधना कहते हैं। इसका अभिप्रायः इष्ट देव को स्मरणकर करयाला के सफल आयोजन से होता है। अखाड़ा बाँधने की क्रिया मंत्रोच्चारण, वंदना या परिक्रमा से पूरी होती है। ऐसी मान्यता है कि

इससे आयोजन में दुष्ट नज़रों का प्रभाव खत्म हो जाता है और कोई विघ्न नहीं पड़ता; मंत्रोच्चारण के साथ अग्नि में *असत फेरा जाना* एक अनिवार्य क्रिया है।

चंद्रावली के वापिस जाने के साथ-साथ दर्शकों के बीच में से अथवा कहीं दूर की जगहों से रास्ता बनाते, भीड़ को चीरते, अलख जगाते हुए साधुवेश में अदाकार मंच की ओर आते हैं। ये साधु चारों दिशाओं से एक साथ मंच पर प्रवेश करते हैं। उनके लिए मंच प्रवेश का कोई निश्चित मार्ग नहीं है। वे कहीं से भी प्रकट हो सकते हैं। ऐसे में वातावरण में हलचल मच जाती है। लोगों में उत्सुकता बढ़ती जाती है। ये साधु मण्डली अपने कुशल अभिनय से लोगों का भरपूर मनोरंजन करती है और साथ ही कुछ अध्यात्म के सवाल-जवाब भी होते हैं।

करयाला अथवा *स्वाँग* नाट्य का कोई आलेख नहीं होता। उसके संवाद लिखित नहीं हैं। अदाकारों को अपनी बात तत्काल जुबानी ही कहनी होती है। उनकी हर बात में व्यंग्य होता है और वह अवसरानुकूल होती है। हाज़िर-जवाबी, वाक्पटुता और व्यंग्य *करयाला* की विशेषता है। कलाकारों को जो भी विषय प्रस्तुत करना होता है, उसकी उन्हें पूर्ण जानकारी होना ज़रूरी है। उस जानकारी को वह किस चतुराई से अभिव्यक्त करता है, यही उस कलाकार की अदाकारी है। ये काव्यात्मक संवाद छोटे, तीखे और परिहासपूर्ण होते हैं। यदि कभी समयानुकूल संवाद न बन सकें तो हाथों के इशारों, मुद्राओं और हाव-भाव के प्रदर्शन के ज़रिए दर्शकों को आनंदित करना अदाकार का लक्ष्य रहता है। वह रोचक संवाद के अभाव में दर्शकों को उखड़ने नहीं देता। अतः कलाकार हर तरह से अपने को तैयार रखता है।

पद्यात्मक संवादों की रवानगी के साथ लोक-धुनों का प्रयोग किया जाता है। श्रोता इससे श्रुतिमाधुर्य का आनंद लेते हैं। कलाकारों की अभिनय कुशलता और परिहास की निपुणता से संवाद दर्शकों के मन पर सीधा प्रभाव छोड़ते हैं। जब करयालचियों को लगता है कि श्रोताओं में अरुचि हो रही है, वे तुरंत विषय बदल देते हैं और स्थिति के अनुसार सहज ही मनोरंजक संवाद गढ़ लेते हैं।

करयाला में लोकपरक अनुभूतियों और मनोरंजक भावनाओं का स्वस्थ रूप उपलब्ध रहता है। यहाँ जीवन की यथार्थ झाँकी देखने को मिलती है। अपने दैनिक जीवन में करयालची को, जो अनुभव होता है, उसे वह बड़ी चतुराई से अखाड़े या मंच पर पेश करता है। करयालची भी उसी समाज का एक अंग होता है; अतः चतुराई के साथ पेश की गई समाज की घटनाएँ व छवियाँ श्रोताओं के दिलों पर गहरा असर छोड़ती हैं।

साधु के रूप में *स्वाँग* का कोई भी संवाद टूटा हुआ, असंगत या अर्थहीन नहीं होता। करयाला में हर जगह *चंद्रावली* के बाद साधु का स्वाँग पेश किया जाता

है। साधु के दृश्य में दो ज्ञानी साधुओं के वार्तालाप के बीच में एक तीसरा 'स्वादु' यानी असाधु आकर फूहड़, भद्दी, क्षुद्र, परन्तु चटपटी व्यंग्योक्ति से ओत-प्रोत संवाद प्रस्तुत करता है। दूसरी ओर ओढ़ी हुई दार्शनिकता भी सामने आती है। साधुओं की इस संगत में ज्ञानी-ध्यानी, संत-त्यागी, साधु-स्वादु, मुनि-तपस्वी, राधो-माधो सभी तरह के संत-असंत शामिल रहते हैं। अनेक सम्प्रदायों के साधुओं का समागम रहता है। वे ज्ञान-विज्ञान, धर्म-आश्रम, जंत्र-मंत्र-तंत्र, भांग-धतूरा, दान-दक्षिणा सब विषयों की बातें करते रहते हैं।

आज का ग्रामीण समाज वर्तमान परिस्थितियों के प्रति कितना सजग, सतर्क और सावधान है, इसका अंदाजा इन करयालचियों के अभिनय से लगाया जा सकता है। बुद्धिमान और मूर्ख साधुओं के वार्तालाप में जहाँ हास्य-व्यंग्य का अद्भुत संगम होता है, वहीं उसमें दार्शनिकता के गूढ़ दृष्टांत भी मिलते हैं। जहाँ एक साधु पौराणिक उद्धरणों से ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के दृष्टांत पेश करता है, दूसरा साधु उस द्वारा प्रतिपादित अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच, ज्ञान-धर्म के भेदभाव को उलटी-सीधी दलीलों या कटाक्ष द्वारा चौपट कर देता है। मूर्ख साधु का छिछला स्वभाव व क्षुद्र अभिनय दर्शकों के लिए मुक्त हास्य और व्यंग्य का केन्द्र बनता है। दूसरी ओर बुद्धिमान साधु के दृष्टांत उच्च नैतिकता के सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। बुद्धिमान और वरिष्ठ साधु, मूर्ख साधु को बेटा कहकर पुकारता है। *करयाला* में अनेक प्रहसन प्रस्तुत किए जाते हैं। सामान्यतया लाड़ा-लाड़ी, चूर्णवाला, जोगी-जोगिन, पति-पत्नी, नट-नटणी आदि स्वाँग खेले जाते हैं। समाज की बड़ी से बड़ी बुराइयों को इन स्वाँगों में पेश किया जाता है। समाज की समस्याओं को उठाते हुए उनका समाधान भी *करयाला* में निहित रहता है।

करयाला लोकनाट्य का मूल लक्ष्य हास्य रस पैदा करना है। वह चाहे संवाद से हो, हाव-भाव से अथवा वेश-भूषा से, दर्शक हँसते रहने चाहिए। करयालची का परिधान उसे हँसी का पात्र बना देता है। जटाधारी साधु ब्यूल अथवा भांग के रेशे यानी 'शेल' से जटाएँ बनाते हैं अथवा भेड़-बकरियों की ऊन से भी ये जटाएँ बनती हैं। यहाँ व्यंग्य की स्वस्थ झलक देखने को मिलती है। कटाक्ष तीखे होते हुए भी गम्भीर रहते हैं। कई बार तो दर्शक इन संवादों में निहित व्यंग्यों को तब समझ पाते हैं, जब वे वापिस घर जाकर एकांत में उन पर मनन करते हैं। उन्हें अकेले में गुदगुदाहट भरी हँसी में आह्लादित होते देखा जा सकता है। कभी-कभी वातावरण को स्थिर और सरल बनाने के लिए अश्लील शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यह अश्लीलता शब्दों के हेर-फेर में, स्वाँग परिवर्तन या शारीरिक भंगिमाओं द्वारा दिखाई जाती है।

सिरमौर के *करयाला* में नाना प्रकार के स्वाँग भरकर लोगों का मनोरंजन

किया जाता रहा है। यह लोकनाट्य असौज की फसल समेटने के बाद दीवाली से शुरू होकर जब तक अधिक सर्दी न पड़ जाए, बारी-बारी गाँव-गाँव में होता है। इसे प्रस्तुत करनेवाली मण्डलियाँ या तो स्थानीय होती हैं अथवा किसी अन्य गाँव से आमंत्रित की जाती हैं। करयाला देखने के लिए लोग अपने सगे-सम्बंधियों तथा आसपास के सभी लोगों को आमंत्रित करते हैं। रात्रि को खीर, पटांडे, कंजण, सीडू तथा अस्कलियाँ आदि विशेष पकवान बनाकर मेहमानों को भोजन परोसा जाता है। ठेठ सिरमौरी बोली में किया जानेवाला यह लोकनाट्य सर्व-साधारण को पूरी तरह से अपने रंग में रंग देता है।

मौण भी इस क्षेत्र का एक विलक्षण लोकनाट्य है, जो स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व सिरमौर के गिरिपार क्षेत्र, उत्तर प्रदेश के जोंनसार-बाबर तथा जुब्बल व थरोच रियासतों में जून-जुलाई में होता था। बुशहर में इसे झीरू कहते हैं। लाहुल-स्पीति में भी *गोची* नाम से लगभग ऐसा ही मदनोत्सव जनवरी मास में मनाया जाता है। किन्तु सिरमौर व साथ लगते शिमला और उत्तराँचल के क्षेत्रों में यह नदियों के संगम पर मछलियाँ पकड़ने के त्योहार के रूप में आयोजित होता रहा है। यद्यपि अब इसका वह रूप नहीं रहा। पूर्व समय में दो नदियों के संगम पर तीनों धारों के क्षेत्रों में बसनेवाले 'खूँद' यानी खश कबीलों के लोग अधिकांशतः नंग-धड़ंग होकर आते थे। इनमें कुछेक मात्र एक अंगोछा पहने होते थे। अपने कुल देवता के मंदिर से अश्लील लोकगीत गाते, हुड़की-दमामे की थाप पर द्रुतगति के संगीत के साथ दौड़ते-उछलते पहाड़ियों से उतरकर निर्धारित स्थल पर पहुँच जाते थे। इन नंग-धड़ंग मछलीमारों के पीछे-पीछे इनका अश्लील *झीरू* गायन सुनने के लिए अपने-अपने कबीलों की स्त्रियाँ भी हुजूम बनाकर चलती थीं।

मौण नतेन में जिस समुदाय के लोगों की प्रमुख भूमिका रहती थी, वे इस दिन कोई वस्त्र नहीं पहनते थे और कमर में रस्से से घंटियाँ बाँधकर उन्हीं से अपने गुप्तांग ढाँप लिया करते थे। यह प्राचीन 'मदन उत्सव' का ही रूप प्रतीत होता है, जिसमें कामाचार सम्बंधी उन्मुक्त वार्तालाप गीतों के माध्यम से होता था। आदिम कबीलाई जीवन का अवशेष यह नाट्य एक ऐसे उत्सव का रूप है, जिसके गीतों में सम्भोग क्रियाओं का खुला बखान लगभग *कामसूत्र* जैसी भाषा में होता है। यह मनुष्य के उस आदिम जीवन की झलक भी प्रस्तुत करता है, जब 'काम' मनोरंजन का केन्द्रीय विषय था। लोकगीतों में बंधे ये कामाचार प्रसंग अश्लील ज़रूर हैं, लेकिन लोकतत्त्व के अध्ययन और विश्लेषण के लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण भी हैं। इनके गीतों की बानगी कुछ यों है–

झीरूं लागो तोल-ओ-गाश
... रो चाणो छतया नाश!

टिंबर...टिंबर झाल
झालटी पाछै... चाल!

जोदी... थे हीरै बजीरै
... दै चाणै पंदरौ तीरै!

जोदी... थे दोहटुए
... गाड़ो थो डोहटुए!

शिमला, सिरमौर, जोंनसार-बाबर की यमुना, तमसा, गिरि नदियों की उपत्यकाओं में बसे हर जाति के लोग चपटी खोपड़ी को आज भी सौंदर्य का प्रतीक मानते हैं और जन्म के तुरंत बाद माँ अपने शिशु के सिर को यह स्वरूप देने के लिए विशेष उपायों का सहारा लेती है। चपटे सिर के इन लोगों की आज भी अलग पहचान है। मछलियाँ पकड़ने से पूर्व ये अश्लील नृत्य तथा गायन से मनोरंजन क्यों करते रहे हैं, यह शोध का विषय है। मत्स्य को काम का प्रतीक भी माना जाता है, संभवतः इसीलिए यह लोकनाट्य मत्स्य और काम को परस्पर जोड़नेवाला है।

मौण उत्सव का आयोजन देवता की सहमति से व उसी द्वारा निर्धारित तिथि को होता था। उससे पूर्व निर्धारित मुहूर्त में ही नदियों के संगम से कुछ नीचे बड़े-बड़े पत्थरों की दीवार बनाकर नदी की धारा के कुछ भाग को रोक दिया जाता था, ताकि एक ताल-सा बन जाए और उसमें मछलियाँ पकड़ना आसान हो जाए। तीनों कबीलों के खश खूँद तिरमिर की झाड़ी के पत्तेदार कोयले एकत्र कर उन्हें डखलियों में कूट कर पाउडर बना देते थे। इस पाउडर को द्रुतगति नृत्य के साथ इस ताल में बिखेर दिया जाता, ताकि मछलियाँ उसके मूर्च्छा (tranquiliary) प्रभाव से जल के ऊपर आ जाएँ और उन्हें पकड़ा जाए। इस प्रक्रिया में मछलियाँ मात्र मूर्छित होती हैं। जो पकड़ी जाती, वह खा ली जाती, जो पानी की धार में बह निकलतीं, उनकी चेतना स्वच्छ जल की लहरों पर तैरते-तैरते वापिस लौट आती। छोटी मछलियों और अंडों को कोई नहीं पकड़ता। जब तक तिरमिर (टिम्बर) पाउडर का घोल ताल में रहता है तब तक मछलियाँ पकड़ी जाती हैं, जब इसका प्रभाव क्षीण हो जाता है तो मछलियों का जल के ऊपर आना स्वतः बंद हो जाता है और *मौण* उत्सव नाच-गाने के त्योहार में परिवर्तित हो जाता है।

मौण के नृत्य-नाट्य में भी बिशू की भांति ही खूँद कबीले हाथ में डंडे, भाले, बंदूकें तथा डांगरे लिए मोहाले (बंदूकों के धमाके) करते 'मौण स्थल' पर पहुँच जाते थे और इस प्रतियोगिता का विजयोपहार होता 'पहली मछली' और

फिर 'सबसे बड़ी मछली।' जिस कबीले के हाथ वह लग जाती, उसके लोगों का उल्लास देखने लायक होता। यहाँ भी खूँद प्रखर स्वभाव के कारण कई बार लड़ पड़ते हैं। परन्तु कत्ल तक के अपराध को देवता के निर्णय के बाद मात्र एक रुपये का दंड लेकर क्षमाकर देने की परम्परा यहाँ भी थी। लड़ाई कभी-कभार ही किसी उन्मादी खूँद की ग़लत हरकत के कारण हो जाती थी। किन्तु जब किसी कबीले का आदमी, किसी अन्य कबीले द्वारा मार गिराया जाता तो उसका बदला लेना अनिवार्य माना जाता था। जब किसी प्रतिद्वंद्वी कबीले के किसी व्यक्ति को मार दिया जाता तो उसका शीश मारनेवाले कबीले द्वारा 'ठाहरी/ठौड़/जागा' अथवा कुलदेवी के मंदिर में दबाया जाता था। इस तरह के युद्धों की अनेक 'हारूल' तथा 'पवाड़े' (लोकगाथाएँ) इस क्षेत्र के लोकगायकों के पास सुरक्षित हैं और वे बूढ़ी दीवाली के अवसर पर उन्हें सुनाकर उपहार अर्जित करते हैं।

संदर्भ

1. सिरमौरी लोक साहित्य : डॉ. खुशीराम गौतम
2. हिमाचल के लोकनाट्य और लोकानुरंजन : एम.आर. ठाकुर
3. हिमालय : ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथाएँ : डॉ. पद्म चंद्र काश्यप
4. हिमाचली संस्कृति का इतिहास : डॉ. पद्म चंद्र काश्यप
5. हिमालयी संस्कृति के मूलाधार : प्रो. डी.डी. शर्मा
6. सिरमौर दर्पण : रामकुमार शर्मा
7. सिरमौर गज़ेटियर : हिमाचल प्रदेश सरकार
8. सोमसी पत्रिका : हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी, शिमला
9. Tribes and Castes of Punjab and North West Frontier Province : H.A. Rose
10. The legends of Punjab : R.C. Temple.

सोलन के लोकनाट्य

नेम चंद अजनबी

हिमाचल प्रदेश के वर्तमान सोलन जिला का क्षेत्र स्वतंत्रता पूर्व नौ छोटी-बड़ी ठकुराइयों–बाघल, बघाट, बेजा, कुठाड़, महलोग, कुनिहार, हिन्डूर, और भयरोली में विभक्त था। महाभारत काल में यह क्षेत्र भीम के पुत्र घटोत्कच व पौत्र बर्बरीक की क्रीड़ा स्थली रहा है। घटोत्कच का सम्बंध घड़याच (ब.ड़ी धार में स्थित एक गाँव) व घड़सी धार से माना जाता है और बर्बरीक का सम्बंध बाड़ी मेले व बाड़ी धार से रहा है। इस जनपद की सांस्कृतिक विविधता विशेष जिज्ञासा पैदा करती है। कुनिहार का रली-पूजन, बाघल क्षेत्र का तुपु देवता का खेल, सोलन का ठोडा, सम्पूर्ण जनपद में फैला प्रसिद्ध नाट्य करयाला, स्वाँग, चंद्रावल़ी, बरलाज, जगराता, सिठणी व रामलीला आदि ध्यानाकर्षक पारम्परिक मनोरंजन साधन हैं। इस क्षेत्र की लोकनाट्य परम्परा को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है–

1. सुर-असुर संघर्ष को प्रस्तुत करते लोकनाट्य।
2. सामाजिक विसंगतियों को रूपायित करते लोकनाट्य।
3. रामलीला सम्बंधी तथा पौराणिक लोकनाट्य।
4. लोकानुंरजन।

किसी भी नाट्य के आरंभ में जर्जर पूजा का विधान है। 'जर्जर पूजा' के बारे में मान्यता है कि एक बार देवताओं के नाट्य अभिनय से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने राजा इंद्र को उपहार स्वरूप शुभ्र ध्वज प्रदान किया। इंद्र ने इसी शुभ्र ध्वज से असुरों के शरीर जर्जर किए थे। इसलिए देवताओं ने इसे 'जर्जर' नाम दिया और वरदान दिया कि 'जर्जर' समस्त नाट्य कर्मियों की रक्षा करनेवाला होगा। इस घटना ने इन्द्र को रंगमंच का रक्षक बना दिया। तभी से नाट्यारंभ में 'जर्जर पूजा' का विधान शुरू हुआ। इस क्षेत्र के लोकप्रिय लोकनाट्य और लोकानुरंजन इस प्रकार हैं–

करयाला

करयाला सोलन जनपद तक ही सीमित नहीं, वरन् हिमाचल प्रदेश के अनेक ज़िलों में यह आज भी प्रमुख लोकनाट्य है। सोलन जिला के अलावा शिमला तथा सिरमौर में भी इसे प्रस्तुत किया जाता है। इसका असली समय शरद ऋतु है। वास्तव में *करयाला* दीवाली से आरम्भ होता है। वर्ष भर के कड़े परिश्रम के बाद इन दिनों कृषक अपने खेत-खलिहानों से निवृत्त हो जाते हैं और उन्हें मनोरंजन की लालसा रहती है। इसकी पूर्ति *करयाला* के कलाकार करते हैं।

करयाला के लिए किसी विशेष मंच की आवश्यकता नहीं होती। यह प्रकृति के खुले प्रांगण का खेल है और प्रायः रात के समय ही खेला जाता है। प्रांगण के कुछ भाग में चारों तरफ छोटे-छोटे खम्बे खड़े करके उनमें रस्सी बाँध कर एक गोल या चौकोर स्थान बना लिया जाता है या मात्र एक लकड़ी के डंडे से मैदान में गोल रेखा खींच ली जाती है, जिसके बाहर चारों तरफ दर्शक बैठते हैं। उसके साथ ही या कुछ दूरी पर दो-तीन चादरें तानकर एक छोटा तम्बू, कोई छोटा कमरा या घास का छप्पर होता है, जहाँ करयालची अपना हार-शृंगार करते हैं। इसे शृंगार-कक्ष समझना बेहतर होगा।

रस्सियों से घिरा हुआ चौकोर स्थान या डंडे से खींची गई गोल रेखा का वृत्ताकार स्थान ही मंच है। इस स्थान को 'खाड़ा' यानि अखाड़ा कहते हैं। इस खाड़ा के मध्य में आग जलाई जाती है, जिसे स्थानीय भाषा में 'धूनी' या 'घयाना' कहा जाता है। इस 'घयाने' की आग को पवित्र माना जाता है। यह आग जहाँ रात-भर प्रकाश का काम देती है, वहीं सर्दी के मौसम में ताप भी बनाए रखती है।

अखाड़े के एक ओर वादक बैठ जाते हैं। करनाल, रणसिंगा, चिमटा, नगारा, शहनाई, बांसुरी, ढोलक, खंजरी आदि करयालचियों के वाद्य हैं। करयाला जग-ताल से आरम्भ होता है। इसकी मधुर तान दर्शकों को निमंत्रण देती है। बजंतरी अपने संगीत से दर्शकों का स्वागत करते हैं। स्वाँग के आरम्भ होने से पूर्व जग-ताल की समाप्ति पर *करयाला ताल* बजती है। इसे बधाई-ताल भी कहा जाता है। बधाई-ताल के बजते ही 'चंद्रावळी' (लक्ष्मी रूप में) अखाड़े में प्रवेश करती है। पुरुष कलाकार ही स्त्री की वेश-भूषा में चंद्रावळी बनता है। वह अखाड़े में आते ही एक हाथ आकाश की ओर करके सरस्वती का आह्वान करते हुए वाद्ययंत्रों का स्पर्श करती है। अलाव की परिक्रमा करते हुए वादकों एवं दर्शकों के ऊपर आरती घुमा कर करयाला का शुभारम्भ करती है। 'घयाने' के चारों ओर *करयाला ताल* पर नृत्य करती है। उसका यह नृत्य लगभग दस मिनट तक चलता है।

कई बार चंद्रावळी के साथ एक अन्य पात्र भी होता है, जिसे कान्हा कहा जाता है। कान्हा सम्भवतः कृष्ण ही है। वह एक ही दृश्य में आता है। उसके हाथ

में एक कुल्हाड़ा होता है। प्रायः यही पात्र मशालों या दीपों को जलाता है। इस क्रिया को 'खाड़ा बाँधना' कहा जाता है। अखाड़ा बाँधने का अभिप्राय इष्ट देव की पूजा करके करयाला के सफल आयोजन की कामना करना है। इसे मंत्रोच्चारण सहित वंदना या परिक्रमा आदि द्वारा पूर्ण किया जाता है। वैसे अखाड़ा बाँधने का विधान हर मण्डली का अपना अलग भी होता है।

चंद्रावली पहाड़ी धुनों पर नृत्य करने के पश्चात् शृंगार-कक्ष में चली जाती है। उसी समय स्वाँग कलाकार साधु वेश में दर्शकों के बीच में से भीड़ को चीरता हुआ अलख जगाता अखाड़े की ओर आता है। इससे दर्शक समझ जाते हैं कि अब 'साधु का स्वाँग' शुरू हो रहा है। उसके साथ ही चारों दिशाओं से अन्य साधु भी अखाड़े की ओर आते हैं और अभिनय शुरू हो जाता है। 'स्वाँग' विभिन्न प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ इन नामों से प्रसिद्ध हैं–

1. साधु का स्वाँग
2. बुद्धू का स्वाँग
3. चूर्ण वाले का स्वाँग
4. जोगी-जोगन का स्वाँग

साधु का स्वाँग

आमतौर पर साधु के स्वाँग में तीन-चार साधु होते हैं। इनमें एक ज्ञानी साधु और अन्य मसख़रे साधु होते हैं। अखाड़े में प्रवेश करते ही ये साधु आपस में भांति-भांति की चर्चा करते हैं। प्रश्न पूछने के लिए नम्बरदार के रूप में एक पुरुष अखाड़े में प्रवेश करता है–

नम्बरदार : कहाँ से तुम जोगी आए, कहाँ तुम्हारा गाँव। कौन तुम्हारी बहन-भानजी, कहाँ धरोगे पाँव?

पहला साधु : दक्षिण से हम जोगी आए, पूर्व हमारा गाँव। दया हमारी बहन-भानजी यहाँ धरेंगे पाँव।

नम्बरदार : बाबा, कुछ ज्ञान-ध्यान की जानकारी भी है तुम्हें?

दूसरा साधु : हाँ बेटा हाँ, हम बड़े ज्ञानी हैं।

नम्बरदार : मैं एक प्रश्न पूछता हूँ।

दूसरा साधु : कहो बेटा।

नम्बरदार : वार भी लंका पार भी लंका, बिचे धुआँधारी। राम-लखन लंका गए तो कहाँ थे तपधारी?

मसख़रा साधु : वार भी लंका पार भी लंका, बिचे धुआँधारी। राम-लखन जेबे लंका गए, साधु थे तिना रे बगारी।

ज्ञानी साधु : न बेटा, न! यह हँसी-मज़ाक का समय नहीं। यहाँ ज्ञान-ध्यान की बात

चल रही है।

दूसरा साधु : वार भी लंका पार भी लंका, बिचे धुआँधारी। राम-लखन लंका गए, उनके संग था तपधारी।

नम्बरदार : अच्छा बोलो, एक क्या होता है?

मसख़रा साधु : जिसके कोई न हो।

तीसरा साधु : नहीं बच्चा। तुम अभी अक्ल के कच्चे हो।

मसख़रा साधु : भला फिर एक क्या होता है महाराज?

तीसरा साधु : एक ओंकार, दो चाँद-सूर्य, तीन त्रिलोक, चार दिशा, पाँच पाण्डव, छह ऋतु, सात ऋषि, आठ अष्ट भुजा, नौ ग्रह (इसी बीच मसख़रा बोल उठता है)।

मसख़रा साधु : दस हुए दशांग, सोलहवें दिन सोला। दरवाज़े पांदे ठूठा फोड़ा, सतारहवें दिने दस्या गूठा।

इसी संवाद में मनोरंजन के साथ कुछ ज्ञान की बातें भी होती हैं।

करयाला का आरम्भ हमेशा साधु के स्वाँग से होता है–

माघो शेल़ा, सावणो बरखा, तौंदी जेठौ, साधु रे भेख सदा नारायणौ बैठौ।

अर्थात् माघ में सर्दी, श्रावण में वर्षा, ज्येष्ठ में गर्मी होती है। साधु के वेश में हमेशा नारायण मिलते हैं।

एक अन्य साधु के स्वाँग में वार्तालाप कुछ यों होता है–

नम्बरदार : माता थी गर्भ में पिता थे कंवारे, तब कहाँ थे जन्म तुम्हारे?

मसख़रा साधु :माता थी गर्भ में पिता थे कंवारे, था यह उस वक्त घर में तुम्हारे ॥

साधु : ना बच्चा ना! ज्ञान-ध्यान की बातें हैं, सही-सही सुनो!

मसख़रा साधु : सुनाओ!

साधु : माता थी गर्भ में पिता थे कंवारे, पिता के मस्तक पर थे जन्म हमारे ॥

नम्बरदार : धन्य हो महाराज, धन्य स्वामी जी!

एक अन्य करयाला मण्डली अपना साधु का स्वाँग कुछ ऐसे शुरू करती है–

पहला साधु : जय शिव शंकर, कांटा लगे न कंकर!

दूसरा साधु : अरे दरिद्री, खाने-पीने का ढंग कर!

पहला : बम-बम भोले, बम-बम भोले!

दूसरा : देख रहा मैं, जाट-लाट में उड़न खटोले।

तीसरा : एक मछेरन सागर तट पर, डाल रही थी कांटा।

पहला : मुझको लगा ज्ञान का चांटा।

दूसरा : चरपट हो तुम बड़े रसीले, एक आँख से भजते ईश्वर।

तीसरा : तन के खोटे मन के भोले, नाड़ी के तुम ढीले।

पहला : तेरे मन पर काई छायी, पहले इसको धो ले, बम भोले, बम भोले।
दूसरा : सारी उम्र गई मरघट में, धूनी बन गई कोयले, बम भोले, बम भोले।
तीसरा : भांग धतूरे की यह माया।
पहला : जोगी इसमें क्यों भरमाया?
दूसरा : अंत समय कुछ हाथ न आया।
तीसरा : छूटे कुटुम्ब-कबीले, बम-भोले, बम भोले...।

बुद्धू का स्वाँग

ग्रामीणों के बीच स्वाँगों की अपनी विशेषता है, जिससे करयाला में विविधता, ताज़गी और उत्सुकता बनी रहती है। जानबूझ कर ऐसे शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है जिनके कई अर्थ निकलते हैं। यथा–

प्रश्न : 'दावा' कहाँ होती है?
उत्तर : दावा सनोडन (अस्पताल) में मिलती है।
दूसरा पात्र : अरे! 'दावा' तो रोशण जज के यहाँ होता है।
इस स्वाँग में किसी पात्र को बुद्धू बनाकर पेश किया जाता है।

चूर्णवाले का स्वाँग

प्रस्तुत स्वाँग में चूर्णवाला सीधे-सादे शब्दों में अनूठी बातें करता है–
चूर्ण अमल वेद का भारी–जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना– जिसको खाता श्याम सलोना।
चूर्ण साहब लोग जो खाता–सारे का सारा हज़म कर जाता।
चूर्ण पुलिस वाले खाते-सब कानून हज़म कर जाते।
चूर्ण हाकिम साब जो खाते–सब पर दूना टेक्स लगाते।

जोगी-जोगन का स्वाँग

जोगी-जोगन के स्वाँग में एक पुरुष नारी वेश में तथा एक जोगी के रूप में अखाड़े में आते हैं। इस स्वाँग के पदों में नारी का वर्णन यों किया गया है–

नारी : सूरत तेरी देख के, जी मेरा ललचाए।
हे जोगी तुम कौन हो, दीजो मुझे बतलाए। (जोगी मौन रहता है)
नारी : कहाँ के तुम जोगी, कहाँ तुम्हारा देश।
किस कारण जोगी बने, किया फकीरी वेश ॥
जोगी : कंचनपुर के हम जोगी, वहाँ हमारा देश।
प्रीति लगी रघुनाथ से, किया फकीरी वेश ॥
जोगी : परनारी पैनी छुरी, मत कोई लाए अंग।
दश शीश रावण कटे, परनारी के संग ॥

नारी : परनारी पैनी छुरी, सब कोई लाए अंग।
        रावण को भी राम मिले परनारी के संग॥
जोगी : नागिन से परनारी बुरी, जो तीन ठोर से खाए।
        धन छीने जोवन घटे, पंचों में पति जाए॥
नारी : नारी निंदा मत करो, नारी नर की खान।
        नारी से नर होत है, ध्रुव प्रह्लाद समान॥

इसी प्रकार के अन्य स्वाँग भी दर्शकों के मनोरंजन हेतु प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनमें लाड़ा-लाड़ी, पति-पत्नी, नर-नारी आदि के माध्यम से समाज की विभिन्न बुराइयाँ सामने आती हैं। जहाँ *'पिलपिली साहब'* के स्वाँग में नौकरशाही पर तीखा प्रहार है वहीं *'साहब और मेम'* के प्रहसन में भारतीय समाज में व्याप्त अंग्रेज़ियत पर कड़ा कटाक्ष रहता है।

ठोडा

सोलन जनपद में किसी समय *ठोडा* लोकनाट्य अत्यंत प्रसिद्ध था। आज भी ठोडो ग्राउंड के नाम से सोलन में बहुत बड़ा मैदान है। कुनिहार, अर्की आदि स्थानों में यह लोकनाट्य बहुत लोकप्रिय था। परन्तु आज यह लगभग लुप्त प्रायः है।

ठोडा नामक इस लोकनाट्य के खिलाड़ी को ठडियार या ठठियार कहा जाता है। मूलतः यह धनुर्विद्या का खेल है। यह खेल प्रायः दो दलों के बीच होता है, जिन्हें 'खूंद' कहते हैं। दोनों दलों को अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। एक को 'शाठी' और दूसरे को 'पाशी' कहते हैं। एक दल के लोगों की संख्या 500 तक हो सकती है। परन्तु ठोडा खेलने वाले कम होते हैं। खेल आरम्भ होने से पूर्व प्रतिद्वंद्वी दलों के खिलाड़ियों की जोड़ियाँ मिलाई जाती हैं।

महाभारत का युद्ध धनुष-बाणों से लड़ा गया था और यह भी सत्य है कि यह मूलतः द्वंद्व युद्ध था। यह प्रथा हिमाचल के *ठोडा* लोकनाट्य में अक्षुण्ण रही है। यह भी सम्भव है कि यह लोकनाट्य युद्ध प्रशिक्षण का अवशेष मात्र हो।

निर्धारित तिथि को दोनों दल अपने-अपने ग्राम-देवता का आशीर्वाद लेकर, *ठोडा* खेलने निकलते हैं। प्रत्येक खिलाड़ी हाथ में फरसा, डंगरासा, कुल्हाड़ी, धनुष, तीर, डंडा, तलवार, लाठियाँ आदि लिए होता है और ढोल, नगारे, रणसिंगा, तुरही, शहनाई, करनाल आदि वाद्ययंत्रों को रौद्रताल में बजाते हुए लोग समूह में आयोजन स्थल की ओर चल पड़ते हैं। अनेक वाद्ययंत्रों का घोर नाद सबका दिल दहला देता है। ज्यों-ज्यों दल आयोजन स्थल की ओर बढ़ते हैं, ढोल, नगारा, रणसिंगा, करनाल की मिश्रित ध्वनि के साथ नर्तकों की तलवारें, योद्धाओं की ललकारें चरम सीमा तक पहुँचती हैं। पहले ही मिलन में शक्ति-प्रदर्शन ज़ोर पकड़ता है। दोनों ओर फरसे,

डंडे, डांगरे, गंडासे, तलवारें, धनुष-बाण नाच रहे होते हैं। निर्धारित समय पर दोनों दल आपस में टकराते हैं। अस्त्र-शस्त्रों की टकराहट से सारा वातावरण आग उगलने लगता है। अपने दादा-परदादा के नाम का जयघोष करते हुए अपने को शेर, दूसरे को गीदड़ कहा जाता है।

खिलाड़ियों का ऊपरी लिबास साधारण होता है। परन्तु टांगों में विशेष प्रकार का चूड़ीदार पाज़ामा जिसे 'सूथण' कहते हैं, पहना होता है, जो मुख्यतः ऊन या जीन का बनाया जाता है। पाँव में विशेष प्रकार के मोटे चमड़े के जूते होते हैं।

दर्शकों में विशेष रूप से रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्राभूषण से सुसज्जित औरतें होती हैं, जो खेल स्थल से ऊँचे स्थान पर तमाशा देखने बैठ जाती हैं। इसी बीच ताल के साथ ठोडा खेल आगे बढ़ता है। पहले दोनों दल एक-दूसरे से दस-बारह मीटर दूर खड़े होते हैं और फिर प्रत्येक खिलाड़ी अपने प्रतिद्वंद्वी को पहले तीर चलाने को कहता है। इसमें यह धारणा पाई जाती है कि पहले तीर चलानेवाला कमज़ोर होता है। तीर चलाने के लिए स्पष्ट नियम निर्धारित हैं। तीर केवल घुटने से नीचे टाँग पर लगाना होता है। अर्थात् पिंडली इसका प्रमुख निशाना है। एक खिलाड़ी सामने खड़ा होकर ताल पर नाचना आरम्भ करता है। वह खिलाड़ी तीर से बचने के लिए उछल-कूद करता है। यह उछल-कूद ही उसके बचाव का एक मात्र साधन है। दूसरा खिलाड़ी धनुष पर तीर चढ़ाकर कानों तक खींचकर पिंडली पर प्रहार करता है। खिलाड़ी यही क्रम बार-बार दोहराते रहते हैं। जब तीर निशाने पर लग जाए तो तीरंदाज प्रसन्नता से उछल-उछलकर नाचना शुरू करता है। वास्तविक विजय तब मानी जाती है जब तीर लगने से निकला खून सूथण से बाहर आ जाए। इस विजय के बाद वीरता की हुंकारें विशेष संवाद के साथ भरी जाती हैं।

ठोडा वस्तुतः पहाड़ी लोगों की शताब्दियों पुरानी परम्परा का प्रमाण है। यह लोकनाट्य अब शिमला ज़िला के ऊपरी भागों में सिमटकर रह गया है।

बरलाज

बरलाज लोकनाट्य के सोलन जनपद में दो रूप हैं। पहले रूप में *बरलाज* से अभिप्राय बलिराजा से है। इसमें असुरों के महान शासक बलि की कहानी लोक-गाथा में वर्णित है। कथा के अनुसार बलि राजा विरोचन का पुत्र था, जिसने दान देने की शक्ति से स्वर्गासन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। परन्तु विष्णु ने वामन रूप धारण करके उसे छल लिया था। गाथा कुछ इस प्रकार आरम्भ होती है–

पहला नांव नारायणां रा, जुणिये धरती पुआणी,
जल-थल होई पृथ्वी देवी मनसा राखी जगाली।
माणू न होले केई, रिखी एकेई नारायण राजा होला,

सिद्ध गुरु री झोली फा ढाई दाणा शेरयों रा झाड़ा।
ढाई दाणा शेरयों रा महारे खाड़िये बीजया।

इस प्रकार राजा बलि की कथा *बरलाज* के रूप में लोगों को सुनाई जाती है। सोलन के अलावा हिमाचल के अन्य क्षेत्रों में *बरलाज* का दूसरा रूप भी प्रचलित है। यहाँ *बरलाज* का अर्थ 'वर' (फल) माँगने और 'लाज' रखने के लिए प्रार्थना करना है। इसमें मुख्य रूप से रामायण के प्रसंगों को प्रस्तुत किया जाता है।

बरलाज का आयोजन प्रमुखतः दीवाली के दिनों में होता है। इन दिनों लोक रामायण और स्थानीय देवताओं के साँझे आयोजन देखने का सबसे अच्छा अवसर होता है। रात को जगराता होता है। अँधेरा होते ही लोग घरों से निकलकर आयोजन स्थल की ओर चल पड़ते हैं। वहाँ पहले ही लकड़ियों का 'घयाना' जलाया होता है। यह घयाना *बरलाज* का प्रतीक होता है। *बरलाज* दल के लोग ग्राम-देवता के मंगलाचरण के साथ ही *बरलाज* शुरू करते हैं। यह आयोजन रात-भर चलता है। सोलन ज़िला में अब यह विलुप्त होता जा रहा है। परन्तु शिमला जिला के घूंड, देवठी आदि स्थानों में दीवाली की रात *बरलाज* होता है। कई जगह करयाला से पूर्व *बरलाज* के बोलों का उच्चारणकर औपचारिकता पूरी की जाती है। शावग गाँव में देवठण का करयाला व ग्याणा गाँव का शरद पूर्णिमा का करयाला इसके उदाहरण हैं, जिनमें आयोजन से पूर्व *बरलाज* गाया जाता है।

तुपु

तुपु लोकनाट्य भिन्न-भिन्न त्योहारों पर अलग-अलग प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। त्योहारों के हिसाब से ही इस लोकनाट्य के गाने भी अलग-अलग गाए जाते हैं। अब विशेष रूप से दीवाली और सायर के उपलक्ष्य में ही *तुपु* लोकनाट्य प्रदर्शित किया जाता है। इस लोकनाट्य के लिए किसी मंच या वेश-भूषा की आवश्यकता नहीं होती।

सोलन ज़िला के अधिकांश क्षेत्रों में दशहरा के पाँच दिन बाद से लेकर दीवाली तक *'तुपु'* लोकनाट्य की प्रथा है। *'तुपु'* के प्रथम भाग में 'दयाळा' देने का रिवाज़ है। 'दयाळा' गाँव से थोड़ी ही दूरी पर एक स्थान विशेष पर दिया जाता है। 'दयाळा' देना अर्थात् एक स्थान पर घास-फूस, मक्की के ट्याण्डों को इकट्ठा करके जलाना है। गाँववाले बारी-बारी से घास-फूस ले जाकर शाम को उस स्थान पर विधिवत् पूजा करने के बाद आग जला देते हैं। तत्पश्चात् गाँव के लोग 'केसु' घुमाते हैं। 'केसु' सूखे घास की बनाई गई लम्बी 'पूली' होती है। इस पूली के एक छोर पर आग लगाकर दूसरे छोर से उसे घुमाया जाता है। इधर से उधर उछल-कूद की जाती है। *'दयाळिये माळे, तेरे बाण्डे रे केसु कुमाणे'*–कहते हुए केसुओं को घुमाया जाता है। इसको तब तक घुमाया जाता है जब तक केसु व दयाळा पूर्ण रूप से न

जल जाए। आतिशबाज़ियाँ छोड़ी जाती हैं, पटाखे चलाए जाते हैं। पन्द्रह दिन तक दयाला़ दिया जाता है। छोटी और बड़ी दीवाली को भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यंजन बनाए जाते हैं, जिन्हें खाने व अपने नाते-रिश्तेदारों में बाँटने से पहले 'दयाले' में अग्नि को भेंट किया जाता है।

'केसु' घुमाने के बाद सभी लोग गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक घर-घर जाकर दरवाज़े पर खड़े होकर तुपु का गाना गाते हैं। प्रतिदिन केसु घुमाने के बाद सभी के आँगन में तुपु का गाना गाया जाता है। तुपु के बोल इस प्रकार हैं–

तुपु रेले रोलिया, रोल संइयां रोलदा,
तोबिया लईगा चोरड़ा,
काली कुती, जुगल सुती,
माये सुआगण, तियुं स्पुती।
इतकर जमे ओते-पोते,

... .

परि कटोरा देदिये तू देया परीछाज,

... ...

तेरे पुत जियो लखा साल,
और आसे आँऊ फेर काल।

... .

इसी प्रकार सब के आँगन में समूहगान के रूप में तुपु चलता रहता है, जिसके आँगन में तुपु गायन होता है वह गायक मण्डली को खील-बताशे खिलौने बाँटता है। इसी के साथ गायक मण्डली दूसरे के आँगन में प्रवेश कर जाती है। ऐसा ही क्रम सारे गाँव में चलता है।

सायर के उपलक्ष्य में मनाया जानेवाला तुपु लोकनाट्य इससें मिलता-जुलता है। दो दिन दुयाला़ देने की प्रथा भी थी, जो लगभग विलुप्त हो चुकी है। सायर पर्व पर रात को दरवाज़े पर गाया जानेवाला तुपु गाना कुछ इस प्रकार है–

सायरो आई रे माठेयो रता पौ आई रे
बण खेले गाबर टेबर, बण खेले मोरा दे।
मोरा खल्यां दड़ना तेरी आड्डी छणाक्की रे,
तेरी चोटी फणाकी रे।
किरकडुबा पाइडुबा घड़ोलु दे छाई रा,
ऐड़ा नाओ लिख्या दे भाईयो उड्डी वी दशा रे।
भरी कटोरा दे दिये, भरी देओ छाज,
जीयो तुसारे गबरू, आसे आये आज,

घटकणिये कि मटुकणिये रंगी तेरी डोर,
भरी पराला ठाकरी पान्दे पुंजू खोड़,
देओ भाईयो दाड़ू-खोड़ ॥

तुपु के कई रूप होने से कुछ लोग इसे लोकनाट्य भले न मानें, इसे केवल खेल कहें, परन्तु इसे नाट्य की सीमा से बाहर भी नहीं रखा जा सकता।

स्वाँग

करयाला के बाद सोलन जनपद में *स्वाँग* लोकनाट्य का स्थान है। *स्वाँग* करयाला लोकनाट्य के बहुत समीप है। परन्तु फिर भी *स्वाँग* का अपना अलग अस्तित्व है। वैसे तो *स्वाँग* शादी-विवाह, जन्मोत्सव एवं त्योहारों के अवसर पर आयोजित किए जाते हैं, लेकिन आमतौर पर सर्दियों में दीपावली के बाद इनका विशेष रूप से आयोजन होता है। *स्वाँग* केवल मनोरंजन के ही साधन नहीं हैं, इनके माध्यम से धार्मिक मान्यताओं एवं लोक-संस्कृति को भी प्रस्तुत किया जाता है।

स्वाँग खुले मैदान में या किसी चबूतरे पर आग की रोशनी में रात को प्रस्तुत किए जाते हैं। रणसिंगा, शहनाई, ढोलक, चिमटा, करताल, नगाड़ा आदि लोकवाद्यों की ताल पर यह लोकनाट्य शुरू होता है।

स्वाँग लोकनाट्य में दूसरे लोकनाट्यों की तरह चंद्रावल़ी अहम भूमिका निभाती है। स्त्री की वेश-भूषा में पुरुष ही चंद्रावल़ी का अभिनय करता है। अनेक स्वाँग मंडलियाँ चंद्रावल़ी के साथ एक पुरुष पात्र रौल़ू को भी अभिनय के लिए तैयार करती हैं। रौल़ू का काम दूसरे लोकनाट्यों में मसख़रे द्वारा निभाई गई भूमिका की तरह है। यह उल्टे-सीधे कपड़े पहनता है, विशेषकर रंग-बिरंगे चीथड़ों से अपने शरीर को ढकता है। करयाला की तरह ही चंद्रावल़ी का अखाड़े में आगमन तथा नृत्य होता है।

स्वाँग आरम्भ होने से पूर्व ही ताल बजनी आरम्भ हो जाती है और चंद्रावल़ी प्रवेश करती है। वह सब वाद्ययंत्रों को स्पर्श करती हुई हाथ को ऊपर उठाए, आकाश की ओर निहारती मंच पर आती है। इस प्रकार वह माँ सरस्वती की वंदना करती है। तत्पश्चात् अलाव के पास नृत्य करती है। यह नृत्य तब तक चलता रहता है जब तक दूसरा दृश्य तैयार न हो जाए।

स्वाँग के माध्यम से सामाजिक परिस्थितियों का सही चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। रांझू-फुलमू और कुंजू-चंचलो की प्रस्तुतियाँ देखकर आज भी दर्शक रो पड़ते हैं। इसके अलावा अनेक दूसरे *स्वाँग* जैसे राजा हरिश्चन्द्र, पूरण भगत, शिव-पार्वती, श्रीकृष्ण लीला आदि भी बड़े सहज रूप से प्रस्तुत किए जाते हैं। सारी रात यह क्रम चलता रहता है। नृत्य और स्वाँग बारी-बारी प्रस्तुत होते रहते हैं।

किन्नौर के लोकनाट्य

विद्यासागर नेगी

हिमालयी क्षेत्रों में लोकनाट्य कलाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। इन क्षेत्रों में अनेक प्रकार के लोकनाट्य हैं, जो स्थानीय स्तर पर लोक कलाकारों द्वारा समय-समय पर खेले जाते हैं। इनमें किन्नौर ज़िला के लोकनाट्यों की अपनी अलग पहचान है। नाट्यकला किन्नौर के लोगों की जीवनचर्या का अभिन्न अंग है। इसके माध्यम से मनोरंजन के साथ-साथ स्थानीय समाज का मार्गदर्शन भी होता है। इस क्षेत्र की मान्यतानुसार विभिन्न लोकनाट्य प्रमुख रूप से यहाँ की सावणियों यानी पर्वतीय देवियों तथा भूत-प्रेत, राक्षस आदि अमानुषीतत्त्वों की सम्भावित बाधाओं को दूर करने के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं।

ज्येष्ठ मास में जब पेड़-पौधे फूल-पत्तों से लद जाते हैं, खेतों में हरी-भरी फसलें लहलहा रही होती हैं और चारों तरफ हरियाली ही हरियाली होती है, लोक विश्वास है कि उस समय यहाँ की सावणियाँ अपने-अपने आस्थान क्षेत्रों से गाँव के आसपास उतरकर लोगों की फसलों तथा मवेशियों पर अपनी *रागङ्* यानी कुदृष्टि डालती हैं। इससे फसलें खेतों में ही खराब हो जाती हैं और कई बार लोगों को अपने पशुधन की भी हानि उठानी पड़ती है। इनकी कुदृष्टि से अपनी फसलों तथा मवेशियों को बचाने के लिए किन्नौर के चासङ्, साङ्ला आदि क्षेत्रों में ज्येष्ठ मास के पहले पखवाड़े में **बुढ़ाछङ् चाशिम** यानी **बुढ्ढे बच्चों का नाच** नाम से एक स्वाँग होता है। मान्यता है कि ऐसा करने से उनका ध्यान फसलों तथा पशुओं से हटकर स्वाँगों पर केन्द्रित हो जाता है और ये सावणियाँ इस नाच से प्रसन्न होकर, एक निश्चित समय के बाद अपने स्थान की ओर लौट जाती हैं। इस स्वाँग (नृत्य) को स्थानीय युवक-युवतियों द्वारा प्रतिदिन शाम को दो या तीन घंटे तक गाँव के मध्य स्थित सन्तङ् यानी देवालय प्रांगण में प्रस्तुत किया जाता है।

इसमें भाग लेनेवाले युवक-युवतियाँ फटे-पुराने कपड़े पहने होते हैं। चेहरे

अखरोट के पेड़ की छाल से या *ख्वर्च़* यानी मुखौटे लगाकर ढके होते हैं। कुछ युवतियाँ हाथ में तकली, दराती, ग्वङ-तालङ् (कोठार की विशेष चाबी) लेकर, कुछ पीठ पर टूटे-फूटे पुराने किल्टे तथा कुछ हाथ से कोरू यानी ऊन कातते हुए नृत्य करती हैं और युवक तलवार आदि लेकर एक-दूसरे से कोई बातचीत किए बिना, स्थानीय पारम्परिक वाद्ययंत्रों पर बजायी जानेवाली लोकधुनों पर चुपचाप नाचते रहते हैं। इस नृत्य में लकड़ी के डंडों को आपस में जोड़कर, बाहर से उन पर पुराना कपड़ा लपेटकर, आगे मुँह तथा पीछे पूँछ लगाकर उसे घोड़े की शक्ल दी जाती है। इसके बाद एक युवक फटा-पुराना कपड़ा पहनकर तथा चेहरे पर मुखौटा लगाकर डंडों के बीच खड़ा होकर, डंडों में बंधी डोरी को अपनी कमर में बाँधता है। एक हाथ में लगाम तथा दूसरे-हाथ में तलवार लेकर पैरों से इधर-उधर चलता हुआ नृत्य करता है। इसमें दो युवक हिरण भी बनते हैं। यह प्रक्रिया पूरे पंद्रह दिनों तक चलती है। इस दौरान गाँव के सभी लोग सन्तङ् में आकर स्वाँग का आनन्द लेते हैं। इस स्वाँग नृत्य में केवल वही लोग शामिल हो सकते हैं, जिन्हें स्वाँग दिखानेवाले युवक-युवतियाँ, खींचकर अपने साथ लाते हैं।

किन्नौर के भाबा क्षेत्र में भूत-प्रेत आदि की सम्भावित बाधाओं को दूर करने के लिए फगुल त्योहार की समाप्ति के तुरंत बाद स्थानीय युवक-युवतियाँ **राउलाछङ् चाशिम** यानी **राउलाछङ् नाच** नामक स्वाँग का प्रदर्शन करते हैं। इसमें पाँच, सात या नौ की संख्या में युवक राउलाछङ् बनते हैं। एक युवक राउलाणेच़ यानी राउलाछडों की दुल्हन बनता है। चार वादक होते हैं। वाद्ययंत्रों में बाण (थाल), ढोल, डखरू (छोटा नगारा) तथा बुबजल (कंसाल) होते हैं। राउलाछङ् का स्वाँग करनेवाले, मंडाई की गई बकरों की खालों के बने ओवरकोट जैसे कपड़े पहनते हैं, जिन्हें 'लागा' कहते हैं। सिर पर फटी-पुरानी टोपियाँ होती हैं। इनके सामनेवाली मखमली पट्टी नीचे उतार लेते हैं। नीचे फटी-पुरानी ऊनी सुथन पहनते हैं। चेहरे पर काष्ठ के बने ख्वर्च़ यानी मुखौटे लगाते हैं। इन सभी के हाथों में तलवारें होती हैं। राउलाणेच़ का स्वाँग करनेवाले युवक को दुल्हन की तरह सजाते-संवारते हैं। उसे दोहड़ू, च़ोलीच़, गाछङ्, चादर, सिर पर 'प्रेतठेपिङ्' के साथ गहने भी पहनाते हैं। उसका चेहरा गहनों से ढका रहता है। इसलिए दिखाई नहीं देता है। राउलाछङ् तथा राउलाणेच़ का अभिनय करनेवाले युवक एक निश्चित जगह पर तैयार होकर गाँव के प्रत्येक घर में जाते हैं। घर की छत मिट्टी की हो तो छत पर जाते हैं, अन्यथा घर के प्रांगण में रहते हैं। वहाँ घर के सभी लोग इनके सामने आते हैं।

राउलाणेच़ अपने से बड़ों को 'डोलिङचिम' यानी पैर छूकर नमस्कार करती है। लोग बदले में उसे कुछ रुपए भेंट करते हैं। इसके बाद राउलाछङ् हाथों में तलवारें लेकर नाचते हैं तो राउलाणेच़ अपने दाहिने हाथ में एक छोटी खुखरी लेकर तथा

बायें हाथ को अपनी कटि पर रखकर नाचती है। कुछ देर नाचने के बाद राउलाणेच़ एक जगह बैठ जाती है, जबकि अन्य लोग नाचते रहते हैं। नाचते-नाचते ये लोग राशिम यानी परस्पर द्वंद्व युद्ध जैसा अभिनय करते हैं। नाचते समय राउलाछङों को अपनी राउलाणेच़ की निगरानी भी करनी पड़ती है। नाच में मग्न रहने के कारण यदि उनका ध्यान उस पर से हट जाता है तो वहाँ उपस्थित अन्य युवतियाँ चुपचाप उसे वहाँ से ले जाकर घर के किसी कमरे में छिपा लेती हैं। राउलाणेच़ भी बिना विरोध किए उनके साथ चली जाती है। फिर उसे छुड़ाने के लिए राउलाछङ् लोगों को युवतियों की मांग के अनुसार रुपए देने पड़ते हैं। जब तक रुपए नहीं दिए जाते, युवतियाँ राउलाणेच़ को उन्हें नहीं सौंपती हैं।

सभी राउलाछङ् जहाँ भी जाते हैं, समूह में ही रहते हैं, परन्तु किसी कारणवश यदि कोई राउलाछङ् अकेला घर के भीतर पहुँच जाए तो वहाँ उपस्थित लोग उसे जबरन पकड़कर कमरे में बंद कर देते हैं। ऐसी स्थिति में रुपए देकर उसे छुड़ाया जाता है। नाचते-नाचते राउलाछङ् वहाँ उपस्थित घर के सभी सदस्यों के शरीर के विभिन्न हिस्सों को अपनी-अपनी तलवार के सिरों से छूते हैं। फिर तलवार के सिरों से छत के चारों किनारों पर बिछी स्लेटों को और यदि प्रांगण में हो तो उसके कोनों में जाकर ज़मीन को छूते हैं। इस क्रिया को *टांडो लन्नु* कहते हैं। मान्यता है कि ऐसा करने से उन लोगों पर से भूत-प्रेत आदि अमानुषी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। *टांडो* करने के बदले में घर के लोग उन्हें अपनी इच्छानुसार कुछ रुपए भेंट करते हैं। कई जगह रुपयों के साथ-साथ उन्हें *द्रोण* भर अनाज भी देते हैं।

तत्पश्चात् स्वाँग करनेवाले थोड़ी देर वहाँ विश्राम करते हैं। इस दौरान उन्हें गेहूँ की मूड़ी के साथ एक बोतल मदिरा भी दी जाती है। पहले ग्राम देवता तथा अन्य अनाम देवी-देवताओं की उससे पूजा की जाती है, उसके बाद सभी स्वाँगी मदिरा तथा मूड़ी को आपस में बाँटकर खाते-पीते हैं। फिर ये सभी दूसरे घर जाते हैं। वहाँ भी उक्त सभी परम्पराओं का निर्वाह किया जाता है। इस प्रकार प्रातः दस-ग्यारह बजे से शाम तक कई घरों में इस लोकनाट्य को करते हुए चार-पाँच दिन लग जाते हैं। अंतिम दिन यह नाट्य सन्तङ् यानी देवालय प्रांगण में होता है। वहाँ पहुँचने पर सभी लोग पहले अपने ग्राम देवता को स्थानीय रीति से नमस्कार करते हैं। सन्तङ् में *टांडो* उन युवतियों का किया जाता है, जो आज तक राउलाणेच़ को सजाने-संवारने का काम कर रही थीं।

फाल्गुन तथा चैत्र महीने में किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में **होरिङ-फो** यानी **हिरण का स्वाँग** भी निकाला जाता है। सबसे प्रसिद्ध होरिङ-फो उरनी क्षेत्र का होता है। यह स्वाँग चैत्र 20 प्रविष्टे से शुरू होकर बैशाख तीन प्रविष्टे तक खेला जाता है। इसके लिए शाम को अँधेरा होने से पूर्व गाँव के लोग एक निश्चित स्थान पर

इकट्ठे होते हैं। इनमें दो युवक मिलकर *होरिङ-फो* बनते हैं। पहला युवक खड़ा रहता है और दूसरा उसके पीछे कमर में बँधी गाची (कमरबंध) को अपने दोनों हाथों से पकड़कर अपने सिर को पहले वाले की पीठ से सटाकर झुका रहता है। इन दोनों को बाहर से दोहड़ू से लपेटा जाता है। ऊपर दोहड़ू के खुले भाग को सफेद चादर से ढक दिया जाता है। चादर को चारों ओर से दोहड़ू के किनारों के साथ सिल दिया जाता है। पीछे कपड़े की पूँछ लगायी जाती है। आगेवाले युवक के सिर पर हिरण के मुख जैसा लकड़ी का मुखौटा पहनाया जाता है। लकड़ी के बने सींगों को कपड़ों से लपेटा जाता है। मुख में एक छोटी-सी लकड़ी फँसाकर उसके दोनों किनारों पर कपड़े बाँधकर लटकाते हैं।

होरिङ-फो के साथ भी कुछ युवक राउलाछङ् तो कुछ राउलाणेच़ बनते हैं। यहाँ इनकी संख्या निर्धारित नहीं होती है। गाँव के युवक अपनी इच्छा से राउलाछङ् तथा राउलाणेच़ बनते हैं। इस कारण कई बार राउलाछङों की संख्या बीस तक भी पहुँच जाती है और राउलाणेच़ों की संख्या पाँच तक भी होती है। राउलाछङ् चेहरे पर वैसे तो *ख्वर्च़* (मुखौटे) लगाते हैं, यदि मुखौटे कम पड़ जाएँ तो कपड़े में आँख, नाक, मुँह की जगह छेद करके उसी से चेहरा ढकते हैं। सिर पर फटी-पुरानी टोपियाँ या पगड़ी पहनते हैं। राउलाछङों के मुखिया के हाथ में तलवार और अन्यों के हाथों में डंडे होते हैं।

राउलाणेच़ों को दुल्हनों की तरह गहनों तथा कपड़ों से सजाते-संवारते हैं। इनके एक हाथ में ग्वङ तालङ् (कोठार की विशेष चाबी) तो दूसरे हाथ में रूमाल होता है। दो-तीन युवक *जारे* यानी मूक-बधिर महिलाओं की भूमिका निभाते हैं। इन्हें महिलाओं के पुराने कपड़े पहनाते हैं। इनके चेहरे रूमाल या कपड़े से ढके होते हैं। देखने के लिए आँखों की जगह रूमाल/कपड़े में छेद किए होते हैं। ये अपने कंधों पर मूड़ी भूनने के लिए प्रयोग की जानेवाली डंडीवाली परात (लंका) उठाए होते हैं। सन्तङ् में ये लोग अचानक किसी की भी पीठ को परात की कालिखवाले पृष्ठ भाग से मलकर काला कर देते हैं। ऐसा करने पर कोई भी बुरा नहीं मानता है। हाँ, इनके निकट आने पर इनसे बचने का प्रयास अवश्य करते हैं। इनके अलावा दो युवक *कोचे* यानी किन्नौर से बाहरी महिला की भूमिका निभाते हैं। इनकी संख्या भी निर्धारित नहीं होती है। लड़कियों के सलवार-कुर्ते पहने ये युवक सिर पर चुन्नी ओढ़े होते हैं। घूँघट के कारण इनके चेहरे नहीं दिखाई देते हैं।

जहाँ *होरिङ-फो* को तैयार किया जाता है, वहाँ गाँव के कई युवक-युवतियाँ इकट्ठे होते हैं। जो युवक राउलाछङ् नहीं बनते हैं, वे *होरिङ-फो* को तैयार करते हैं और युवतियाँ राउलाणेच़ों को सजाने-संवारने का कार्य करती हैं। वैसे तो राउलाछङ् बननेवाले युवक वहीं तैयार होते हैं, जहाँ होरिङ-फो को तैयार करते हैं, किन्तु कुछ

युवक अपने तथा दूसरों के घरों से भी तैयार होकर आते हैं, जहाँ उन्हें पहनने के लिए फटे-पुराने कपड़े मिलते हैं। इसके बाद *होरिङ-फो* तथा अन्य सभी लोग सन्तङ् की ओर आते हैं। इनके साथ एक बाण (थाल) तथा एक डखरू बजानेवाला होता है। ये दोनों अपने-अपने वाद्ययंत्रों को बजाते हुए *होरिङ-फो* के आगे-आगे चलते हैं। सन्तङ् में पहुँचने पर बुबजल (कंसाल) और एक ढोल बजानेवाला वाद्ययंत्रों के साथ इनका स्वागत करते हैं।

सन्तङ् में पहुँचते ही ये लोग सबसे पहले अपने ग्राम देवता, और *रल्डङ्* (किन्नौर कैलास) को स्थानीय रीति से नमस्कार करते हैं। फिर *सन्तङ्* में थोड़ी देर तक नाचने के पश्चात् निकट के एक मैदान में जाते हैं। वहाँ राउलाछङ् तथा जारे मिलकर *होरिङ-फो* के साथ राशिम यानी द्वन्द्व युद्ध जैसा अभिनय करते हैं। इस युद्ध में राउलाछङ् तथा *होरिङ-फो* एक-दूसरे की टांगों को अपने पैरों से बाधा (*बङकुल्लडङ्*) डालकर नीचे गिराने का प्रयास करते हैं। इसमें यदि होरिङ-फो गिरता है तो वह बीच मैदान में जाकर बैठ जाता है और राउलाछङ् इस खुशी में उसके चारों ओर चक्कर लगाते हुए नाचते हैं। फिर एक राउलाछङ् किसी पेड़ की पत्तेवाली टहनी को *होरिङ-फो* के सिर पर फूल की जगह लगाता है। टहनी अटकाने के साथ ही *होरिङ-फो* उठकर पुनः नृत्य करने लगता है। यदि राउलाछङो में से कोई एक होरिङ-फो द्वारा पैर बाधा डालने से नीचे गिरता है तो सभी राउलाछङ् मैदान के बीच बैठ जाते हैं और *होरिङ-फो* उनके चारों ओर नृत्य करता है। थोड़ी देर तक इस प्रकार नृत्य करने के बाद होरिङ-फो अपनी गर्दन टेढ़ी करके राउलाछङ़ों को उठने के लिए संकेत करता है। संकेत पाते ही सभी राउलाछङ् उठकर *होरिङ-फो* के साथ नृत्य करते हैं। इस पूरे द्वन्द्व युद्ध के अभिनय के समय राउलाणेच़ तथा कोचे मैदान के एक कोने में बैठकर तमाशा देखते रहते हैं। कुछ देर तक द्वन्द्व युद्ध तथा नृत्य करने के बाद होरिङ-फो सन्तङ् से चला जाता है, जबकि अन्य लोग पुनः सन्तङ् में आते हैं। वहाँ राउलाछङ्, कोचे, जारे, गाँव के युवक-युवतियाँ तथा अन्य इच्छुक लोग राउलागीथङ् (राउलागीत) पर तब तक नृत्य करते हैं, जब तक उक्त गीत गाकर समाप्त नहीं होता है। यह गीत स्वाँग के समय ही गाया जाता है, इसके अतिरिक्त इसे गाना वर्जित है। गीत इस प्रकार से है–

गोली गोले होलोना भइ, गोली गोले होलोना भइ,
हायाबे होना भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 1.
दोगोलेयोले दङा शोङ भइ, दोगोलेयोले दङा शोङ भइ,
थुचाला शोङा भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 2.
थुचालाले शोङा भइ, थुचालाले शोङा भइ,
बदाया लोशो भइ, हायं कोटिछ़ाला जोट्टके। 3.

बदायाले लोशो भइ, बदायाले लोशो भइ,
यमबोरुले यमछङ भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 4.
यमबोरुले यमछङ भइ, यमबोरुले यमछङ भइ,
दो शोङ-शोङ बन्ना भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 5.
दो शोङ-शोङा बनिमा भई, दो शोङ शोङा बनिमा भइ,
खागोचु छितकुल भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 6.
खागोचुले छितकुल भइ, खागोचुले छितकुल भइ,
छितकुल मालेटेयङुदेन भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 7.
छितकुल मोलेटेयङुदेन भइ, छितकुल मोलेटेयङुदेन भइ,
डेलेयङु इष्टा हता तोश भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 8.
डेलेयङु इष्टा लोनिमा भइ, डेलेयङु इष्टा लोनिमा भइ,
ज़ीमाता देबी भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 9.
ज़ीमाताले देलेबी भइ, ज़ीमाताले देलेबी भइ,
घोटेयो ता मइक्योञ भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 10.
घोटेयो ताले मइक्योञ भइ, घोटेयो ताले मइक्योञ भइ,
आनेस थोम्याग्योश भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 11.
आनेस थोलोम्याग्योश भइ, आनेस थोलोम्याग्योश भइ,
बाराज़ङ् खागो भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 12.
बाराज़ङा खालेगो भइ, बाराज़ङा खालेगो भइ,
कलेमुलु खानङ् भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 13.
थुच ली बतो यमछङ् भइ, थुच ली बतो यमछङ् भइ
दू ज़ाछ़ेया यमछङ् भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 14.
दोस ली केतो दीयुना भइ, दोस ली केतो दीयुना भइ,
कीसीस थोम्याम ग्याछ़ भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 15.
थुच बतोली यमछङ् भइ, थुच बतोली यमछङ भइ,
खोगेछ़ो बोटेया भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 16.
युच बतोली कोचा भइ, युच बतोली कोचा भइ,
रोटी ज़ाछ़ेया कोलोचा भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 17.
रोटी ज़ाछ़ेया कोलोचा भइ, रोटी ज़ाछ़ेया कोलोचा भइ
दोस ली केतो दीयुना भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 18.
दोस ली केतो दीयुना भइ, दोस ली केतो दीयुना भइ,
खोरियो दीवङ् छ़ातो भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 19.
खोरियो दीवङ् छ़ातो भइ, खोरियो दीवङ् छ़ातो भइ,

कीसीस थोम्याम ग्याच़ भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 20.
छितकुल मालेटेयङुदेन भइ, छितकुल मालेटयङुदेन भइ,
यमबोरुले यमछङ भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 21.
यमबोरुले यमछङ् भइ, यमबोरुले यमछङ् भइ,
एक रातीले बेलेशो भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 22.
एक रातीले बेलेशो भइ, एक रातीले बेलेशो भइ,
एक खाडू मारो भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 23.
दो शोङ-शोङा बनिमा भइ, दो शोङ-शोङा बनिमा भइ,
सिलाबोलोसेरिङ् भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 24.
सिलाबोलोसेलेरिङ् भइ, सिलाबोलोसेलेरिङ् भइ,
बोसेरिङ् लामाउ गोरे भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 25.
बोसेरिङ् लामाउ गोलोरे भइ, बोसेरिङ् लामाउ गोलोरे भइ,
ओपङ् खालेतङ्च़ो भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 26.
ओपङ् खालेतङाच़ो भइ, ओपङ् खालेतङाच़ो भइ,
गोएने गोएने कूलूदो भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 27.
गोएने-गोएने कूलूदो भइ, गोएने-गोएने कूलूदो भइ,
सोदञम्स मा केञा भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 28.
सोदञम्स मालेकेञा भइ, सोदञम्स मालेकेञा भइ,
सोलोबङ् सम्पा भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 29.
सोलोबङा सम्पा भइ, सोलोबङा सम्पा भइ,
चल्लङ् बङा चुली भइ, हाय कोटिछ़ाला जोट्टके। 30.

(यहाँ से आगे की पंक्तियाँ किसी को याद नहीं होने के कारण यहाँ नहीं दी गई हैं।)

अनुवाद

स्वरबंधन पंक्तियाँ... 1.
वहाँ से, वहाँ से नीचे, ऊपर से नीचे। 2.
ऊपर से नीचे, आया बोल रहे। 3.
आया बोल रहे, यमबोर का भोट देशीय युवक। 4.
यमबोर का भोट देशीय युवक, वहाँ से नीचे-नीचे आया। 5.
वहाँ से नीचे-नीचे आया तो ऊपरी क्षेत्र छितकुल। 6.
ऊपरी क्षेत्र छितकुल, छितकुल भूमि पर। 7.
छितकुल भूमि पर, देवालय के इष्ट कौन हैं? 8.
देवालय के इष्ट कहें, तो माता देवी जी हैं। 9.

माता देवी जी, (आप किसी से) कम नहीं हैं। 10.
(आप किसी से) कम नहीं हैं, आप ने ही थामा। 11.
आप ही ने थामा, ऊपरी क्षेत्र बाराज़ङ। 12.
ऊपरी क्षेत्र बाराज़ङ, अन्तिम छोर रजतखान (वाला)। 13.
ऊपर से आएँगे, भोटदेशीय बाड़ी खानेवाले। 14.
वे भी देंगे दान, आपको ही थामना होगा। 15.
ऊपर से आएँगे भोटदेशीय युवक, कमर में दराट (के साथ)। 16.
नीचे से आएँगे कोचा (किन्नौरेतर) रोटी खानेवाले। 17.
रोटी खानेवाले कोचा, वे भी देंगे दान। 18.
वे भी देंगे दान, दीप पात्र में दीया जलाएँगे। 19.
दीप पात्र में दीया जलाएँगे, आप ही को थामना होगा। 20.
छितकुल भूमि पर, यमबोर का भोटदेशीय युवक। 21.
यमबोर का भोट देशीय युवक, एक रात ठहरा। 22.
एक रात ठहरा, एक खड्डू मारा (यानी देवी को बलि दी) 23.
वहाँ से नीचे आया तो सीला बड़सेरी में। 24.
सीला बड़सेरी में, बड़सेरी लामा (परिवार) के घर पर। 25.
बड़सेरी लामा (परिवार) के घर पर, नीचे प्रांगण में। 26.
नीचे प्रांगण में, गृहणी, गृहणी बुला रहा। 27.
गृहणी, गृहणी बुला रहा, भिक्षा नहीं देंगी? 28.
भिक्षा नहीं देंगी? अर्ध द्रोण-भर सत्तू। 29.
अर्ध द्रोण-भर सत्तू, छलनी भर चूली। 30.

इस गीत पर मालानृत्य के बाद ग्राम देवता को *नमतबेल* (आरतीवादन) अर्पण करने के साथ ही सभी लोग अपने-अपने घरों को चले जाते हैं। अंतिम दिन *होरिङ-फो* का नाट्य दिन में ही होता है। इस दिन अन्य सारे स्वाँग तो पूर्ववत् होते ही हैं, लेकिन एक *हाथी* अथवा *अश्व* का स्वाँग अलग से निकाला जाता है। क्रम से यदि इस वर्ष अश्व का स्वाँग किया जा रहा है तो अगले वर्ष हाथी का किया जाएगा। इस क्रम के बारे में कहा जाता है कि जिस वर्ष हाथी का स्वाँग निकाला जाता है, उस वर्ष क्षेत्र में वर्षा कम होती है और जिस वर्ष अश्व का स्वाँग निकाला जाता है, उस वर्ष क्षेत्र में वर्षा अच्छी होती है। इसमें भी गाँव के युवक कपड़े आदि लपेटकर हाथी तथा अश्व बनते हैं। इसी के साथ तेरह दिनों तक चलनेवाला उरनी का *होरिङ-फो* नृत्य समाप्त हो जाता है।

किन्नौर के चगाँव में चैत्र माह में पड़नेवाली शुक्लपक्ष की चौदहवीं तिथि को राक्षस-राक्षसियों को प्रसन्न करने के लिए *रक्सस तिवारङ्* यानी राक्षस त्योहार

मनाने की परम्परा है। चैत्र मास में मनाए जाने के कारण इसे **चैत्रोल** भी कहते हैं। इसमें रक्सस कारङ् यानी राक्षसकार का निष्पादन करने के लिए *होरिङ-फो* तथा सिङा (सिंह-सिंहनी) के साथ विशेष रूप से **खोन** का स्वाँग निकाला जाता है। इस त्योहार के सम्बंध में कहा जाता है कि चगाँव में स्थित खड्ड में *'गरङ्-बले'* स्थान पर सपरिवार एक राक्षस रहता है, जिसे स्थानीय लोग 'गरङ्-बले रक्सस' के नाम से जानते हैं। वह अतीत में यहाँ के लोगों को बहुत तंग करता था। उसे शान्त करने के लिए ग्राम देवता चगाँव महेश्वर (ठोल मोनशिरस) ने उसके साथ एक समझौता किया था, इसके तहत उन्होंने साल में एक दिन उसके नाम से एक त्योहार मनाने का वादा किया।

इस त्योहार की विभिन्न परम्पराओं के निर्वहन के लिए गाँव के वज़ा परिवार से एक व्यक्ति को खोन बनाया जाता है। खोन को तैयार करने के लिए शाम को ग्राम देवता के पुजारी, शूचारस, शूमाथस, गर (गूर का सहायक), कोष्टिङ् डेरेयान परिवार का पुजारी आदि देवता के कारदार, ग्राम देवता के थङ-कोटी (ऊपरले देवालय) से खोन का *ख्वर्च़* (मुखौटा), देवता के गागरो (कपड़े) व गंडासे लेकर, ग्राम देवता की घंटी बजाते हुए वज़ा परिवार के यहाँ पहुँचते हैं। वहाँ मुखौटे तथा देवता के कपड़े आदि को घर के भीतर शुद्ध जगह पर रखते हैं। इसके बाद मुखौटे को शुद्ध जल से धोकर, उस पर तेल मलते हैं और उसके आँख, कान, नाक, मुँह को सफेद मिट्टी (ठोस कम) से लिखकर सुन्दर बनाते हैं। इसके बाद उसे पवित्र स्थान पर रखकर, उसके सामने धूप-दीप जलाया जाता है। चीनाभात, सुतराले आदि स्थानीय भोज्य पदार्थों से उसकी पूजा करते हैं।

इसके बाद वहाँ उपस्थित लोग मुखौटे के विभिन्न भागों की चमक के आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि गाँव के किस तरफ के क्षेत्र में उस वर्ष अच्छी फसल होनेवाली है। इस मान्यता के अनुसार यदि मुखौटे का मस्तक अधिक चमक रहा हो तो गाँव के ऊपरले क्षेत्रों में, ठुड्डी अधिक चमक रही हो तो गाँव की निचली तरफ के क्षेत्रों में, दायाँ गाल अधिक चमक रहा हो तो गाँव की दायीं तरफ के क्षेत्रों में और बायाँ गाल अधिक चमक रहा हो तो बायीं तरफ के क्षेत्रों में उस वर्ष अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अच्छी फसल होगी। इसे स्थानीय लोग *'पोरखङ् ख्याम'* यानी परख देखना कहते हैं।

इसके बाद खोन की भूमिका निभानेवाले व्यक्ति को छोड़कर अन्य लोग वहाँ भोजन करते हैं। इधर सन्तङ् यानी देवालय प्रांगण के प्रोल (मुख्य द्वार) के पास बैठे डखरू-बाण बजानेवाले कुछ-कुछ समय के अंतराल के साथ तीन बार डखरू-बाण बजाते हैं। पहली बार डखरू-बाण के बजते ही, मुखौटा, गागरो, गंडासा आदि को *वज़ा-कानिङ्* (वज़ा परिवार की ओखली) के पास ले जाकर, खोन की भूमिका निभाने

वाले व्यक्ति को पहनाते हैं। उसके शरीर पर गागरो पहनाते हैं। सिर पर देवता के कपड़े लपेटते हैं। मुखौटे को चेहरे पर न लगाकर, सिर के ऊपर बाँधते हैं। कमर में *गाची* (कमरबंद) बाँधते हैं। गाची के अन्दर सामने, दायें, ब्रायें एक-एक गंडासे के हत्थों को डालते हैं। देवालय से लायी गई घंटी को सामने की तरफ नीचे दो जाँघों के बीच लटकाते हैं। इसके बाद तीसरी बार डखरू-बाण बजने के समय पर *खोन* देवता के कारदारों तथा अन्य लोगों के साथ सन्तङ् में पहुँच जाता है। वश़ा परिवार की महिलाओं तथा शिशुओं को छोड़कर अन्य सारे पुरुष सदस्य खोन के साथ ही सन्तङ् में जाते हैं।

प्रोल के भीतर प्रवेश करने से पहले खोन के साथ चलनेवाले लोग उसके कपड़े आदि नीचे-ऊपर हुए हों या ढीले हुए हों तो उन्हें ठीक करके कसकर बाँधते हैं। प्रोल के भीतर प्रवेश करते ही खोन अपने दोनों हाथों को अपनी कटि पर रखता है। अब शुरू होता है, **खोन चाम** यानी खोन नाच। वह उक्त मुद्रा में सन्तङ् के मध्य स्थित **चो़रंक** (चार खम्भों पर देवता का छतवाला भवन) के एक कोने पर पहुँचता है, वहाँ से चो़रंक के चौथे कोने तक प्रदक्षिणा क्रम में तेज़ गति से चलता है। चौथे कोने पर पहुँचकर उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक सीधे तनकर एक कदम आगे बढ़ाता है तो एक कदम ही बिना पीछे मुड़े पीछे हटता है। जब वह आगे बढ़ता है तो अपने पहले कदम की अपेक्षा मामूली-सा आगे बढ़ता है। इस तरह से दूसरे सिरे तक पहुँचने में उसे बहुत समय लगता है। पता ही नहीं चलता कि वह आगे बढ़ भी रहा है या नहीं। दूसरे सिरे पर इस तरह पहुँचकर वह पुनः चौथे कोने तक प्रदक्षिणाक्रम में पहले की तरह तेज़ गति से जाता है। यह प्रक्रिया तीन बार दोहरायी जाती है।

सन्तङ् में उस रात को *खोन नाच* देखने के लिए गाँव के युवक-युवतियाँ तथा अन्य इच्छुक लोग इकट्ठे होते हैं। दिन में युवक जंगलों में जाकर पेड़ों से ऐसे डंडे काटकर लाते हैं, जिनके एक ओर के सिरों पर गोल-गोल गाँठें हो, इसे 'लुशिङ' (संभोग लकड़ी) कहते हैं। इन्हें युवक सन्तङ् में ले जाते हैं। जब खोन नाच शुरू होता है तो ये युवक अश्लील शब्द लुशुरे-लुशुरे (संभोग-संभोग) कहते हुए, गाँठ वाले उन डंडों के सिरों से खोन के शरीर को छूते हुए उसे छेड़ते हैं। जब खोन धीमी गति से चल रहा होता है तो कई युवक उसकी जाँघों के बीच लटक रही घंटी को बजाकर उसे छेड़ते हैं। चाहे कोई कितना ही उसे छेड़े या उसके सामने अश्लील बातें करे, हँसना तो दूर वह मुस्कराता भी नहीं। फिर भी, यदि वह मुस्कराता या हँसता है तो माना जाता है कि अमानुषी तत्त्व उसके जीवन तत्त्व का हरण करते हैं। इसे स्थानीय लोग *शोशिद* कहते हैं। यदि वह विवश होकर मुस्कराता या हँसता है तो अगले दिन ग्राम देवता से निवेदनकर स्थानीय पारम्परिक पूजा सामग्री तैयारकर ग्राम देवता के

माध्यम से अमानुषी तत्त्वों की पूजा करनी पड़ती है ताकि अमानुषी तत्त्व उसके जीवन तत्त्व का हरण न करे।

खोन नाच के समय कोष्टिङ् डेरेयान के पुजारी और गर (गूर का सहायक) हाथ में गंडासे लेकर खोन के अगल-बगल अंगरक्षकों की तरह रहते हैं। इन दो के अलावा शूचारस, शूमाथस तथा पुजारी भी खोन के साथ-साथ ही चलते हैं। खोन की सुरक्षा में चलनेवाले तभी उसकी सुरक्षा करते हैं, यदि युवक उसे अधिक तंग कर रहे हों और खोन नाच परम्परा का निर्वाह करने में बाधा पहुँचा रहे हों।

युवक उस रात खोन से ही नहीं, युवतियों के साथ भी अश्लील हरकतें करते हैं। इस अश्लीलता के पीछे लोक मान्यता है कि इस राक्षस त्योहार में राक्षस-राक्षसी भाई-बहिन अदृश्य रूप में आकर लोगों के जीवन तत्त्व का हरण करते हैं, जिसका परिणाम बाद में मृत्यु होता है। अश्लील शब्दों तथा अश्लील हरकतों के प्रदर्शन से राक्षस-राक्षसी भाई-बहिन शरमाकर वहाँ से दूर भाग जाते हैं। उन्हें गाँव से दूर भगाने के लिए ही यह अश्लीलता भरा अभिनय होता है।

च़ोरंक की तीन बार प्रदक्षिणा करने के बाद खोन गाँव के निकट बहनेवाली खड्ड में गरङ्-बले स्थान पर निवास करनेवाले गरङ्-बले राक्षस को डोलिङ्-मु यानी स्थानीय रीति से नमस्कार करने जाता है। कारदार लोग भी उसके साथ ही जाते हैं। निचले रास्ते से जाते हुए *देगोलङ्* (शिवालय) के पास पहुँचने पर खोन तीन बार स्थानीय रीति से शिवालय को नमस्कार करता है। फिर गरङ्-बले के निकट रोक्युरू छोदतेन के स्थान पर खड्ड की तरफ मुख करके गरङ्-बले राक्षस को नमस्कार करता है और उसके बाद ऊपरले रास्ते से जाता हुआ *थङ्कोटी* (ऊपरले देवालय) की पौड़ी के पास पहुँचने पर उसे भी नमन करता है। वहाँ से भाटों की गलियों से होता हुआ वह अपने घर पहुँचता है। घर के निकट वज़ा-कानिङ (वज़ा ओखली) के पास वह देवता के कपड़े, मुखौटा आदि को उतारता है और अपने पन्ठङ् (रसोई कक्ष) में जाकर भोजन ग्रहण करता है।

इस बीच गाँव के बौद्ध विहार के पास गाँव के दलित जाति के लोग अपने दो युवकों को *होरिङ-फो* (हरिण) बनाते हैं। *होरिङ-फो* का अभिनय करनेवालों को बारङ् डेरेयान परिवार की ओर से सात सेर यानी साढ़े तीन बोतल मदिरा भेंट की जाती है। *होरिङ-फो* को पहनाने के लिए कपड़े-चादर आदि बारङ् डेरेयान परिवार की ओर से ही दिए जाते हैं। होरिङ-फो के साथ एक युवक कोच़े यानी किन्नौर के बाहर की महिला की भूमिका निभाता है। यह युवक सलवार-कुर्ते में सिर पर चुन्नी पहने होता है। पूरा तैयार होने पर होरिङ-फो तथा कोच़े सन्तङ् में जाकर डखरु-बाण पर बजायी जानेवाली लोकधुन पर थोड़ी देर तक नाचते हैं। *होरिङ-फो* को भी युवक अश्लील शब्दों तथा हरकतों से तंग करते हैं। सन्तङ् में खोन के पुनः

प्रवेश करने से पहले होरिङ-फो तथा *कोचे* वहाँ से चले जाते हैं। इस बार खोन को तैयार कर सन्तङ् में लाने के लिए *प्रोल* के बाहर से कुछ-कुछ अंतराल के साथ तीन बार शंख बजाकर संकेत करते हैं। तीसरी बार शंख बजने पर खोन को पहले की तरह तैयार होकर प्रोल के पास पहुँच जाना होता है।

इस बार *खोन* के साथ दो व्यक्ति एक पुरुष सिङा तथा दूसरी महिला सिङा यानी सिंह-सिंहनी की भूमिका में प्रवेश करते हैं। *सिङा* गाँव के तुरकस, अनछ़ान तथा बारङ्-डेरेयान परिवारों से ही बनते हैं। इनमें तुरकस तथा अनछ़ान परिवारों की एक-एक वर्ष के लिए बारी लगती है, जबकि बारङ्-डेरेयान को ऐसी कोई छूट नहीं मिलती है। सिङा को पहनने के लिए देवता के कपड़े (गागरो), थुम कपरा (देवता के सामने का कपड़ा), हथियार के रूप में गंडासे, ख्वर्च़ (मुखौटे) आदि ग्राम देवता के देवालय से ही दिए जाते हैं। सिङा की भूमिका निभानेवाले दो लोग अपने-अपने घर से कायल की लम्बी-लम्बी जोकटियाँ (मशाल), देवालय से दिए गए कपड़े, गंडासे आदि लेकर बौद्ध विहार के पास पहुँचते हैं। यहाँ देवता के कपड़ों को पहनते हैं। अपने सिर को देवता के कपड़े से लपेटते हैं। मुखौटे को चेहरे पर न लगाकर, सिर पर बाँधते हैं। तीसरी बार शंख के बजते ही ये दोनों एक हाथ में मशाल और दूसरे हाथ में गंडासे लेकर बौद्ध विहार से चलकर प्रोल के पास पहुँचते हैं। इस समय खोन भी वहाँ पहुँच जाता है। प्रोल के बाहर सब इकट्ठे होकर अन्य लोगों के साथ सन्तङ् में प्रवेश करते हैं। इस बार भी खोन पहले की ही तरह खोन नाच के साथ *च़ोरंक* की तीन बार प्रदक्षिणा करता है। सन्तङ् में कोई सो तो नहीं रहा है, दोनों सिङा यह देखने के लिए बैठे लोगों के निकट जाते हैं। यदि कोई सो रहा हो तो गंडासे के पृष्ठ भाग से मारकर मशाल के अंगारों को उसके ऊपर गिराते हैं। अंगारों से कोई जल भी जाए तो भी कोई बुरा नहीं मानता है, क्योंकि कोई अमानुषी तत्त्व सोनेवालों के जीवन तत्त्व का हरण न करे, इसीलिए ये दोनों ऐसा करते हैं।

च़ोरंक के तीन चक्कर पूरा करते ही खोन दुबारा पहले की तरह अन्य लोगों के साथ गरङ्-बले राक्षस को नमस्कार करने जाता है। इस बार खोन के साथ जाने वालों में दो सिङा भी होते हैं। गरङ्-बले से वापिस आने से पहले सिङा अपनी मशालों को वहीं बुझा देते हैं। गरङ्-बले राक्षस को नमस्कार करने के बाद खोन, सिङा तथा अन्य लोग सीधे सन्तङ् में पहुँच जाते हैं। अब तक सुबह भी हो चुकी होती है। सन्तङ् में पहुँचकर ये लोग *खोनकायङ्* यानी खोन मालानृत्य शुरू करते हैं। इस मालानृत्य में धुरी पर खोन अपने दायें हाथ में गंडासा लेकर नृत्य करता है। खोन के बाद क्रमशः पुरुष सिङा, महिला सिङा, देवता के कारदार तथा अन्य इच्छुक लोग मालानृत्य में शामिल होते हैं।

खोनकायङ् में खोन कभी आगे की ओर तो कभी पीछे की ओर झुकता हुआ

डखरू-बाण पर बजायी जानेवाली लोक धुन पर नाचता है। अन्य लोग भी वैसा ही नृत्य करते हैं। सन्तङ् में खोन कायङ् के शुरू होने से पहले युवक अपने डंडों को सन्तङ् के निकट स्थित बारङ्-डेरेयान के घर की छत पर फेंक देते हैं। बारङ्-डेरेयान परिवार में बाद में इन डंडों को अकेले पुरुष या अकेली महिला स्वयं को दूसरों की नज़रों से बचाते हुए चुपचाप उठाकर अपने घर के भीतर ऐसी जगह रखते हैं, जहाँ किसी की नज़र उन पर न पड़े। बाद में भी इन्हें लकड़ी के रूप में तभी जलाते हैं जब घर में या तो महिलाएँ ही रहें या पुरुष ही रहें। ऐसा इसलिए करते हैं, क्योंकि इन डंडों को शिश्न के प्रतीक मानते हैं।

तीन फेर मालानृत्य करने के बाद खोन सन्तङ् से कुछ दूरी पर स्थित *खोन-पु* (खोन का खनोर का पेड़) के पास जाकर अपने कपड़ों तथा मुखौटे को उतारता है और दोनों सिङा बौद्ध विहार के पास जाकर अपने मुखौटे तथा कपड़े उतारते हैं। (आजकल खोन अपने कपड़े तथा मुखौटा चोरंक में जाकर उतारता है।) खोन तथा सिङा द्वारा उतारे गए देवता के कपड़ों तथा मुखौटों को देवता के कारदार उठाकर देवालय में ले जाकर रखते हैं। दिन में वही कपड़े ग्राम देवता को पहनाते हैं। सिङा का अभिनय करनेवालों को बारङ्-डेरेयान परिवार की ओर से तीन अद्धे मदिरा भेंट करने की प्रथा है।

किन्नौर के मूरंग गाँव में तीन दिनों तक मनाए जानेवाले **शूप्याच्** यानी शिवरात्रि मेले में हर रोज़ रात्रि के समय सन्तङ् में स्वाँग निकाले जाते हैं। पहली रात्रि को *होरिङ-फो*, दूसरी रात्रि को 'कोटिक-सा' (किल्टे वाले) का और तीसरी रात्रि को *रङ-सा* (घोड़ेवाले) का स्वाँग निकालते हैं। जहाँ तक होरिङ-फो तथा रङ-सा के अभिनय की बात है, गाँव के लानेनवाले क्षेत्र के कोई भी इच्छुक युवक इसका अभिनय कर सकते हैं, किन्तु कोटिक-सा गाँव के करदङ् परिवार से ही बनता है। होरिङ-फो उक्त क्षेत्र के कोई दो युवक मिलकर वैसे ही बनते हैं, जैसे उरनी, चगाँव आदि गाँवों में बनते हैं। इनके पहनावे, मुखौटे आदि भी उक्त क्षेत्रों के *होरिङ-फो* से भिन्न नहीं होते हैं।

सन्तङ् में लोगों की भीड़ के बीच से *होरिङ-फो* को नृत्य करने की जगह बनाने के लिए गाँव के कोई भी दो युवक 'ठटोल सा' यानी बुहारन वाले बनते हैं। ये दोनों फटे-पुराने कपड़े तथा टोपियाँ पहने होते हैं। इनके कमर में गाची (कमरबंद) और हाथ में बुहारन होते हैं। आँखों को छोड़कर इनके चेहरे कपड़ों से ढके होते हैं, इस कारण कोई इन्हें पहचान नहीं पाता है। ये 'ठटोल-सा' अपने शरीर में घोड़ों की गर्दन में पहनाए जानेवाले बड़े-बड़े अश्व-घुँघरुओं वाली बेल्ट भी बाँधे होते हैं। जब वे चलते हैं तो खूब उछल-कूद करते चलते हैं, जिससे पूरा सन्तङ् घुँघरुओं की आवाज़ से भर जाता है। सन्तङ् में ये दोनों होरिङ-फो के आगे-आगे चलते अपने

सामने आनेवालों को बुहारन से मारते हुए दूर भगाते हैं, ताकि होरिङ-फो को सुविधापूर्वक नाचने के लिए पर्याप्त जगह मिल सके। होरिङ-फो के पीछे-पीछे प्रायः दो युवक *तेम* यानी दुल्हिन की भूमिका निभाते हैं। ये सिर से पैर तक किन्नौरी दुल्हिन की पारम्परिक वेशभूषा में होते हैं। इनके चेहरे गहनों से ढके होने के कारण दिखते नहीं हैं।

कोटिक-सा यानी *किल्टे वाले* का स्वाँग करने के लिए तीन छोटे-छोटे किल्टों को उल्टे एक पंक्ति में रखकर इन्हें जोड़ने के लिए इनके बीचों-बीच दो डंडे फँसाए जाते हैं। इनके ऊपर दो पुरुष तथा एक महिला के पुतले किल्टों के तलों से जोड़े होते हैं। ये पुतले एक-दूसरे का हाथ पकड़े होते हैं। उक्त परिवार के यहाँ इस तरह के किल्टे पहले से ही बने होते हैं। स्वाँग के दिन पुतलों को टोपियाँ तथा फूल माला पहनाते हैं। उक्त परिवार का एक व्यक्ति बीचवाले किल्टे में अपना सिर डालकर दोनों हाथों से अगल-बगल वाले किल्टों को पकड़ता है। बीचवाले किल्टे के मुखवाला किनारा व्यक्ति के कंधों पर टिका होता है, जिससे उसे किल्टा उठाकर नाचने में कठिनाई नहीं होती है। चेहरा किल्टे से ढका होने के कारण किसी को दिखाई नहीं देता। आँखों के सामने किल्टे की बाधा होने के कारण वह नीचे देखकर चलता है। लोगों की भीड़ को हटाते इसके आगे भी दो ठटोल-सा चलते हैं और पीछे दो दुल्हिनें चलती हैं।

रङ-सा यानी **घोड़े वाले** के स्वाँग के लिए लकड़ी के डंडों को जोड़कर तथा बाहर से कपड़े आदि लपेटकर घोड़ा बनाते हैं और एक व्यक्ति उस पर सवारी करता है, जैसे *बुढ़ाछङ् चाशिम* यानी बुढ्ढे बच्चों का नाच नाट्य में होता है। इसके आगे भी दो ठटोल-सा उसको नाचने के लिए लोगों की भीड़ में रास्ता बनाते जाते हैं और पीछे दो दुल्हिनें भी चलती हैं।

सन्तङ् में पहले से ही लोग मालानृत्य कर रहे होते हैं। जैसे ही स्वाँग दिखानेवाले सन्तङ् में पहुँचते हैं, सारे लोग मालानृत्य से हटकर उन्हें देखते हैं। ये स्वाँग दिखानेवाले अधिक से अधिक आधे घंटे तक ही लोगों के सामने अपना प्रदर्शन करते हैं। इनके सन्तङ् से चले जाने के बाद वहाँ लोग सुबह तक खूब मालानृत्य करते हैं। मूरंग में रङ-सा, ठटोल-सा तथा तेम के स्वाँग शिवरात्रि के अलावा होली, सारिङ्-मटिङ् आदि त्योहारों के अवसर पर भी रात में प्रस्तुत होते हैं, किन्तु होरिङ-फो तथा कोटिक-सा के स्वाँग केवल शिवरात्रि को ही प्रस्तुत होते हैं।

मूरंग गाँव में निकाले जानेवाले उपरोक्त स्वाँगों के पीछे लोक विश्वास है कि उक्त तीनों स्वाँगों में से यदि किसी वर्ष एक का भी प्रदर्शन नहीं किया जाता है तो वह वर्ष गाँव के लिए अशुभ होता है, इसलिए मूरंग गाँव के लोग अपने गाँव में उक्त स्वाँग निकालने की परम्परा का प्रतिवर्ष निर्वहन करते हैं।

लोकनाट्य परम्परा में किन्नौर के विभिन्न गाँवों में हाल के वर्षों तक **बुछेन** लोकनाट्य विशेषकर सर्दियों में स्पीति के पिन क्षेत्र के कलाकारों द्वारा किया जाता है। इस बुछेन लोकनाट्य के अंतिम दिन स्थानीय लोगों के निवेदन पर *कोङजेमा* नाट्य का प्रदर्शन भी किया जाता है। यह नाट्य तिब्बत के तैतीसवें राजा स्रोङ-चे़न-गम्पो के चीन की राजकुमारी वेनशिङ कोङ-जो से विवाह पर आधारित है। इसमें चीन के सम्राट द्वारा रखी विभिन्न शर्तों को तिब्बत के सम्राट स्रोङ-चे़न-गम्पो का मंत्री कैसे पूरा करता है, इसे अभिनय के द्वारा दर्शाया जाता है।

किन्नौर के लामाओं द्वारा विशेषकर धार्मिक अवसरों पर **सेङ्गे छम** यानी **सिंह नृत्य** का भी आयोजन किया जाता है। यह नृत्य भी बुछेन नाट्य की तरह ही तिब्बत से इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रवेश के साथ आया है। अतः जहाँ-जहाँ तिब्बती परिवेश से आनेवाले बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ उन क्षेत्रों में यह नृत्य नाट्य भी होता रहा है।

किन्नौर में स्थानीय धार्मिक संस्थाओं द्वारा भगवान बुद्ध के जन्म से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन तक की विभिन्न लीलाओं का भी मंचन किया जाता है। इसके अतिरिक्त भोटी भाषा में उपलब्ध धर्मराज युना-दोनडुव की जीवनी पर आधारित लोकनाट्य भी किन्नौर में प्रस्तुत किया जाता है। लामाओं द्वारा विशेष धार्मिक अनुष्ठानों के अवसरों पर छम यानी मुखौटा नृत्य का भी आयोजन किया जाता है, किन्तु इन छमनृत्यों को लोकनाट्य कहना उचित नहीं होगा।

उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि किन्नौर क्षेत्र में प्रचलित लोकनाट्य परम्परा यहाँ की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके माध्यम से यहाँ की संस्कृति को बखूबी समझा जा सकता है। इस क्षेत्र के लोकनाट्य, यहाँ की जीवन शैली, लोक विश्वास, धार्मिक आस्था तथा सामाजिक व्यवस्था की झलक प्रस्तुत करते हैं। ये लोकनाट्य न केवल लोगों का मनोरंजन करते हैं, बल्कि समाज में लोकहित का संदेश भी देते हैं।

संदर्भ

इस लेख के लिए निम्न लोगों से बातचीत द्वारा जानकारी ली गई–

1. श्रीमती धर्मदासी, श्रीमती विजय लक्ष्मी, अनि तनज़िन डोलमा, उरनी, किन्नौर, हि.प्र.।
2. श्री भगतचंद नेगी, अनि कृष्णा, चगाँव, किन्नौर, हि.प्र.।
3. श्री शिवराज नेगी, मूरंग, किन्नौर, हि.प्र.।
4. सुश्री सिद्धेश्वरी नेगी, साङ्ला, किन्नौर, हि.प्र.।

लाहुल के बुछेन और छोद्पा लोकनाट्य

तोबदन

स्पीति नदी अपनी पूरी वादी को सींचती हुई बहती है। पिन नदी, जिसकी तंग घाटी एक प्राचीन सभ्यता को पोषित करती आ रही है, इसकी एक बड़ी और महत्त्वपूर्ण सहायक शाखा है। कुल्लू और बुशहर पिन घाटी के सीमावर्ती क्षेत्र हैं। प्राचीन काल से इन दोनों क्षेत्रों के साथ इस घाटी का सम्बंध ऊँची पर्वत-शृंखलाओं के मध्य की जोतों से होकर गुज़रनेवाले कठिन रास्तों के ज़रिए बना हुआ है। ग्रीष्म काल में ये रास्ते व्यस्त रहते थे। मुख्य घाटी से काफ़ी अलग-थलग व कटी रहने के कारण पिन घाटी की संस्कृति में कुछ स्वतंत्र धाराएँ हैं, जिनके चिह्न अन्यत्र देखने को नहीं मिलते हैं। स्पीति में भी नहीं। बुछेन जैसी परम्परा आज तक ऐसी सुरक्षित घाटी में ही जीवित रह सकती थी। आज इस रोचक खेल ने पूरी स्पीति घाटी को विश्व-भर में ख्याति दिला दी है।

बुछेन

बुछेन वास्तव में एक नर्तक दल का नाम है, जो स्पीति की पिन घाटी से सम्बंधित है। ये कलाकार गाँव-गाँव घूमते हैं। लोगों को नाट्य, नृत्य व चमत्कारी खेल दिखाकर उनका मनोरंजन करते हैं और इसके बदले में उनसे छोटी-छोटी भेंटें प्राप्तकर अपनी जीविका के लिए कुछ अंश संगृहीत करते हैं। यह परम्परा स्पीति में संभवतः 550 वर्षों से चली आ रही है।

बुछेन कलाकार पिन घाटी के समाज के निम्न-मध्य वर्ग से आते हैं। वैसे बुछेन का सम्बंध विशेष सामाजिक वर्ग अथवा चिह्नित परिवार से नहीं है। इसमें कोई भी लड़का अपनी इच्छानुसार सम्मिलित होता है और वह समाज के किसी भी वर्ग से हो सकता है। लड़कियाँ इसमें भाग नहीं लेती हैं। परंतु व्यवहार में 'खाङछेन' यानी बड़े घर से बुछेन नहीं बनता है। गाँव में सर्वप्रथम आबाद होनेवाले परिवारों को 'खाङछेन' समझा जाता है। उनसे बंटकर अलग बसे परिवार 'खाङछुङ' (छोटे

घर) कहलाते हैं। खाङ्छेन के मुक़ाबले इनका दर्जा निम्न होता है। बुछेन इसी खाङ्छुङ से बनता था। समाज के निम्नतम वर्ग जैसे गरा व बेदा से भी बुछेन नहीं बनता है।

यह परम्परा लद्दाख में भी किसी समय प्रचलित थी। वहाँ इस परम्परा से जुड़े दो परिवार बताए जाते हैं, परंतु वे अब यह काम नहीं करते हैं। वैसे यह शोध का अलग विषय है कि वहाँ यह परम्परा किस रूप में थी?

स्पीति में बुछेन के सम्बंध में लेखकों ने बहुत चर्चा की है। ये काफ़ी दूर-दूर जाकर अपना खेल दिखाते थे, जैसे लाहुल, किन्नौर, लद्दाख, जंस्कर आदि। यद्यपि ये सारा वर्ष घूमते रहते थे; फिर भी फ़सल कट जाने के बाद घूमना इनके लिए अधिक लाभकारी होता था, क्योंकि तब भेंट में अनाज आदि काफ़ी मात्रा में मिल जाता था। लोग भी बड़ी उत्सुकता से इनके आने का इंतज़ार करते थे।

सन् 1912 में एक अंग्रेज़ उच्च अधिकारी सी.जी. ब्रूस अपने परिवार व अन्य साथियों के साथ घूमते हुए लाहुल पहुँचे। लाहुल में वे दो-ज़म (पटसेऊ) आए, जो लद्दाख की ओर लाहुल के आख़िरी गाँव दारचा से कुछ आगे है। यह उजाड़ जगह है, परंतु उन दिनों यहाँ गर्मियों में लगभग दो-तीन महीने बाज़ार लगता था। तिब्बत से भेड़ों पर ऊन, पशम, नमक आदि लदकर आता था और यहाँ से अनाज, कपड़े, बर्तन आदि जाते थे और वहाँ तिब्बत, लाहुल, कुल्लू और स्पीति के व्यापारियों का लेन-देन होता था। ब्रूस ने यहाँ बुछेन का एक खेल देखा। वे अपनी पुस्तक में लिखते हैं : *'एक प्रकार का अर्द्ध-पैशाचिक नृत्य, जो प्रभावशाली था, जादुई ढंग से समाप्त हुआ। आवश्यक प्रार्थना के पश्चात् दल का काफ़ी बुज़ुर्ग सदस्य अपनी पीठ के बल लेट गया और एक अन्य लामा ने उसके पेट पर एक बड़ा पत्थर रख दिया। उस पत्थर पर एक अन्य पत्थर से तब तक प्रहार करता रहा, जब तक वह टूटा नहीं। यद्यपि वह आदमी जो ज़मीन पर लेटा हुआ था, आयु में काफ़ी बड़ा था, परंतु काम बहुत सफ़ाई से किया गया था।'*

आज ऐसे कलाकारों की संख्या बहुत कम रह गई है। वर्ष भर भ्रमण की परम्परा तो अब बिल्कुल नहीं है। कुछ विशेष त्योहारों जैसे गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस अथवा किसी विशेष अवसर पर कभी-कभी उनका खेल देखने को मिल जाता है। यह परम्परा पहले से कम हुई है। सन् 1920-30 के मध्य किसी ने लिखा है, 'अब यह तमाशा कभी-कभी ही दिखाया जाता है, फिर भी हम ख़ुशकिस्मत हैं कि इस लंबे अंतराल के बाद भी यह परम्परा जीवित है।'

सन् 1917 में पिन कोठी के 19 परिवार इस नाटक से जुड़े हुए थे। सन् 1931 में भी यही संख्या बताई गई है। बताया जाता है कि अब 'नौ समूह कार्यरत हैं, जिनमें से गाँव लीतिंग, खर, बर और गुलिंग में एक-एक, सगनम में दो तथा मुद में तीन दल हैं। ये समूह सम्पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि दल के छोटे कलाकार एक

से अधिक दलों में काम करते हैं।' सन् 1920 का गज़ेटिअर बताता है कि 'प्रत्येक लामा का बेटा बुछेन बनाया जाता है।'

बुछेन कलाकार बौद्ध धर्म के डुक्पा सम्प्रदाय से सम्बंधित हैं। यह त्रिङमा से विकसित शाखा है। कुछ का कहना है कि इसका सम्बंध शंगपा शाखा से भी रहा है, जो डुक्पा से सम्बंधित थी। इनका मुख्य मंदिर गुलिंग में है। लामाओं से ये थोड़ा भिन्न दिखाई देते हैं, क्योंकि ये अपने बाल लम्बे रखते हैं।

बुछेन का शाब्दिक अर्थ है 'बड़ा लड़का' (बु=बेटा, छेन=बड़ा)। लामाओं की गुरु-चेला परम्परा में गुरु को पिता और शिष्यों को पुत्रवत् भी जाना जाता है। इसलिए बुछेन का व्यावहारिक अर्थ हुआ 'शिष्यों में सबसे बड़ा'। इस प्रथा के संस्थापक के नाम से पहले 'फ' जोड़ा गया है। अतः उनका पूरा नाम 'फ डुबछेन थंग-तोंग-ग्यलपो' अर्थात् 'पिता महासिद्ध थंग-तोंग-ग्यलपो' है। बुछेन को कभी-कभी बु-ज्हेन कहते हुए भी सुना जाता है। यह बुछेन का विकृत रूप है।

बुछेन को कुछ लोग मणिपा नाम से भी जानते हैं। यह नामकरण इसलिए हुआ, क्योंकि इस नाटक को खेलते समय कलाकार 'मणिचक्र' को हाथ में लिए हुए घुमाते रहते हैं और साथ में 'ॐ मणि पद्मे हूँ' का मंत्र भी उच्चरित करते रहते हैं। इसलिए मणि इनकी पहचान बन गई।

बुछेन कलाकारों की प्रस्तुतियों में—कहानी सुनाना, नाटक व तमाशा दिखाना, नाचना, गीत गाना, मज़ाकिया वार्तालाप करना, तलवार का खेल दिखाना, मुँह व जिह्वा में सूआ बींधना और पेट पर पत्थर तोड़ना आदि हैं। इसके अतिरिक्त ये प्रशिक्षित व अनुभवी कलाकार मुख्य रूप से विभिन्न इलाकों में बीमारियों की संभावना और शत्रुओं के भय को भी अपने पवित्र खेल द्वारा कम करते हैं। इनका प्रदर्शन काफ़ी आकर्षक होता है।

यद्यपि प्रदर्शन से प्राप्त होनेवाले उपहार की मात्रा को देखकर नहीं लगता कि यह बहुत लाभदायक व्यवसाय है। सी.जी. ब्रूस 1912 में लिखते हैं : *'आनंद लेनेवाले तमाशबीनों का एक छोटा-सा समूह था, जो अर्द्धवृत्त बैठकर यह नृत्य देख रहा था। जब दृश्य समाप्त हुआ, नर्तक लामा अपने पीतल के बाजे 'झाँझ' को थाली बनाकर सभी दर्शकों के सम्मुख होता हुआ घूमा। साहब ने इसमें एक रुपए का सिक्का डाला तथा उनके सहायक चंद्र सिंह ने एक दुअन्नी। लेकिन साहब को अचंभा हुआ कि शेष सभी दर्शकों ने केवल एक-एक सूई दी।'* लगता है तभी से यह एक मजबूरी का धंधा रहा है।

सन् 1920 के ज़िला गज़ेटिअर में स्पष्ट किया गया है कि पिन घाटी के बुछेन निकट के इलाक़ों में छोटे-छोटे दलों में घूमते हैं और अपनी आजीविका चलाते हैं। वे प्रत्येक गाँव में रुकते हैं, नाटक रचते हैं और कहानियाँ सुनाते हैं। इसके

अतिरिक्त तिब्बती व्यापारियों के साथ कुछ व्यापार करते हैं, जिसमें वे नमक के बदले अनाज का विनिमय करते हैं। फिर वही नमक किन्नौरी ग्राहकों को देकर उनसे बदले में लोहा, भ्रेस और शहद लेते हैं। कभी-कभी वे यात्रियों का सामान भी जोत के पार तक ढोकर ले जाते हैं।

बुछेन का दल चार या पाँच पात्रों का होता है। प्रमुख कलाकार बुछेन अथवा लो-छेन कहलाता है। उससे छोटे कलाकार बु-छुङ कहलाते हैं। ये सभी लामा होते हैं। इन सबसे भिन्न एक अन्य कलाकार है, जो साधारण स्थानीय वस्त्र यानी सफ़ेद लम्बा चोगा और टोपी पहने होता है। इसे लुगज़ी अथवा चरवाहा कहते हैं। इसलिए वह हाथ में पत्थर फेंकनेवाला युगदो तथा कंधे में एक छोटा-सा थैला लिए होता है, जिसमें चरवाहे दोपहर का भोजन ले जाते हैं। उसको मिर्गोद (आदि मानव) और शिकारी भी कहते हैं। प्रमुखतः वह हास्य कलाकार है। लुगज़ी के संवाद के काव्य अंश हम यहाँ दे रहे हैं—

ल्ह-सई ठोम दू ज्हुगसपा,
छोए सेम लाच़ांग वांगमो।
दमछ़िग च़ांगमा यिन यांग,
ङोए डुब योङ ग्यु मि दुग।
गोमस्पा लामे डुङ दु,
सेम क्येद ज्हु रू छिनपा।
गोमस्पा ज्हलरे यिद ला,
खोर ग्यू मि दुग।

—ल्हासा के बाज़ार में रहनेवाली लाच़ांग वांगमो जैसी बहुत रहती हैं। स्वभाव से धार्मिक लगती हैं, परन्तु उनके वचन शुद्ध होने पर भी, उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। चित्तोत्पाद के लिए गुरु के पास जाती हैं, परन्तु उनका मन अन्यत्र विचर रहा होता है।

बुछेन बनने के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम दो-तीन वर्ष के लिए किसी दल के साथ 'थोगपो' अर्थात् 'सेवक' बनकर घूमना होता है और गाना गाकर व नाचकर अपनी योग्यता का प्रदर्शन करना होता है। यह समय कितना लम्बा होगा, यह उसकी अपनी रुचि और कुशलता पर निर्भर करता है।

इस प्रक्रिया में स्वयं को उत्तीर्ण समझने के पश्चात् वह आगे का प्रशिक्षण ले सकता है और उसे निम्न अवस्थाओं को पूर्ण करना होता है। सर्वप्रथम शरण में जाने पर विभिन्न मंत्रों का निम्न प्रकार से एक-एक लाखं बार जाप करना पड़ता है।

1. छाग-बुम : मत के संस्थापक की मूर्ति के समक्ष एक लाख बार मस्तक झुकाना तथा एक लाख बार मणि मंत्र का जाप करना।

2. चित्तोत्पाद : चित्त को अपने इष्ट देवता में रमाने के लिए चित्तोत्पाद के निम्न मंत्र का एक लाख बार उच्चारण करना–

ञलवा कोदपा छेनपो यिन,
रिगपा, येशे, कु-सुम ज़ंग,
ज्होन नू ने की फुङ्पो ला दङ ज़िन,
डोल बर क्यबस सु छी।

–नरक बहुत बड़ा व्यूह है। बुद्धि, ज्ञान और त्रिकाया भद्र हैं। शरीर बचपन से गुस्सा ग्रहण करता है, इन सबसे मुक्ति दीजिए, मैं शरणागत हूँ।

3. यिग-ग्य का मंत्र। 4. मंडल और गेवा का मंत्र तथा 5. लमाई नलज़ोर।

ये अंतिम मंत्र छोटे हैं और इन्हीं नामों से सर्वविदित हैं। इन प्रक्रियाओं को पूरा करने के पश्चात् समाधि में बैठना होता है। यदि साधारण बुछेन रहना है तो एक वर्ष की समाधि पर्याप्त है और मुख्य बुछेन बनने के लिए तीन वर्ष की समाधि आवश्यक है। इसके पश्चात् वह किसी भी मंडली में सम्मिलित हो सकता है। अपनी इस कला का प्रदर्शन सर्वप्रथम उसे अपने ही गाँव में करना होता है, तत्पश्चात् वह बाहर के क्षेत्रों में इस उद्देश्य से जा सकता है।

बुछेन अच्छा शिक्षित लामा होता है और निरंतर कई धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करता रहता है। प्रत्येक बुछेन के घर में एक अच्छा पुस्तकालय होता है। कथाओं की अनेक पोथियाँ होती हैं, जिनमें कुछ लम्बी कहानियाँ रहती हैं, कुछ जीवनी के रूप में और कुछ जातक कथाएँ होती हैं और कुछ में मरणोपरांत पुनः जीवन-प्राप्ति की रोचक कहानियाँ मिलती हैं। बुछेन इन कहानियों को नाटक के रूप में दर्शकों के सम्मुख प्रदर्शित करता है। कुछेक कहानियों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है–

1. चन-रे-ज़िग छोए ग्यल ञिमा कुनदन। 2. उग्र्यन डिमेद कुनदन। 3. डम-ज़े जुग की ञिमा। 4. दय लोग सांगे छोए ज़ोम। 5. दय लोग लिंगज़ा छोए किद। 6. दय लोग नाग सा होन बुम। 7. दय लोग कर्मा वांग ज़िन। 8. छोए ग्यल युन रल वा। 9. खिऊ पदमा होद बर। 10. जे चुन मिला रेपा। 11. डुगपा कुन्लेग। 12. दो-चा मो-चा (तोद-छ मद-छ)। 13. जुङ्पो दोन योद। 14. रन गा प-टा।

इनमें क्रम संख्या दस की कहानी वास्तविक जीवनी है। मिला रेपा तिब्बत के बहुत प्रसिद्ध साधक और कवि हुए हैं। क्रम संख्या चार से सात तक की कहानियाँ मरणोपरांत पुनः जीवन-प्राप्ति की हैं।

इस उत्कृष्ट परम्परा की प्रक्रियाएँ प्रबुद्ध जनों में जिज्ञासा और उत्सुकता निरंतर जगाती रही हैं और इस विषय पर लगातार खोज-बीन होती रही है।

छोद्पा

खंगसर गाँव लाहुल में भागा नदी के ऊपरी भाग 'तोद घाटी' में स्थित है। यह केलंग के ठाकुरों की निवास स्थली है। उनके घर 'खंगसर खर' अर्थात् 'खंगसर का महल' में एक मेला होता है, जिसकी परम्परा काफी पुरानी है। इसे **'छोद्पा'** यानि 'पूजन' कहते हैं। यह वर्ष में दो बार मनाया जाता है। पहला अगस्त में और दूसरा जनवरी में होता है।

खेल शुरू होने से पहले लामा पाठ करते हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त पूरे नाटक में उनकी कोई भूमिका नहीं होती। नाटक के सभी पात्र विशेष वेश-भूषा में मुखौटा पहने होते हैं। इसमें कोई धार्मिक पाठ नहीं होता है और यह किसी धार्मिक सूत्र पर आधारित भी नहीं होता। इसलिए गोन्पाओं में होनेवाले मुखौटा नाच से यह पूर्णतया भिन्न है। इसमें नाचनेवाले प्रमुख पात्र इस प्रकार हैं–

सिंह इस नाटक का मुख्य पात्र है। कपड़े से ढके दो आदमी इसमें काम करते हैं। आगेवाला आदमी खड़ा रहता है और उसके अगले दो पैर शेर के अगले पैरों का काम करते हैं। उसके सिर पर शेर का मुखौटा रहता है, जिसे वह दोनों हाथों से पकड़े रखता है। बायें हाथ से उसने कपड़े का बना नीचे का दाढ़ीवाला जबड़ा पकड़ा होता है। दायें हाथ से ऊपर का भाग भीतर से नाक से पकड़ते हैं। जब नाचते हैं तो शेर का मुँह खुलता है। यहीं से आदमी बाहर को देखता है और आगे चलता है। शेर का सिर या मुखौटा भोजपत्र की लकड़ी का बना होता है, जो बहुत मज़बूत और भारी होता है। नीचे का जबड़ा हल्का और लटकता हुआ होता है। नाचनेवाला जब नीचे का जबड़ा ऊपर के जबड़े से बजाता है तो ज़ोर की आवाज़ निकलती है। इसके साथ ही वह ताल मिलाते हुए ज़ोर से ज़मीन पर पैर मारता है। साथ ही साथ ढोल और नगारे भी बजते हैं। ऐसे ही दायें-बायें मुँह मारता वह आगे-पीछे दौड़ते हुए इसी क्रम से नाचता रहता है। पीछे का आदमी थोड़ा झुककर रहता है। परन्तु दोनों कलाकार बारी-बारी से जगह बदलते रहते हैं। दोनों नौजवान फुर्तीले और ताकतवर होने आवश्यक हैं।

बन्दर दूसरा महत्त्वपूर्ण पात्र है। मुखौटा पहने, हाथ में डंडा लिए, वह भीतर से शेर को खेल के मैदान तक अगुआ करके लाता है। आदतन वह चंचल और शरारती होता है। सभी उसे अखरोट देते हैं, जिसे वह अपने आगे ज़मीन पर फेंकता है। उस पर नाचते हुए कदम रखता है और तोड़ता है। वह कभी-कभी अपनी लाठी को तोड़ता है तो उसे नई लाठी देते हैं। इस तरह शरारत करता हुआ कभी वह अश्लील इशारे भी करता है।

ग्यापो-पेकर (राजा-पेकर) तिब्बती परम्परा के अनुसार मन्दिरों का रक्षक माना जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पद्मसंभव उन्हें भारत के

ओदन्तपुरी महाविहार से अपने साथ तिब्बत ले गये थे और वहाँ उन्हें समये विहार के रक्षक के रूप में रहने की शपथ दिलायी थी।

ग्यापो बोन-नॉक् (दो बोन राजा) सम्भवतः तिब्बत के आदि धर्म 'बोन' सम्प्रदाय के राजा के प्रतीक हैं। इन दोनों राजाओं की एक पत्नी होती है। इनके पीछे होते हैं **सात पात्र,** जिन्हें **'बॉग् चोंग-चोंग'** अथवा **तिंग् कल-कल ज़्री मंग् कल- कल़्ज़्री** कहते हैं। ये सातों अलग-अलग रंग के कपड़े पहनते हैं। शेर और बन्दर के अतिरिक्त शेष सभी शांति से नाचते हैं।

गद्दी इन सभी के अन्त में आता है। वह पूरा गद्दी का वेश धारण करता है। घुटनों के ऊपर तक ऊनी सफेद चोगा पहने वह कमर पर काले डोरे का खूब मोटा कमरबन्द और एक हाथ में कुल्हाड़ी तथा कमर में हुक्का लिए होता है। वह अन्त में थोड़ा अलग से नाचता है। उसके इस नाच को 'लोग्-छो' कहते हैं। क्योंकि घुटने से नीचे उसकी टांगें नंगी होती हैं, इसलिए बच्चे शरारत करते हैं और उसकी टांगों में बिच्छूबूटी मारते हैं। गद्दियों के लाहुल आने की बहुत पुरानी परम्परा है। शायद यह उसी परम्परा का प्रतीक है।

इस तरह यह पूरा खेल गर्मियों में होता है। सर्दियों में शेर नहीं निकलता है। दोनों राजा तीर लेकर निकलते हैं और तीर भी चलाते हैं। यह खेल कब शुरू हुआ, इसके बारे में कोई अनुमान लगाना कठिन है। परन्तु यह कैसे शुरू हुआ, इसके बारे में लोक मान्यता है कि एक बार एक शिकारी खंगसर गाँव के पार ऊँचे पहाड़ पर शिकार खेलने के लिए गया। वहाँ बर्फ़ पर उसने शेर को नाचते हुए देखा। उसी नृत्य की यह नकल है। यह शेर गाङ्-सिंग् अर्थात् बर्फ़ का शेर कहलाता है। दूसरा होता है दम-सिंग् अर्थात् जंगल का शेर।

सिंह नृत्य सिक्किम, अरुणाचल आदि हिमालय के कई क्षेत्रों में खेला जाता है। अरुणाचल प्रदेश के मुख्य मन्दिर तावांग में नाच की कथा इस प्रकार है–

एक बार एक सिद्ध पहाड़ों पर समाधि के लिए गया। वहाँ जल और भोजन नहीं था। तब 'बर्फ़ानी शेर' ने इसका प्रबन्ध किया। तब से यह नाच उसके सम्मान में होता है। यहाँ शेर के साथ बन्दर नहीं वरन् मोर होता है।

लाहुल के नाचनेवाले शेर और अन्य स्थानों के नर्तक शेर में थोड़ा अन्तर है। लाहुल में उसकी वेश-भूषा कपड़े की होती है। शेर का सिर या उसका मुखौटा लकड़ी का, परन्तु काफी भारी होता है। इसलिए नाचनेवाले ताकतवर और फुर्तीले होने चाहिए। उसके नाचने की कला उसके सिर और मुँह को चलाने में अधिक है। अन्य स्थानों पर शेर का कपड़ा बालोंवाला होता है और उसकी चतुराई उसके उछलने-कूदने और पलटा खाने में है। लेकिन यह अफसोस से कहना पड़ता है कि लाहुल में यह खेल अब प्रचलन में नहीं है।

स्पीति की बुछेन परम्परा

डॉ. नोरबू ग्यलछ़न नेगी

लाहुल-स्पीति की बुछेन परम्परा सम्पूर्ण हिमालय क्षेत्र में प्रसिद्ध है। इस परम्परा का सूत्रपात 14वीं शताब्दी में तिब्बत में हुआ था। उसके बाद इसकी शिक्षा थंग-तोंग-ग्यलपो ने अपनी स्पीति यात्रा के दौरान वहाँ के अनुयायियों को दी। तब से लेकर आज तक यह परम्परा कायम है। इस परम्परा के जनक महासाधक थंग-तोंग-ग्यलपो के प्रमुख शिष्यों को ही बुछेन की संज्ञा दी गई है। बुछेन अर्थात् महापुत्र।

थंग-तोंग-ग्यलपो का जन्म भोटी पंचांग के अनुसार छठे रबजुङ के लौह-स्त्री वृषभ वर्ष तदनुसार सन् 1361 ई. में चङ प्रान्त के ऊपरी होवा ल्हचे़ रिछेन दीङस् नामक स्थान में एक कृषक परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम दोर्जे ग्यलछ़न तथा माता का नाम ग्यागर ल्हमो था। ये छह भाई-बहन थे—सेरो पल, लोबपोन, पलछुन, फनपो, ङदर, ठोवो पल्दन तथा बहन पलज़िन दोर्जेमा। थंग-तोंग-ग्यलपो छह भाई-बहनों में पाँचवें थे। ठोवो पल्दन ही बाद में थंग-तोंग-ग्यलपो के नाम से प्रसिद्ध हुए। वह बाल्यावस्था से ही मेधावी एवं पर हितैषी थे। माता-पिता ने उन्हें अक्षर-ज्ञान हेतु प्रारम्भ में जङदीङ नामक गोन्पा में छोसक्योङ पलवा के पास भेजा। उन के सान्निध्य में रहकर उन्होंने रंजना, वर्तुल लिपियों तथा भोटी भाषा एवं व्याकरण से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त किया।

बाद में माता की इच्छानुसार उसी गोन्पा में उन्होंने लामा ञिमा सेङगे से प्रव्रज्या ग्रहण की। उसके पश्चात् उन्होंने दोगतोद क्यारा नामक गोन्पा में काञा-पा पलज़ोर शेरब से ज्ञान पाया। काञा-पा पलज़ोर शेरब ने उन्हें चोनडुस सङपो नाम दिया। उन्होंने डमरिङ छोसदे गोन्पा में लोडोस दोर्जे तथा कोनछोग दरमा से त्रिपिटक की शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वे साक्या में पधारे। गङ-बुल नामक स्थान में उन्होंने दरमा पलवा से जल-साधन का उपदेश ग्रहण किया। इसके पश्चात् ल्हदोङपा सोनम छोग, कुनपङ रिनछेन ग्यलछ़न, रेन्दावा शोनु लोडोस, जाफुरवा आदि विद्वानों से

पुरातन तथा नवीन तंत्र की शिक्षा तथा अग्नि एवं वायु साधन का उपदेश ग्रहण किया। अनेक वर्षों तक साधना करते हुए वे एकान्तवास का जीवन व्यतीत करते रहे। थंग-तोंग-ग्यलपो ने नेपाल तथा भारत के तीर्थ-स्थलों का भी दर्शन किया। नेपाल में फगस्-पा शिङ्कुन (स्वयम्भू) नामक स्तूप का सफेद रंग-रोगन तथा जरूङ खशोर (बौद्धनाथ) नामक स्तूप का उन्होंने पुनरुद्धार किया।

अठारह वर्षों तक नेपाल, भारत के बोधगया तथा सङस् लिङ (ताम्र द्वीप, जिसे कुछ लोग श्रीलंका और कुछ जावा मानते हैं) में सिद्ध साधकों से धर्म श्रवण किया। विशेष रूप से बोधगया के समीप स्थित सङ्वा-फुग (गुह्य-गुफा) नामक स्थान में डुबथोब कल्दन दोर्जे डगपा से ञिङ्मा परम्परा से सम्बन्धित सभी धर्मों का श्रवण किया। इसके बाद उन्हें साधना में विशेष सिद्धि प्राप्त हुई। वे पुनः तिब्बत गये और धर्म के गुह्य रहस्यों को निधि के रूप में वहाँ सुरक्षित रखा। माता ग्यागर ल्हमो के निधन के पश्चात् उनके अस्थि-अवशेष पर छ़ा-छ़ा (साच्छा) तथा स्तूप का निर्माण किया। उन्होंने सूत्र-संग्रह को स्वर्णाक्षरों से लिखा। काय आश्रय के रूप में उन्होंने सर्वप्रथम पट्टचित्र का निर्माण किया।

थंग-तोंग-ग्यलपो सभी तीर्थ-स्थलों का दर्शन करनेवाले योगी थे। एक समय छ़लगुङ नामक स्थान से ल्हासा जाते समय उन्हें मार्ग में ल्हदोङ शनखर नामक स्थान पर नदी पार करने हेतु नाव में सवार होना पड़ा। उनके पास नाविक को देने के लिए किराया नहीं था, जिसके कारण नाविक ने क्रोधित होकर उनके सिर पर तीन बार पतवार से प्रहार किया और उन्हें नदी में फेंक दिया। इस घटना से वे अत्यन्त दुःखी हुए तथा उन्हें आभास हुआ कि उनकी तरह असंख्य गरीब लोगों को भी ऐसा कष्ट झेलना पड़ता होगा। अतः उन्होंने नदी को पार करने में असमर्थ लोगों के लिए पुल निर्माण करने की प्रतिज्ञा ली।

तिब्बत में प्रत्येक वर्ष बड़ी संख्या में श्रद्धालु तीर्थ-स्थलों के दर्शन हेतु जाते थे। श्रद्धालुओं को मार्ग में अनेक छोटी-बड़ी नदियों को पार करना होता था। उसमें उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। लोगों की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए थंग-तोंग-ग्यलपो ने अनेक पुलों का निर्माण करने का निश्चय कर तिब्बत के तीनों प्रान्त ऊस, चङ तथा खमस् के अतिरिक्त मोनयुल (वर्तमान में अरुणाचल प्रदेश), भूटान आदि जाकर चन्दा के रूप में लोहा एकत्र किया।

उन्होंने ल्हदोङ शनखर नामक स्थान में सर्वप्रथम अपनी सत्तर वर्ष की आयु में सन् 1430 ई. में स्थानीय लोगों के सहयोग से लौह-पुल का निर्माण करवाया। इसके बाद वे डुबथोब चगस् ज़मसा के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने कुल 58 लोहे के पुलों का निर्माण करवाया, जिनमें से एक पुल का अस्तित्व ल्हासा के समीप सन् 1948 ई. तक भी था। थंग-तोंग-ग्यलपो ने 118 नाव तथा 60 काष्ठ-पुलों का निर्माण करवाया।

इसके अतिरिक्त थंग-तोंग-ग्यलपो ने बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की धातु एवं मृण्-मूर्तियों का भी निर्माण करवाया। उनके द्वारा धातु की मूर्तियाँ 37 फुट तथा मृण् निर्मित मूर्तियाँ 55 फुट ऊँची होती थीं। इसके अतिरिक्त बड़ी संख्या में भित्तिचित्रों, पट्टचित्रों आदि के साथ एक सौ बीस संघकक्षों तथा विहारों का निर्माण भी करवाया, जिनमें सन् 1433 ई. में निर्मित भूटान स्थित पडो दुदचि़ ल्हखङ आदि विहार सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक साधना-कक्ष भी बनवाए, जिनमें वेननस थरपई लिङ नामक साधना कक्ष प्रसिद्ध है। वाक् आश्रय के रूप में उन्होंने कंग्युर एवं तंग्युर को स्वर्णाक्षरों में लिपिबद्ध करवाया।

थंग-तोंग-ग्यलपो को तिब्बत तथा हिमालय क्षेत्र में गीति-नाट्य का संस्थापक माना जाता है। सर्वप्रथम उन्होंने आचे-ल्हमो नामक गीति-नाट्य का शुभारम्भ किया, जो तिब्बत में लौह-पुल निर्माण हेतु सामग्री एकत्र करने के लिए किया गया था। सात बहनों की मण्डली तैयारकर तिब्बत के भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर गीति-नाट्य दिखाये तथा उसके बदले पुल निर्माण हेतु लौह सामग्री एवं धन एकत्र किया। इसके बाद उन्होंने तिब्बत में कुल 58 लौह-पुलों का निर्माण किया। वर्तमान में आचे-ल्हमो गीति-नाट्य की परम्परा अरुणाचल प्रदेश में लोकप्रिय है। तिब्बत में भी इसका प्रचलन है।

थंग-तोंग-ग्यलपो बौद्ध जगत् में इतने लोकप्रिय हैं कि उन्हें अनेक नामों से जाना जाता है। उनके अन्य नामों में लुङतोङ ञोनपा, डुबथोब चगजम्पा, चो़नडुप स़ङपो आदि हैं। आधुनिक विद्वानों ने उन्हें सुप्रसिद्ध अभियन्ता के नाम से भी अभिहित किया है। वे कुशल वैद्य के साथ-साथ लोहार भी थे। तिब्बत सहित हिमालयी क्षेत्र में लोग अपने घरों में थंग-तोंग-ग्यलपो की मूर्ति रखकर उनकी पूजा करते हैं। उनके अनुयायी अपने निवास बदलने के दौरान सर्वप्रथम उनकी मूर्ति को ले जाते हैं, उसके बाद अन्य वस्तुओं को ले जाने की परम्परा है। थंग-तोंग-ग्यलपो की मृत्यु भोटी पंचांग के अनुसार काष्ठ सर्प वर्ष तदनुसार सन् 1485 ई. में तिब्बत के च़ङ प्रान्त के ऊपरी भाग रिबोछ़े नामक स्थान में हुई।

बुछेन परम्परा का इतिहास

जैसा पहले कहा जा चुका है, बुछेन परम्परा की स्थापना सर्वप्रथम 14वीं शताब्दी में थंग-तोंग-ग्यलपो ने तिब्बत में की। तिब्बत में आर्यावलोकितेश्वर के षडक्षरी मन्त्र 'ॐ मणि पद्मे हूँ' का जाप करते हुए गीति-नाट्य कला को मंच के माध्यम से प्रस्तुत करनेवाले को मणिपा कहा जाता है। तिब्बत में मणिपा लामाओं द्वारा दीवारों पर डीमेद कुनदन, पद्मा होदबर, नङसा होदबुम, डोवा स़ङमो, जुगस्-क्यी ञिमा, ग्यलज़ा-बलज़ा, चुङ दोनयोद-दोनडुब, नोरबू स़ङपो आदि की कथाओं अथवा जीवन-वृत्तों को पट्टचित्रों पर प्रदर्शितकर नाट्य प्रस्तुत किया जाता था। इस परम्परा

के माध्यम से श्रद्धालुओं को कुशल, अकुशल कर्म, संसार के दोष तथा कर्मफल आदि से अवगत कराया जाता था। यही परम्परा स्पीति की पिन घाटी में बुछेन के नाम से प्रसिद्ध हुई।

थंग-तोंग-ग्यलपो के महापुत्र अर्थात् शिष्य को बुछेन कहा जाता है। बुछेन एवं मणिपा में किंचित् भिन्नता परिलक्षित होती है। यद्यपि दोनों लोक-पात्रों के जीवनवृत्तों को नाट्य कला के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं। परन्तु बुछेन मणि जाप गीति-नाट्य सुनाने के साथ अन्त में शत्रु एवं विघ्नों के शमन हेतु विघ्न निवारण अनुष्ठान के रूप में किसी श्रद्धालु के शरीर पर पत्थर तोड़ने का प्रदर्शन भी करते हैं। यही बुछेन परम्परा की विशेषता है। जनश्रुति के अनुसार एक समय थंग-तोंग-ग्यलपो ऊस चड़ में चुङ रिबोछे नामक विहार का निर्माण करवा रहे थे। श्रमिकों के द्वारा दिन में निर्मित विहार के ढाँचे को रात में दानवों अथवा प्रेतात्माओं के द्वारा नष्ट कर दिया जाता था। दानवों द्वारा किये जा रहे विघ्न के निवारण के लिए थंग-तोंग-ग्यलपो ने ग्यलवा रिगस्-ङ अर्थात् कुल बुद्ध के रूप में पाँच निर्माणकाय निर्मितकर विघ्न निवारण अनुष्ठान के रूप में पत्थर तोड़ने का प्रतीकात्मक सामारोह सम्पन्न किया था। फलस्वरूप श्रमिकों को बिना विघ्न कार्य पूरा करने में सफलता मिली।

एक बार छुबो-रि नामक स्थान में थंग-तोंग-ग्यलपो नदी पर लौह-पुल का निर्माण करवा रहे थे। यहाँ पर भी प्रेतात्मा अथवा अमनुष्यों ने उनके कार्य में बाधा पहुँचानी प्रारम्भ की। नदी के जल का स्तर काफी बढ़ गया तथा नदी के बहाव में पुल टूट गया। उन्होंने दूसरी बार विघ्न-नाशक अनुष्ठान का आयोजन करते हुए प्रेतात्मा को पत्थर में समाहित कर उसे तोड़ दिया। इसके बाद वे पुल निर्माण कार्य में सफल हुए। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार एक बार तिब्बत की राजधानी ल्हासा में महामारी फैलने लगी तो गेलुग सम्प्रदाय के संस्थापक ज़े रिन्पोछे ने महामारी को रोकने के लिए थंग-तोंग-ग्यलपो को संदेश भेजा। ज़े रिन्पोछे का संदेश पाकर वे सफेद गरुड़ पर सवार होकर ल्हासा पहुँचे। उन के आगमन की खबर सुनते ही विघ्न पहुँचाने वाली प्रेतात्माएँ वहाँ पर स्थित जोखङ विहार के प्रवेश-द्वार के नीचे छिप गईं। महासिद्ध ने प्रेतात्मा को पत्थर में समाहितकर नगर के मध्य लाकर तांत्रिक अनुष्ठान में प्रयोग लाये जानेवाले वज्र के प्रहार से नष्ट कर दिया। इस प्रकार तीसरी बार विघ्न निवारण अनुष्ठान प्रयोग किया गया। तब से लेकर इस परम्परा को जीवंत रखनेवाले उनके शिष्यों को बुछेन कहते हैं।

स्पीति में बुछेन परम्परा

लाहुल-स्पीति जिले के अन्तर्गत स्पीति की पिन घाटी में प्रचलित यह बुछेन परम्परा सम्पूर्ण हिमालय ही नहीं, पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। बुछेन परम्परा प्राचीनकाल से ही अपने धर्म व संस्कृति को यथावत् बनाये रखने में मददगार साबित

हुई है। फलस्वरूप वर्तमान युग में भी स्पीति में बौद्ध धर्म एवं संस्कृति में विशेष परिवर्तन देखने को नहीं मिलता। आज भी यह परम्परा धर्म एवं संस्कृति को सुरक्षित रखने में सक्षम है।

भारत का यह दुर्गम क्षेत्र शीतकाल में पूर्ण रूप से सफेद बर्फ़ की चादर तले ढका रहता है। लगभग छह महीने घर के बाहर कोई कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। लोगों के पास समय व्यतीत करने एवं मनोरंजन का कोई साधन भी नहीं होता है। पिन घाटी में छोटे-बड़े सोलह गाँव विद्यमान हैं। शीतकाल में बुछेन गाँव-गाँव में जाकर लोगों को गीति-नाट्य दिखाते हुए मणि जाप करवाते हैं तथा शत्रु नाश एवं गाँव में होनेवाले विघ्नों के निवारण हेतु पत्थर तोड़ने का अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं। बुछेन के समूह में पाँच लोग सम्मिलित होते हैं, यथा–बुछेन अथवा लोछेन, वेनपा तथा तीन ञनपा (श्रावक)। उन्हें ग्यलवा रिगस्-ङा भी कहा जाता है। समूह के मुखिया को बुछेन अथवा मे-मे बुछेन कहते हैं।

बुछेन नाट्य प्राचीनकाल से वंशानुगत अर्थात् पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है। वंश परम्परा के अनुसार बुछेन अपने पुत्र को बाल्यावस्था में ही भोट भाषा की शिक्षा देना प्रारम्भ करता है। इसके साथ-साथ बुछेन परम्परा के इष्टदेव आर्यावलोकितेश्वर की पूजा-विधि का अभिषेक भी प्रदान किया जाता है। परम्परा के अनुसार बालकों को अनेक लघु गीति-नाट्य कण्ठस्थ करवाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें पूजा-विधि एवं लोक-नृत्य में प्रयुक्त किये जानेवाले वाद्ययंत्रों का भी अभ्यास करवाया जाता है। बुछेन को धर्म की व्याख्या एवं कथानकों का वर्णन करने में दक्ष होना पड़ता है। लगभग 20 वर्ष की अवस्था में उसे एकान्त में जाकर विशेष साधना करनी पड़ती है। प्राचीनकाल में लो सुम, छोस सुम के नाम से तीन वर्ष, तीन माह तथा तीन दिन की विशेष साधना करने की परम्परा थी। वर्तमान में छह माह में ही इस साधना को पूरा करने की विधि विकसित कर ली गई थी। इस दौरान पूर्वयोग साधना की पात्रता हेतु सर्वप्रथम शरणगमन एवं बोधिचित्त की देशना के रूप में एक लाख साष्टांग प्रणाम, पापावरण की शुद्धि के लिए वज्रसत्त्व की भावना तथा एक लाख मंत्र जाप, सम्भार की पूर्ति के लिए एक लाख मण्डलार्पण और अनुभव की प्रवृत्ति हेतु एक लाख की संख्या में गुरुयोग पूजा को सम्पन्न करना पड़ता है। इन सभी को पूर्ण करने के बाद वह बुछेन की परम्परागत शिक्षा को प्राप्त कर लेता है। बुछेन के अन्य सहयोगी के रूप में कोई भी योग्य प्रतिभागी भाग ले सकता है। परन्तु वेनपा का हास्य के गुणों से युक्त होना आवश्यक है, क्योंकि उसे लोगों को हँसाना भी पड़ता है।

बुछेन की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उसे परीक्षा के रूप में सर्वप्रथम पिन घाटी में श्रद्धालुओं के समक्ष यह नाट्य प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके पश्चात् ही वे अन्य स्थानों पर इस नाट्य का प्रदर्शन कर सकते हैं।

पिन घाटी की बुछेन परम्परा

प्रत्येक वर्ष के नवम्बर माह में इस परम्परा के संस्थापक महासाधक थंग-तोंग-ग्यलपो की मूर्ति तथा उनके जीवन-वृत्तान्त का पट्टचित्र लेकर बुछेन सर्वप्रथम पिन घाटी के मुद नामक गाँव से इस नाट्य को आरंम्भ करते हैं तथा अन्तिम गाँव तङती योगमा में इस अनुष्ठान को सम्पन्न करते हैं। बुछेन समूह के स्वागत के लिए ग्रामवासी अपने हाथों में खतग, दूध, दही, मदिरा लिये एक कतार में खड़े रहते हैं। बुछेन भी लोगों के अभिवादन स्वरूप 'छोटिन' के नाम से श्रद्धालुओं द्वारा भेंट किये हुए दूध, दही, मदिरा को स्वीकार करते हैं। गाँव में प्रवेश कर वे गाँव के ठल्पा अर्थात् सम्पन्न घर में रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष वे गाँव के सम्पन्न घरों में बारी-बारी से रहते हैं। जितने दिन बुछेन समूह गाँव में रहेंगे, उतने दिन गाँववासी उनके लिए भोजन आदि की व्यवस्था करते हैं। रात्रि भोज के पश्चात् नृत्य का कार्यक्रम भी होता है। दूसरे दिन बुछेन 'मणि जाप' हेतु लोगों को एकत्र करने के लिए शंख बजाकर संकेत देते हैं। ग्रामवासी भी 'मणि जाप' एवं गीति-नाट्य प्रारम्भ होने से पहले बुछेन समूह को भेंट करने के लिए सत्तू, घी, अनाज, पैसे आदि के साथ उस स्थान पर एकत्र होते हैं। लोगों के एकत्र होने के पश्चात् बुछेन अपने द्वारा सजाये हुए पट्टचित्रों की व्याख्या करते हैं और बीच-बीच में षडक्षरी मणि मंत्र का जाप भी कराते हैं।

पट्टचित्रों में डीमेद कुनदन, पद्म होदबर, डोवा सङ्मो, ग्यलबु नोरसङ आदि की जीवनियाँ अंकित होती हैं, जिन्हें सभी लोग ध्यानपूर्वक सुनते हैं। बुछेन से कर्म-फल, मृत्यु, कुशल कर्मों के पालन तथा अकुशल कर्मों के त्याग आदि का वर्णन सुनने के पश्चात् अनेक लोग भावातिरेक में रो पड़ते हैं। मणि जाप की समाप्ति पर सभी श्रद्धालु अनाज आदि दान के रूप में भेंट करते हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे गीति-नाट्यों को श्रद्धालुओं के समक्ष प्रस्तुत करने में बुछेन समुदाय को पन्द्रह-सोलह दिन एक ही गाँव में लग जाते हैं।

बुछेन समुदाय हर दिन लगभग तीन-चार घंटे मणि-जाप के साथ-साथ श्रद्धालुओं के समक्ष गीति-नाट्य भी प्रस्तुत करते हैं। प्रतिदिन शंख बजाकर लोगों को एकत्र किया जाता है। उनके एकत्र होते ही मणि-जाप कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है। एक दिन विघ्ननाशक अनुष्ठान का होता है। उस दिन बुछेन समुदाय प्रातःकाल तीन-चार फुट लम्बा पत्थर लाकर मणि-जाप स्थल पर जौ या गेहूँ से निर्मित स्वस्तिक के ऊपर रखते हैं और पुनः शंख बजाकर लोगों को आमंत्रित करते हैं। लोगों के एकत्र होते ही मणि-जाप प्रारम्भ करते हैं। मणि-जाप के पश्चात् विघ्न निवारण अनुष्ठान के रूप में वे पत्थर तोड़ने का कार्य करते हैं। इस अनुष्ठान को सम्पन्न करने के लिए बुछेन ग्यल्पो नोरसङ तथा वेनपा गड़रिया (लुगज़ी) का रूप

धारणकर निकलते हैं। यह दृश्य बहुत ही मनोरंजक होता है, क्योंकि वह वस्त्र के रूप में बकरी की खाल को उल्टा धारणकर, चेहरे पर सत्तू का लेपकर, पीठ पर टोकरी में गूथे सत्तू को रखकर तथा हाथ से योगतो अर्थात् रस्सी बनाते हुए गाना गाते हुए मनुष्यरूपी बड़े बन्दर या चिम्पांजी के रूप में दिखाई देते हैं।

बुछेन द्वारा धर्म से सम्बंधित प्रश्न पर वे बेसिर-पैर के हास्यास्पद जवाब देते हैं। मज़ेदार जवाब सुनकर सभी लोग हँस पड़ते हैं। तत्पश्चात् वह गड़रिया टोकरी से गूँथे हुए सत्तू निकालकर उँगलियों से घुमाते हुए अनेक प्रकार से व्याख्या करता है और देव, नाग सभी को अर्पित करने के पश्चात् उसे खा लेता है। इसके पश्चात् बुछेन चिम्पांजी को ताड़ना देते हुए बाहर निकाल देता है। तदुपरान्त ग्यलपो नोरसङ के रूप में बुछेन द्वारा चिम्पांजी का दमन करने की परम्परा प्रदर्शित की जाती है।

इसके पश्चात् बुछेन केवल लुंगीनुमा वस्त्र धारणकर दोनों भुजाओं में सुई लगाते हैं; पीठ पर लाल या पीले रंग का ध्वज धारण करते हैं; सिर पर पाँच रंग के ध्वज को पहनते हैं; दाहिने गाल से बाँये गाल तक एक लम्बी सुई से छेद करते हुए दोनों हाथों में नुकीली तलवार लेकर आते हैं। तलवार की नोक पर पेट के बल लेटते हुए वे अनेक प्रकार के खेल दिखाते हैं। इसके बाद एक जनपा (श्रावक) सहयोगी को शत्रु के रूप में चिह्नित कर उसके ऊपरी भाग को नग्न करते हुए उसके गाल एवं नाक पर काले रंग का चिह्न लगाते हैं। फिर उसके सामने तलवार रखकर नाट्य प्रसंग का उद्देश्य एवं अर्थ बताते हुए, तीन बार उसके पेट पर तलवार से प्रहार करते हैं। इसके बाद सोमरस अर्पणकर विघ्न निवारण अनुष्ठान के रूप में पत्थर तोड़ने का विधान सम्पन्न किया जाता है। इसके लिए दर्शकों की ओर से एक व्यक्ति को आमंत्रित किया जाता है। उस व्यक्ति को लिटाकर उसके पेट पर पत्थर रखा जाता है, जिसे बुछेन अंकित पत्थर से मारकर तोड़ने का प्रयास करता है। यदि पहले प्रयास में पत्थर टूट जाता है तो उसे शुभ माना जाता है। दूसरे या तीसरे प्रयास में भी पत्थर न टूटने पर उस व्यक्ति के स्थान पर अन्य व्यक्ति को बुलाकर उसके पेट पर पत्थर रखकर तोड़ने का उपक्रम किया जाता है।

पत्थर के टूटते ही लोग ऊँचे स्वर में एक साथ ल्ह ग्याल-लो (देवता की जय हो) कहते हैं। क्योंकि लोग उस पत्थर को अमंगल, विघ्न और शत्रुओं का प्रतीक मानकर उसके टूटने से शत्रु का नाश तथा देवताओं की विजय मानते हैं। पत्थर के टूटते ही सभी श्रद्धालुगण पत्थर के टुकड़े उठाने के लिए टूट पड़ते हैं। लोगों में यह विश्वास है कि पत्थर के टुकड़े को अपने घर में घास रखने की जगह पर रखने से दूध एवं पशु की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त मदिरा के बर्तन में डालने की भी परम्परा है। लोगों का कथन है कि इससे मदिरा स्वादिष्ट होती है। सभी श्रद्धालु

बुछेन को दक्षिणा के रूप में सत्तू, घी, अनाज, पैसे आदि भेंट करते हैं। इसके पश्चात् बुछेन दुतारी वाद्ययंत्र बजाते हैं और सभी लोग नृत्य करने लगते हैं। इसी बीच बु-छुङ (उप-मुखिया) बीच-बीच में मी-खा (कुदृष्टि) के नाश हेतु अभद्र शब्दों का प्रयोग करते हैं। सब कार्य सम्पन्न हो जाने के बाद बुछेन समुदाय दूसरे गाँव के लिए प्रस्थान करता है। उक्त गाँव से महिलाएँ, युवतियाँ तथा श्रद्धालुगण उन्हें दूसरे गाँव की सीमा तक पहुँचाने जाते हैं। दूसरे गाँववासी उनके स्वागत के लिए अपने गाँव की सीमा पर एक पंक्ति में कतारबद्ध खड़े रहते हैं।

बुछेन समुदाय के पहुँचते ही ग्रामवासी श्रद्धापूर्वक उनका स्वागतकर अपने गाँव में ले जाते हैं। इस प्रकार शीतकाल में बुछेन समुदाय पिन घाटी के गाँव-गाँव में घूमकर षडक्षरी मंत्र जाप का आयोजन, गीति-नाट्य प्रस्तुति तथा विघ्न नाशक अनुष्ठान के रूप में पत्थर तोड़ने की परम्परा को श्रद्धालुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यदि शीतकाल में बुछेन पिन घाटी के अन्तिम तङती गाँव तक नहीं पहुँच पाते हैं तो अगले वर्ष के शीतकाल में 'जिस गाँव में पहले समाप्त हुआ था' उसके दूसरे गाँव से बुछेन की प्रस्तुति को आगे बढ़ाते हैं। पिन घाटी के अतिरिक्त लद्दाख, किन्नौर, लाहुल आदि स्थानों में जाकर भी बुछेन कलाकार इस पारम्परिक नाट्य को श्रद्धालुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। बुछेन पिन घाटी में सम्पन्न किये जानेवाले अन्य धार्मिक कार्यों में भी शामिल होते हैं। प्रत्येक वर्ष पिन घाटी में अपने-अपने गाँव के देवालयों में भिक्षु, उपासक, उपासिका तथा श्रद्धालु उपोसथ के लिए एकत्र होते हैं। इस दौरान प्रमुख लामा भिक्षु द्वारा श्रद्धालुओं को उपोसथ (निराहार व्रत) की दीक्षा दी जाती है तथा बुछेन उन्हें गेलोङ-मा पलमो, सङग्यस छोसजोम तथा कुगपा आदि के जीवन-वृत्तान्त सुनाते हैं, जिसे सभी ध्यानपूर्वक सुनते हैं। इन जीवनियों से धर्म सम्बंधी शिक्षा ग्रहण की जाती है।

आजकल लोग बुछेन के समारोह को अपने-अपने घरों में विघ्न निवारण तथा सामान्य रूप में घर की समृद्धि के लिए भी आयोजित करते हैं। प्रत्येक वर्ष फसल कटने से पूर्व गुङ-रि गोन्पा में छम समारोह का आयोजन होता है। इस गोन्पा में छम का समापन बुछेन की प्रस्तुति के साथ होता है। नववर्ष, विवाह के उपलक्ष्य तथा किसी विशिष्टजन के आगमन पर भी बुछेन का आयोजन होता है।

सन्दर्भ

1. दुङकर लोबसङ ठिनलस : दुङ-दूकर छिग-मूजोद छेन-मो, भाग-प्रथम, 2002
2. साफुद थुबतन पल्दन : ल-द्वगस्, 2002
3. रेरिख, जॉर्ज : 'द सेरमनी ऑफ ब्रेकिंग द स्टोन', उरूस्वती, अंक-2 (4), हिमालयन रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ द रेरिख म्यूज़ियम
4. पिन निवासी सोनम दोर्जे से साक्षात्कार पर आधारित

ठोडा : महाभारत युद्ध का नृत्यनाट्य

डॉ. तुलसी रमण

भारत वर्ष में विभिन्न जातियों के लोग हैं। यहाँ की अनेक आदिम जातियों की अपनी अनूठी परम्पपराएँ हैं, जो आदिम जीवन से चली आ रही हैं। ऐसी अनेक जनजातियों में धनुष-बाण के उपयोग का प्रचलन आजतक चला आ रहा है। यह कहीं आदिम समाज का सूचक है, तो दूसरी ओर रामायण तथा महाभारतकालीन उन युद्धों की भी याद दिलाता है, जब धनुष-बाण से धर्म-युद्ध लड़े जाते थे और बड़े-बड़े योद्धा धनुर्धर कहलाते थे। तब धनुर्विद्या के महान गुरु हुआ करते थे और उनके शिष्य गुरु से आगे निकल जाते थे। *ठोडा* उसी महान भारतीय परम्परा का अवशेष है।

हिमाचल प्रदेश के शिमला, सिरमौर व सोलन ज़िलों का *ठोडा* उसी पारम्परिक धनुर्विद्या की याद दिलाता है। यहाँ धनुष-बाण का खेल आज भी *ठोडा* के रूप में प्रसिद्ध है, लेकिन इसमें नृत्य, नाट्य और संगीत प्रमुख भूमिका निभाते हैं और *ठोडा* के निष्पादन में समग्र प्रभाव बनाते हैं। इसमें खेल होता है धनुष-बाण का, नाच उठते हैं खिलाड़ियों यानी योद्धाओं के वीर रस से प्रफुल्लित विशाल वक्ष और बलिष्ठ भुजदंड। यह सब मिलाकर नाट्य होता है *महभारत युद्ध* का। यह खेल या नृत्य-नाट्य, लोक-वाद्यों की जिस निरंतर धुन पर सम्पन्न होता है, उसे *ठोडा ताल* कहते हैं। इसमें ढोल, नगारा, शहनाई, करनाल आदि वाद्य बजते हैं। यह धुन बजते ही पहाड़ों में दूर-दूर तक पता चल जाता है कि उधर *ठोडा* खेला जा रहा है। रणभेरी का यह वादन ठोडा के योद्धा-खिलाड़ियों और उनके पीछे समर्थन को चलते सशक्त नर्तकों के दल-बल में ग़ज़ब का जोश भरता है। इस बात का तब पता चलता है, जब वीर रस का संचार करनेवाली यह धुन एकाएक थम जाती है तो *ठोडा* स्वतः रुक जाता है।

ठोडा का यह खेल देव-मंदिरों के प्रांगण या मेले के पारम्परिक मैदान में

होता है, जिसे *जुबड़ी* इसलिए कहते हैं कि वह *ठोडा* खेल के इंतज़ार में *जूब* यानी हरी दूब से भरी होती है। यही *जुबड़ी* रणांगन में तबदील हो जाती है। इसीलिए *ठोडा* के खिलाड़ी अपनी ललकारों में सबसे पहले इस *जुबड़ी* की वंदना और स्थानिक देवी-देवताओं की कृपा के लिए पुकार लगाते हैं।

ठोडा धनुर्विद्या के खेल का एक उत्कृष्ट निष्पादन है। यह खेल एक नाट्य के रूप में परम्परा से चले आ रहे नियमों के अनुसार प्रस्तुत होता है। इसमें प्रयुक्त होनेवाले, चावाँ की लकड़ी से निर्मित, लगभग दो मीटर लम्बे, धनुष को *धणु* कहते हैं और लगभग डेढ़ मीटर तक लम्बी *नगाल* की पतली-खोखली छड़ *शरी* यानी *शर* कहलाती है। इस *शरी* के एक ओर के छेद में लगभग दस सेंटीमीटर लम्बा लकड़ी का पैना टुकड़ा लगा होता है, उसी को *ठोडा* कहते हैं। उसके नाम पर ही यह खेल *ठोडा* कहलाता है। मगर अब महज़ खेल दिखाने के लिए उस पैने टुकड़े के बिना ही *शरी* चलाते हैं।

ठोडा के खिलाड़ी टाँगों में मोटी खाकी जीन का पाजामा और पैरों में मोटे चमड़े के बूट पहनते हैं, जो इस खेल के लिए ही विशेष तौर से बनवाए जाते हैं। परस्पर विरोधी दोनों दलों के खिलड़ियों की जोड़ियाँ बनती हैं और वे खिलाड़ी बारी-बारी से आपस में तीर चलाते हैं। यह तीर प्रतिद्वंद्वी की टाँगों में पीछे से घुटनों के नीचे ही मारना होता है। इससे बचने के लिए अगला प्रतिद्वंद्वी खिलाड़ी टाँगें इधर-उधर पछाड़ता है। बचाव की इस क्रिया को 'छुलना' कहते हैं। तीर लग गया तो धनुर्धर नृत्य सहित ऊँची ललकार भरता है। चूक गया तो बचाव वाला प्रतिद्वंद्वी नाचता हुआ ललकारता है। यही क्रम *ठोडा* खेल के दौरान चलता रहता है—नाचना, ललकारना, तीर चलाना और फिर नाचना।

यह *ठोडा* खेल गर्मियों के *बिशू* मेलों में दो-तीन दिनों तक चलता है। यह इस क्षेत्र विशेष के पहाड़ों का सबसे रोचक और पारम्परिक मनोरंजन रहा है। *ठोडा* के योद्धा खिलाड़ी आज के क्रिकेटरों की तरह कभी महान नायक हुआ करते थे। इसमें खेल से भी बढ़कर एक-दूसरे को ललकारना और ताल पर गज़ब का नाच अधिक आकर्षक रहता है। इसीलिए पहाड़ की युवा *बांठिणे* यानी सुंदरियाँ *ठोडा* नायकों की नज़र भर के लिए लालायित रहती आई हैं। ये खिलाड़ी अपनी इस शोहरत के बूते कई-कई शादियाँ भी करते रहे हैं और इन प्रसिद्ध खिलाड़ियों को लोक गीतों में भी गाया जाता रहा है।

ठोडा वास्तव में द्वंद्व युद्ध का रूप है। इसमें दो दल आमंत्रित किए जाते हैं, जो सदियों की परम्परा से परस्पर खेलते आए हैं। इन दलों को स्थानिक दल के रूप में *खूँद* के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक *खूंद* के क्षेत्र में पूरा परगना या घाटी आती है, जो परम्परा से एक सांस्कृतिक इकाई होती है। यह क्षेत्र लोक देवता की

प्रजा के रूप में भी एक साथ जुड़ा होता है। खूंद विशेष के *खश* या *राऊत* जाति के वीर पुरुष योद्धा के रूप में *ठोडा* खेलते आए हैं। *ठोडा* के ये *खूँद* यानी दल सिरमौर, शिमला तथा सोलन ज़िलों में सैकड़ों की संख्या में हैं। यह भी परम्परा से तय है कि किस खूँद का खेल किस प्रतिद्वंद्वी *खूँद* के साथ होता है।

ये खूँद दो नामों से जाने जाते हैं–*पाशी* और *शाठी*। *पाशी* पांडवों के पक्षधर हैं तो *शाठी* कौरव दल के। यहाँ उल्लेखनीय है कि इन पहाड़ों की लोकवार्ता के अनुसार कौरव सौ नहीं, बल्कि साठ माने जाते रहे हैं। यह भ्रांति *शाठी* शब्द के कारण ही बनी। क्योंकि लोगों ने पाँच पांडव से *पाशी* तो सही समझ लिया, जिन्हें कहीं *पाशड़* भी कह देते हैं। मगर कौरवों के लिए शाठी शब्द के चलन से यह मान लिया गया कि कौरव साठ थे। यह भ्रांति पिछले दिनों जोंनसार की प्रलेखन यात्रा में दूर हुई, जब वहाँ लोक प्रचलन में देखा गया कि कौरव के शतदल से *शाठी* शब्द चल निकला है। वहाँ कौरवों के लिए शतदल शब्द चलन में है, जिससे *शाठी* शब्द निकलना उचित प्रतीत होता है।

शाठी यानी शतदल कौरव और *पाशी* पाँच दल पांडव हैं। इन दोनों दलों के ठोडा-खिलाड़ियों की जोड़ियाँ तय रहती हैं। अगर पुरानी चली आ रही जोड़ी के खिलाड़ी नहीं जुट पाएँ तो खेल शुरू होने से पहले ही नई जोड़ियाँ तय की जाती हैं। इस तरह दो दलों के योद्धाओं की जोड़ियों के मध्य खेला जानेवाला ठोडा द्वंद्व-युद्ध का जीवंत नाट्य है। इसमें महाभारत के धर्म-युद्ध की तरह ही उम्र में छोटे-बड़े और द्वंद्व के नियमों का सम्मान के साथ पालन होता है। यह सम्मान ललकारों में भी व्यक्त किया जाता है, जिससे धर्म-युद्ध की भावना भी बनी रहती है।

यह *ठोडा* खेल गिरी, तौंस (तमसा) और यमुना नदियों के बीच के जिन ठियोग, घूंड, चौपाल, सिरमौर से लेकर जोंनसार तक के क्षेत्रों में प्रचलित है, उन पहाड़ी क्षेत्रों के पुराने पारम्परिक मार्ग कुरुक्षेत्र की ओर खुलते रहे हैं। प्राचीन ग्रंथों में ऐसे अनेक संदर्भ मिलते हैं कि इन क्षेत्रों की बहादुर जातियों के योद्धाओं ने महाभारत युद्ध में दोनों पक्षों की ओर से भाग लिया था और तभी से धनुर्विद्या के इस नृत्य-नाट्य का अवशेष *ठोडा* अभी तक चलन में है। जो क्षेत्रीय योद्धा कौरव पक्ष से लड़े, उनके वंशज आज *शाठी* हैं और जो पांडव दल में शामिल हुए, उनके वंशधर *पाशी* हैं।

जो भी हो *ठोडा* की इस निष्पादन परम्परा में ऐसे अनेक प्रमाण सामने आते हैं, जिनसे यह सही प्रतीत होता है कि *ठोडा* पांडवों और कौरवों के मध्य हुए महाभारत युद्ध का पारम्परिक नृत्य-नाट्य है। इसमें धर्म-युद्ध की भावना और वीर रस के नाट्य का आज भी जीवंत निष्पादन होता है।

ठोडा की भूमि में इस खेल के आयोजन की भी अपनी परम्परा है। यह

महज़ गर्मियों के महीनों में लगनेवाले पहाड़ी मेलों में खेला जाता है, जो ज़्यादातर *बिशू* मेले कहलाते हैं। कुछ दूसरे *हरयाली* आदि मेलों में भी ठोडा खेला जाता है। लेकिन हिमाचल का *बिशू* मेला एक तरह से *ठोडा* के खेल का पर्याय हो गया है। वैशाख की संक्रांति से ये *बिशू* मेले शुरू होते हैं और आयोजक इन्हें विशेष त्योहारों पर या अपनी सुविधानुसार अक्सर गर्मियों में आयोजित करते हैं। ये *बिशू* मेले ज़्यादातर उन स्थानों में होते हैं जिन इलाकों के अपने ठोडा दल भी परम्परा से हों। जो खुद ठोडा के स्थापित खूँद रहे हों।

ठोडा का *बिशू* मेला प्रायः तीन दिनों का होता है। आयोजकों द्वारा तिथि निश्चित करने के साथ ही यह भी तय किया जाता है कि किन *ठोडा खूँद* यानी दलों को खेल के लिए बुलाया जाना है। मेला साधारण रखना हो तो परस्पर विरोधी, दो ही दल बुलाए जाते हैं। यदि आयोजकों में ज़्यादा ही ज़ोर और उत्साह हो तो चार खूँद भी बुलाए जा सकते हैं। लेकिन इनमें *शाठी* और *पाशी* को ही परस्पर खेलने के लिए आमंत्रित करना होता है, ताकि महाभारत की नाट्य परम्परा का निर्वाह हो सके।

आयोजकों द्वारा तय दलों को आमंत्रण देने के लिए प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। उनसे स्वीकृति मिलने पर मेले की चर्चा चल निकलती है कि इस बार मेले में फलाँ-फलाँ खूँद यानी दल परस्पर खेलेंगे। आखिर उत्सुक इंतज़ार के बाद बिशू के दिन आते हैं। पहले दिन अपनी-अपनी दिशाओं से *शाठी* व *पाशी* दल के लोग सैकड़ों की संख्या में ललकारें भरते, शस्त्र के साथ नाचते-झूमते मेले की *जुबड़ी* यानी मैदान में पहुँचते हैं। आयोजक दल के लोग उसी तरह नाचते हुए हर दल का स्वागत करते हैं। पहले दिन दोपहर बाद से शाम तक खेल होता है। शाम को आमंत्रित दलों के सभी सैकड़ों लोगों को आयोजकों के इलाके के हर घर में बाँटकर अतिथि रूप में ले जाया जाता है और उनका खूब सत्कार होता है। अतिथियों की इस बाँट को *ठीलना* कहते हैं। यह बाँट खेल के मैदान के निकट किसी देव-स्थान में प्रमुख आयोजकों द्वारा की जाती है। दूसरी सुबह फिर नाचते हुए दोनों पक्षों के दल मैदान में जुटते हैं। एक-दूसरे को फिर ललकारते हैं और दिन-भर धनुष-बाण का खेल जारी रहता है।

दूसरी शाम को फिर मेहमान बाँटकर घरों में ले जाए जाते हैं। दूसरी शाम की इस मेहमानी के लिए इलाके बदल दिए जाते हैं। इससे मेहमान नये घर व नये परगने में जाते हैं। तीसरे दिन दोपहर पूर्व ही खेल हो पाता है, क्योंकि दोपहर बाद *ठोडा* दलों को परम्परानुसार विदा किया जाता है। इस बीच तमाम नियमों और बचाव के बावजूद अगर किसी खिलाड़ी की टाँग से खून निकल आए तो उस दल की हार मानकर जीतनेवाला दल तत्काल धनुष की प्रत्यंचा उतार देता है और जीत का जश्न

मनाता है। ऐसे मौके पर शस्त्र भी चल सकते हैं।

ठोडा एक जातीय खेल है। *खश* और *राऊत* जैसी जातियों के योद्धा-खिलाड़ी ही इसमें भाग लेते हैं। इसलिए यह उन क्षेत्रों में ही प्रचलन में है, जहाँ *खश* और *राऊत* जैसी योद्धा जातियों का वर्चस्व अब तक कायम है।

खश जाति के नाम से प्रसिद्ध हुई आर्यों की वह टोली कभी मध्य एशिया से चलकर काशगर, हिन्दूकुश गिलगित होकर कश्मीर की ओर मुड़ी थी। पर्वतों को लाँघते कश्मीर, हिमाचल, गढ़वाल और कुमाऊँ होते हुए ये लोग पूर्वी नेपाल तक फैल गए। (G.Evatt.) इस वीर जाति ने यहाँ की आदिम जातियों पर अपना प्रभुत्व जमाया। हिमाचल प्रदेश में आज भी *भूंडा* और *बूढ़ी दिवाली* जैसे कई अनुष्ठान *नागों* पर *खशों* की विजय के प्रमाण हैं। खशधार और खशकंडी जैसे गाँवों के नाम यहाँ आज भी खशों की स्थापना का इतिहास दर्शाते हैं और आज के समाज में भी खश अलग पहचान रखते हैं। राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं कि *खश* जाति से निकले हुए *कन्नैत* और *राव* (यानी राऊत) इतिहास प्रसिद्ध हैं।

खशों का वर्णन मनुस्मृति, महाभारत और पुराणों में भी मिलता है। महाभारत में खश जाति का उल्लेख बार-बार आता है। इसमें एक उल्लेख यह है कि वे राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में पिपीलिकाओं (चींटियों) द्वारा निकाले गए स्वर्ण, पहाड़ी शहद अैर बलवर्द्धक औषधियाँ लेकर शत्रुहीन राजा युधिष्ठर के द्वार को घेरे हुए थे।

महाभारत के द्रोण पर्व में *खशों* का दुर्योधन की ओर से लड़ने का संकेत भी मिलता है। वायु और विष्णु आदि पुराणों में भी *खशों* का वर्णन मिलता है। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि *खश* एक शक्तिशाली जाति रही है। इसके संघर्ष भरे इतिहास से ही मालूम होता है कि इस जाति का लड़ाकू स्वभाव रहा है। ताकत और बहादुरी के बूते ही खशों ने इन पहाड़ों की आदिम जातियों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। *ठोडा* खेल में भी विरोधी के खून की प्यासी खशों और राऊतों की ललकारें देखते ही बनती हैं। इनमें जातीय खून आज भी धड़कता है।

धनुष-बाण के अलावा लाठी से लेकर तलवार तक ये *खश* और *राऊत* किसी भी शस्त्र का इस्तेमाल करते रहे हैं। जबकि *डांगरा* (फरसा) इनका प्रिय शस्त्र है। इन वीर योद्धाओं को अपने *डांगरे* हाथ में लिये नाचना सबसे अच्छा लगता है। जैसे मैदानों में योद्धाओं का प्रिय शस्त्र तलवार रहा है, उसी तरह पहाड़ के वीरों को अपना *डांगरा* प्यारा है। यह शायद इसलिए भी रहा कि कृषि आधारित जीवनवाले खशों का यह *डांगरा* वन में जीविका के दूसरे कामों में भी उपयोगी रहता आया है।

हमारे पहाड़ों में आज का समाज जातीय मिश्रण का हो गया है। राजे-राणों के साथ ब्राह्मण और अन्य जातियों के लोग भी सदियों से यहाँ आ बसे हैं। लेकिन

खश और *राऊत* आज भी अपनी पहचान रखते हैं। यह पहचान कड़क और सीधे स्वभाव की तो है ही, अपनी आन-बान-शान की भी है। बाहरी पहचान के तौर पर *खश* बड़े डील-डौलवाले खूब ताकतवर और निर्भीक रहे हैं। अक्सर पांडव मूर्तियों की तरह मूँछें रखते थे। आज से बीस साल पहले भी खशों के प्रभुत्ववाले समाज में नमूछे यानी बिना मूँछ के पुरुष को *जनानू* कहा जाता था। वे *डांगरा* या लाठी अक्सर साथ लिए रहते थे। सिर पर खड़ी टोपी, कमर में गाची बँधी रहती थी। आज जीन-जैकेट के ज़माने में गाँवों में भी यह सब खत्म हो रहा है।

खश खूंद के गाँवों में देवी-देवताओं के मंदिरों के अलावा *ठौड़* की पूजा आज भी होती है। ठौड़ यानी वह स्थान, जहाँ दुश्मनों के काटकर लाए सिर दबाए जाते थे। आज जब भी *खशों* का दल *ठोडा* खेलने के लिए अपने केन्द्र स्थान से निकलता है तो सबसे पहले ठौड़ की पूजा होती है। ठौड़ के स्थान पर विजय का प्रतीक ध्वज ऊँचा टँगा होता है। उसी की पूजा की जाती है और कभी वहाँ बकरे की बलि भी दी जाती है। इस तरह *ठोडा* खेलनेवाले *खशों* का, जातीय परम्परा से युक्त अपना समाज शास्त्र है।

इस *खश* समाज को समझने के लिए ठोडा, जुबड़ी, बिशू, धणु, शरी, डांगरा, खूँद, खश, राऊत, शाठी, पाशी, द्वंद्व, ठीलणा, ठौड़ जैसे शब्द विस्तृत और बहुआयामी व्याख्या माँगते हैं।

डॉ. सत्येंद्र ने युद्ध नाट्य या नृत्य के तीन अभिप्राय या उपयोग माने हैं– (1). यह जातीय घनिष्ठता का संवर्द्धन करता है, (2). शौर्य तेज के प्रदर्शन द्वारा यौन अभिप्राय से योग्य वरण में सहायक होता है और (3) कृषि सम्बंधी अनुष्ठानों से प्रतीकतः सम्बंध जोड़ता है।

ठोडा लोक-नृत्य-नाट्य इन मानदंडों पर खरा उतरता है।

शिमला और सोलन का करयाला

अरुण भारती

हिमाचल प्रदेश में अनेक समुदाय मैदानों से आकर बसे हैं, जिनमें अधिकतर महाभारतकालीन हैं। इनके अलावा यवनों, हूणों, मंगोलों तथा अन्य बाह्य शक्तियों के आक्रमणों से परास्त ऐसे भी अनेक वंश हैं, जो प्राण रक्षा के लिए मैदानों से पलायनकर पहाड़ों की ओर आ गए। यहाँ पर बसने के साथ ये लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी कलाओं, वृत्तियों और परम्पराओं का भी निर्वहन करते रहे। कालांतर में इन कला परम्पराओं का संरक्षण-संवर्धन राजाश्रय में होने लगा। ये कलाएँ वंशानुगत आजीविका से जुड़ी थीं; इसलिए पारिवारिक विरासत और समय की माँग के अनुसार कुछ बदलाव के साथ आज भी इन घरानों में मौजूद हैं। इन्हीं परम्पराओं में लोअर शिमला, सोलन और सिरमौर के कुछ हिस्सों में खेला जानेवाला लोकनाट्य *करयाला* पिछली लगभग तीन सदियों से बराबर अपना अस्तित्व बनाए हुए है। वास्तव में *करयाला* धार्मिक लोकानुष्ठान के साथ-साथ पर्वतीय लोक जीवन के मनोरंजन का भी एक लोकप्रिय साधन रहा है।

रियासतों के गठन के समय एक राज्य से दूसरे राज्य तक पहुँचे लोगों में सभी वर्गों के लोग शामिल थे, जो अपने घराने की कलाओं के ज्ञाता और संवाहक थे। इन कलाओं में न केवल देवी-देवताओं की आराधना की विधियाँ ही थीं, अपितु इनके साथ चलनेवाले कई लोक विश्वास भी थे। *करयाला* के जन्म से पहले लोक में देव आह्वान, देव स्तुति, रास, लोक रामायण आदि की परम्पराएँ थीं, जो आज भी चलन में हैं। इन परम्पराओं में जागरण होते हैं, जिनमें कई जगह ऐंचली, बरलाज आदि अनेक गाथाएँ रातभर देवी-देवता के प्राँगण में अलाव जलाकर गायी जाती हैं। इन गाथाओं में लोक विश्वास के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, रामायण, महाभारत के प्रसंग, गुग्गा और भर्तृहरि की गाथाएँ लोग रातभर गाते हैं। सुबह सम्बंधित देवी-देवता का आह्वान किया जाता है।

करयाला की उत्पत्ति से जुड़ी एक जनश्रुति के अनुसार एक बार रियासत कुठाड़ में 'देव बीजू' का जागरण था। सर्दियों के दिन थे, इसलिए देव स्थल पर *घयाना* (अलाव) जलाया गया था। घयाने के चारों तरफ लोग बैठे थे। देवता का गूर (दींवा) लोगों की समस्याओं का समाधान कर रहा था। ढोल, नगाड़ा, शहनाई, रणसिंघा आदि देववाद्य भी बीच-बीच में बज रहे थे। कुछ देर बाद वहाँ बैठे लोगों को नींद आ गई। देवता कुपित हो गया। उसने दो लोगों को सपने में अपना भयंकर रूप दिखाया। दोनों व्यक्ति भय से काँपते हुए उठ खड़े हुए। उन्होंने देवता से माफी माँगी और सोचने लगे कि अब इन सब लोगों को कैसे जगाया जाए।

एक ने दूसरे से कहा, 'कर यारा कुछ?'

'क्या करूँ?' दूसरे ने पहले से पूछा।

'कर कुछ आऽला।' पहले ने सुझाव दिया।

'आऽला तो करूँ पर क्या बोलूँ?' दूसरे ने पूछा।

'बोलूँ क्या?, तू मेरा स्वाँग लगा मैं तेरा स्वाँग लगाता हूँ। ज़ोर से आऽला (शोर) करेंगे, सब जाग जाएँगे।' पहले ने कहा।

ऐसा सोचकर दोनों ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे और एक-दूसरे की नकल उतारने लगे। इससे शोर हुआ और बाकी सब जाग गए और उनके स्वाँगों का आनन्द उठाने लगे। सुबह तक यह सिलसिला चलता रहा। सुबह गूर के माध्यम से देवता ने इस जागरण की खुशी जताई और भविष्य में भी जागरण के दौरान, इसी तरह के मनोरंजन की स्वीकृति प्रदान की और इस तरह *करयाला* नाट्य की शुरुआत हुई। *करयाला* की व्युत्पत्ति 'कर आऽला' यानी 'कर शोर' से हुई है। मुख-सुख से कालांतर में धीरे-धीरे यह करयाला बन गया। स्वाँग के साथ धीरे-धीरे इसमें गीत-संगीत, नृत्य-अभिनय आदि भी जुड़ते चले गए।

उन दिनों उत्तर भारत में कई जगह 'रास मंडलियाँ' शहरों-गाँवों में जाकर रास रचाती थीं। स्वाँग करनेवालों ने उनसे भी भगवान कृष्ण से जुड़े सखी-दरबार जैसे स्वाँग इसमें शामिल कर लिए।

करयाला को एक रूप देने के लिए विद्वानों और कलाकारों ने इसका परिष्कार किया। करयाला का प्रदर्शन रात को किया जाता है। चारों दिशाओं में डंडे गाड़कर उन पर सूखे चीड़ फलों को जलाकर पहले रोशनी की व्यवस्था की जाती थी। इन मशालों के बीच स्वाँग रचने के स्थान को 'अखाड़ा' कहा जाता था। कालांतर में चीड़ फलों की जगह कैरोसीन के हाँडे ने ली और बिजली आने के बाद बिजली के बल्ब जलने लगे। लेकिन अखाड़े का वही स्वरूप रहा। अखाड़े के बाहर कुछ जगह छोड़कर *घयाना* यानी अलाव जलाया जाता है। अलाव, रोशनी के साथ-साथ दर्शकों और कलाकारों को ठंड से भी बचाता है। अखाड़े के एक ओर वादक और

गायक बैठते हैं। वाद्ययंत्रों में शहनाई, ढोल-नगाड़ा, करनाल और नरसिंगा आदि होते हैं। अखाड़े के चारों ओर दर्शक बैठते हैं।

करयाला की प्रस्तुति का स्वरूप जो आरंभ में था, आज भी वही है। समय और सुविधा के अनुसार इसमें प्रयुक्त होनेवाली सामग्री में परिवर्तन हो सकता है। शुरू में *करयाला* देव-जागरण में शामिल होनेवाले लोगों को रात-भर जगाए रखने के लिए किया गया था और फिर शादी ब्याह में या किसी मन्नत के रूप में इसे किया जाने लगा। उस समय इसका कोई परिष्कृत रूप नहीं था। समय और स्थिति के अनुसार क्रमशः इसका परिष्कार होता रहा है।

हिमाचल प्रदेश की संस्कृति के अनुसार किसी विशेष कार्य को शुरू करने से पहले कुलदेवी (कुलजा), कुलदेवता (इष्ट) और स्थान-देवता आदि की पूजा-अर्चना कर उनकी स्वीकृति ली जाती है। कार्यस्थल को देव-कार (देवता द्वारा खींची गई रेखा) द्वारा बाँधा जाता है, जिससे देव कार्य में कोई बाधा न आए। अग्नि देवता के नज़दीक नकारात्मक शक्तियाँ नहीं आतीं और अखाड़े के पास जला अलाव ताप के अतिरिक्त अमानवीय शक्तियों से कलाकारों और दर्शकों की रक्षा करता है, ऐसी मान्यता है।

यदि मन्नत-स्वरूप *करयाला* किया जा रहा है तो मन्नत कर्ता परिवार के साथ सभी कलाकार सदस्य अखाड़ा पूजन, वादक-वाद्ययंत्रों और देव बीजू की पूजा-अर्चना करते हैं। धूप-दीप-नैवेद्य अर्पित करने के साथ रात-भर चलनेवाले *करयाला* की सफल प्रस्तुति की कामना करते हैं। अखाड़ा बाँधने के लिए *चंद्रावल़ी* अपने पारम्परिक लिबास घाघरा-चुन्नी में और कान्ह लम्बा कुर्ता और पाजामा, सिर पर तुर्रा (तिकोनी टोपी) पहनकर अखाड़े में आते हैं। चंद्रावल़ी के हाथ में रंगीन रूमाल और कान्ह के हाथ में गंडासा (डाँगरू) होता है। अखाड़े का चक्कर लगाने से पहले दोनों अपने गुरुओं और वाद्ययंत्रों तथा देवता को प्रणाम करते हैं। शहनाई पर देव-स्तुति की धुन बजते ही कान्ह और चंद्रावल़ी का नृत्य शुरू हो जाता है। दोनों अपने चारों तरफ घूमते हुए अखाड़े का चक्कर लगाते हैं। इस बीच पूजा की थाली दर्शकों के बीच घुमाई जाती है। सभी ज्योति का आशीर्वाद ग्रहण करते हैं। चंद्रावल़ी और कान्ह के वापिस जाते ही नम्बरदार के वेश में एक कलाकार अखाड़े में आता है, जो सूत्रधार की भूमिका निभाता है। देव बीजट को प्रणामकर वह गेय रूप में *करयाला* करवानेवाले के वंश की वृद्धि तथा उसके मनोरथ को पूर्ण करने की प्रार्थना करता है। इसे *बेल* कहा जाता है। इसके बाद वह ज्वलंत जन-समस्याओं पर व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ करता है। कई बार दर्शकों में से भी कोई नम्बरदार पर फब्ती कस देता है। नम्बरदार तुरंत व्यंग्यात्मक शैली में उसे उत्तर देता है।

इसी बीच अखाड़े के एक कोने में साधुओं का दल पहुँच जाता है। यह *'साधु का स्वाँग'* शुरू होने का सूचक होता है। शहनाई और हारमोनियम पर साधु के स्वाँग की धुन बजनी आरंभ होती है। दो साधु ऊनी पट्टू या सूती खेस (चादर) तानकर पर्दा करते हैं। वादकों के साथ बैठे गायक आलाप लेना शुरू करते हैं, बोल कुछ यूँ हैं–

'दाहिने भवानी बाँयें गणेश
पाँच देव रक्षा करें
ब्रह्मा विष्णु महेश।
राम नारायण तुम बड़े–तुमसे बड़ा न कोय
पूजा करो श्रीराम की–बेड़ा पार जो होय।'

दोहा खत्म होते ही साधुओं की टोली पर्दा हटाकर हुड़दंग मचाती और गाती-बजाती अखाड़े में प्रविष्ट हो जाती है–

साधु की नगरी में बसे भी न कोई रे...
जो भी बसे सो साधु ही होय... ।

ये सभी साधु नम्बरदार उसके चारों तरफ घूमते हुए नृत्य करते हैं। अनाप-शनाप मंत्रों का जाप करते हैं। मुख्य साधु हुड़दंगी चेलों को चुप रहने का आदेश देता है। खुद वह ध्यान मग्न हो जाता है। अन्य साधु उसकी नकल करते हैं। नम्बरदार साधुओं को सम्बोधित करके पूछता है–

कहाँ से तुम जोगी आए
कहाँ तुम्हारा गाँव?
कौन तुम्हारी बहन भानजी
कहाँ धरोगे पाँव?

उत्तर में मुख्य साधु कहता है–

'पूरब से हम जोगी आए
पच्छिम हमारा गाँव
दिशाएँ हमारी बहन-भानजी
कैलास धरेंगे पाँव।'

इस तरह सवाल-जवाब चलते रहते हैं। नम्बरदार कई तरह के प्रश्न करता है, जैसे–'एक क्या है?'

मुख्य साधु उत्तर देता है कि एक ईश्वर है। हम सब उसकी संतानें हैं। किसी में कोई भेद नहीं है। नम्बरदार साधुओं से कई प्रश्न करता है। चेले साधु उसे ऊट-पटाँग उत्तर देते हैं, लेकिन मुख्य साधु उसके प्रश्नों का शास्त्र सम्मत उत्तर देता है। इन सवाल-जवाब में विविध ज्ञान, बौद्धिक चातुर्य और सामयिक

समस्याओं का निदान शामिल होता है। इस तरह *करयाला* का यह स्वाँग समाज को शिक्षा भी देता है।

इस स्वाँग में जहाँ साधु वेश धारण किए कपटी, लंपट और व्यसनी साधुओं का भंडा-फोड़ होता है, वहीं दूसरी तरफ जीवन के राग-विराग का भी ज्ञान होता है। नम्बरदार सांसारिक होते हुए भी वैराग्य, गृहस्थ और कर्तव्य से जुड़ी अनेक शंकाओं पर गुरुमुख (मुख्य साधु) से समाधान करवाकर लोक के ज्ञान में वृद्धि करता है। आज के परिवेश और कलाकारों के शिथिल अनुभव के कारण दर्शकों और स्वाँगियों के संवादों में काफी अंतर आ गया है। पहले दर्शकों में ऐसे प्रबुद्ध लोग भी होते थे, जो स्वाँग रच रहे मुख्य साधु (गुरु) को अपने प्रश्नों से कठिनाई में डाल देते थे।

देश और काल के अनुसार *करयाला* लोकनाट्य में धीरे-धीरे कई स्वाँग जुड़ते चले गए। ये सब स्वाँग लोक जीवन की विसंगतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं कुरीतियों के विरुद्ध सजगता के उद्देश्य से *करयाला* में जुड़े। इन्हें जन-चेतना के रूप में भी देखा जाना चाहिए। उस समय, न शिक्षा का ही प्रसार था, न आज की तरह का कोई अन्य ऐसा साधन, जो किसी घटना को लोक तक पहुँचा सके। सूचनाएँ तभी इधर से उधर पहुँचती थीं, जब कोई मेहमानवाजी होती थी या कोई रिश्तेदारी का प्रसंग चलता था।

लोक का अर्थ है देखना। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में 'लोक' शब्द को जीव व स्थान के अर्थ में भी लिया गया है। लोक सृष्टि का वह क्षेत्र है, जहाँ निरंतर जीवन है। सृष्टि है। इसी लोक को चराचर भी कहा गया है, जिसमें जीवन के प्रतीक पशु-पक्षी, वन-उपवन, सुर-असुर, मानव-देवता सभी हैं। सकारात्मक और नकारात्मक शक्तियाँ, गुणात्मक और ऋणात्मक ऊर्जा, सृष्टि सृजन, पालन और संहार में संतुलन बनाते हुए सृष्टि के प्रति अपना दायित्व निभाती हैं। लोक में व्याप्त सामाजिक, धार्मिक और सत्तात्मक व्यवस्थाएँ इसके अस्तित्व की परिचायक हैं। पौराणिक ग्रंथों में 'लोक' शब्द को मानव कल्याण से जोड़ा गया है। इस लोक की संस्कृति, सामाजिकता और कला मानव सभ्यता के अंग हैं।

वास्तव में लोक समय, स्थान और सभ्यता के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी परम्पराओं को स्वयं में संजोए रखता है। एक लोक की संस्कृति दूसरे लोक को सदा से प्रभावित करती आई है। साधु का स्वाँग जहाँ साधुओं के जीवनदर्शन से परिचित करवाता है, वहीं केवल नशाखोरी के लिए या सामाजिक दायित्व से बचते हुए आनंद का जीवन जीने के लिए, साधु वेश धारण करनेवाले लोगों का भी पर्दाफाश करता है। सच्चा साधु ज्ञान और त्याग की शिक्षा देता है। गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों का बोध करवाता है। ऊँच-नीच, भेदभाव रहित जीवन जीने की शिक्षा

देता है। दूसरी तरफ, नशाखोरी और श्रम से मुँह चुरानेवाले ढोंगियों और भटके हुए लोगों से भी सचेत रहने का संकेत देता है। यह स्वाँग सरल भाषा में लोक को सृष्टि के रहस्यों, ईश्वरीय शक्ति, वेदों और उपनिषदों में वर्णित भारतीय मनीषा से परिचित करवाता है। लोक में व्याप्त अंध-विश्वासों से दूर रहने की प्रेरणा देता है।

साहब का स्वाँग

करयाला के शुरुआती स्वाँगों में *साहब का स्वाँग* उल्लेखनीय है। यह स्वाँग अंग्रेज़ों की दमन नीति के प्रति आम आदमी के आक्रोश को दर्शाता है। अंग्रेज़ी शासन के दौरान भारतीयों के साथ अंग्रेज़ों का जो व्यवहार था, उसकी झलक इस स्वाँग में देखने को मिलती है। रियासती नुमाइंदों और सरकारी कर्मियों द्वारा आम जनता को लूटने तक की फरियाद पर अंग्रेज़ किस तरह से अपने सुशासन की बात करते हुए, फरियादी का परिहास करते और अपने कर्मचारियों की पीठ थपथपाते थे। चपड़ासी अपनी भड़ास अपनी भाषा में किस तरह निकालता है, यह इस स्वाँग में बखूबी देखा जा सकता है।

बुआ का स्वाँग

यह स्वाँग अपने भतीजे के ब्याह में आई बुआ के मान-मनौवल पर आधारित है। भतीजे की शादी में आई बुआ बात-बात पर रूठ जाती है। उसे मनाने में सारा परिवार लगा है। गिद्धा में वह नाचेगी तो 'नेग' (उपहार) लेगी। 'केनदेओ' लिखने का अलग नेग होगा। सेहराबंदी से पहले तेल डालेगी तो अलग नेग। यानी हर रस्म वह पहले अदा करेगी और वह भी सशर्त। नाचेगी तो नेग में भाई नथ देगा। इस मान-मनौवल में पारिवारिक प्रेम और 'ध्याण' (धी-बेटी) का मायके में क्या दर्जा और अधिकार है? यह इसमें बखूबी दिखाई देता है। साथ ही बुआ को मनाने के व्यंग्यात्मक प्रसंग दर्शकों का खूब मनोरंजन करते हैं।

सेठ का स्वाँग

इस स्वाँग में महाजनी व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। कर्ज़ में दबे आम आदमी की बेबसी का फायदा सूदखोर महाजन उठाता है। वह उसके आगे शर्त रखता है कि अपनी बेटी की शादी उससे कर दे तो कर्ज़ माफ कर दूँगा। बाप महाजन के आगे गिड़गिड़ाता है, उसकी बड़ी उम्र की दुहाई देता है। लेकिन सेठ यानी महाजन सभी मर्यादाएँ छोड़कर लड़की से शादी करने के अपने इरादे से टस से मस नहीं होता। लड़की जिस युवक से प्रेम करती है, वह एक योजना बनाता है। धोखे से सेठ से उन कागज़ों पर दस्तखत करवा लेता है जो लड़की के बाप के कर्जमुक्ति के दस्तावेज़ होते हैं। फेरों के वक्त वह पुलिस लेकर आ जाता है और

सेठ अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए न केवल भाग खड़ा होता है अपितु युवक और युवती की शादी का खर्च भी देता है।

नटनटी का स्वाँग

खानाबदोशों का एक समुदाय नटों का भी है, जो गाँव-गाँव जाकर अपनी नट-विद्या से रोज़ी-रोटी कमाते हैं। कहीं से दो नट एक नटी के साथ गाँव में आते हैं। गाँव के नम्बरदार से उनका सामना होता है तो वह उनका परिचय पूछता है। उनके साथ आई नटी किसकी पत्नी है? यह पूछने पर उनमें विवाद शुरू हो जाता है। बात बढ़ते-बढ़ते हाथापाई तक जा पहुँचती है और एक नट दूसरे नट का खून कर देता है। झगड़े की जड़ नटी रफूचक्कर हो जाती है। दूसरा नट भी भाग खड़ा होता है। रह जाता है नम्बरदार। पुलिस आती है। नम्बरदार से पूछताछ करती है। उसे धमकाती और डराती है। नम्बरदार और पुलिस के संवाद पुलिस के उस चेहरे को बेनकाब करते हैं, जिसमें निरीह और बेकसूर आदमी पर जुल्म करने की असलीयत सामने आती है। गाँववालों को डरा-धमकाकर रिश्वत खोरी करना और मुज़रिमों के पीछे न जाकर आम नागरिक को परेशान करना, जैसे पुलिस के स्वाँग कमोबेश आज भी प्रासंगिक है। गाँव का भोलापन नम्बरदार के रूप में सामने आता है, जिसके हर संवाद पर हँसी के फव्वारे छूटते हैं।

डाऊ-डायन का स्वाँग

करयाले का एक महत्त्वपूर्ण स्वाँग है, डाऊ-डायन का स्वाँग। डायन के रूप में लोक की शांति भंग करनेवाली बुढ़िया और एक तांत्रिक (डाऊ) का आमना-सामना होता है। डायन कभी डाऊ को कुत्ता बना देने की धमकी देती है तो कभी खाड्डू (भेड़)। कभी डाऊ को उड़ाकर डाकिनियों और भूत-प्रेतों के हवाले कर देने की धमकी देती है और कभी उसको पकाकर खा जाने के लिए मंडी की खान से लूण (नमक) लेकर आने की बात करती है। डाऊ उसके सारे आक्रमणों का जवाब देने के लिए कभी दुर्गा का आह्वान करता है, कभी भगवान शिव का तो कभी हनुमान का। आखिर वह डाऊ के आगे बेबस हो जाती है और यह स्वीकार करने पर मजबूर हो जाती है कि तंत्र-मंत्र कुछ नहीं है। अगर आदमी में प्रबल इच्छा-शक्ति हो तो कोई भूत-प्रेत या तंत्र-मंत्र उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। लोक में व्याप्त अंध-विश्वास और भूत-प्रेत की मान्यता पर यह स्वाँग मज़ेदार ढंग से चोट करता है और लोक को इन तांत्रिकों से दूर रहने की शिक्षा देता है।

बंगाले का स्वाँग

खानाबदोशों का एक और समुदाय है, बंगाला समुदाय। पहाड़ों में रोज़ी-रोटी का मुख्य स्रोत कृषि है। खेतों में बीजाई के बाद उसका मुख्य शत्रु 'साही' नामक

वह जानवर है, जिसके शरीर पर उसकी रक्षा के लिए काँटे उगे होते हैं। यह जानवर रात को अपनी खोह से बाहर निकलता है और सुबह तक मक्की, कचालू, आलू आदि फसलों को चट कर जाता है। खानाबदोशों का यह समुदाय इसे तथा अन्य जानवरों को मारकर अपनी रोज़ी-रोटी कमाता था। बदले में किसान इन्हें फसल आने पर अन्न आदि देते थे। बंगाला समुदाय का एक युवक शहर जाकर काम करता है। वहाँ उसे अपने मालिक की बेटी से प्यार हो जाता है। दोनों शादी कर लेते हैं। लड़की के साथ लड़का माता-पिता से आशीर्वाद लेने के लिए अपने गाँव पहुँचता है। लड़की वहाँ का माहौल देखकर घबरा जाती है। लड़के का बाप लड़की को अपनी परम्पराओं, व्यवसाय और खानाबदोश जीवन की स्वतंत्रता के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर बताता है। लड़की दुनिया में हो रही तरक्की के बारे में उसे बताती है। शिक्षा-दीक्षा के बारे में समझाती है। आखिर में लड़के का बाप नए ज़माने के साथ चलने के लिए तैयार हो जाता है। इस स्वाँग में रूढ़ियों को त्यागकर ज़माने के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की शिक्षा है। यह स्वाँग समाज में व्याप्त वर्गभेद से हटकर सोचने के लिए मजबूर करता है।

नम्बरदार का स्वाँग

करयाला में शुरू से आखिर तक सूत्रधार का दायित्व निभानेवाला पात्र नम्बरदार है। इसकी उपस्थिति के बिना *करयाला* नीरस हो जाएगा। देखा जाए तो नम्बरदार ही लोक का प्रतिनिधित्व करता है। उसके ऊटपटांग प्रश्न जहाँ हास्य पैदा करते हैं, वहीं उसके गूढ़ उत्तर ज्ञान और यथार्थ को समझने का अवसर देते हैं। *करयाला* वास्तव में एक ऐसा लोकनाट्य है, जो श्रम से थके, मौसम से हारे किसानों, मज़दूरों को तनाव और निराशा से दूर करता है।

रात-भर चलनेवाले इस लोकनाट्य में दर्शकों को जगाए रखने की पूरी क्षमता है। इस लोकनाट्य में स्त्री पात्रों का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं। शृंगार, वस्त्र-विन्यास, दाढ़ी-मूँछ आदि के लिए भी गाँव में ही सरलता से उपलब्ध वस्तुओं का इस्तेमाल किया जाता है। पहले मुख पर चमक लाने के लिए मुर्दासंग, होंठ रंगने के लिए फूलों का रस आदि का प्रयोग किया जाता था। साथ ही दाढ़ी-मूँछें ब्यूल की छाल के रेशे से तैयार की जाती थीं। आज प्रसाधन का यह सब सामान दुकानों से खरीदा जाता है।

इस तरह *करयाला* लोकनाट्य में जहाँ व्यंग्य है, वहीं सच्चाई भी है। आज भी *करयाला* लोक मनोरंजन का एक सशक्त साधन है।

मंडी का बांठड़ा

दीनू कश्यप

कला की कोई भी विधा लोक के रहन-सहन, व्यवहार के आचार-विचार के साथ पकती हुई लोक के मध्य अस्तित्व का आविष्कार स्वयं करती आई है। लोक कला विधा जब समाज की कई पीढ़ियों में स्वीकृत होती है तब जाकर शताब्दियों बाद उसके शास्त्रों और आचार्यों का जन्म होता है।

ऐसी ही एक लोक कला विधा ने हिमाचल प्रदेश के मंडी और सुंदरनगर जनपद के छोटे से क्षेत्र में अपना आकार ग्रहण किया, जिसे लोकनाट्य बांठड़ा के रूप में जाना गया। बांठड़ा के बारे में जो जानकारियाँ प्राप्त होती हैं वे जनश्रुतियों के रूप में आगे से आगे चलती रही हैं। बांठड़ा का कोई प्राचीन इतिहास या शास्त्र सुनने में नहीं आता। इतना तय है कि यह लोकनाट्य विधा 19 वीं सदी से लेकर 20 वीं सदी के पूर्वार्ध तक उत्कर्ष पर रही।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अंतिम अध्याय में नाट्य के भू-लोक में अवतरण की कथा आती है। भरत के सौ पुत्र या शिष्य थे। ये हिमालय के क्षेत्र में भरतमुनि के निर्देश से नाटक दिखाया करते थे। धीरे-धीरे देवताओं और असुरों के मध्य युद्ध आदि के महान कथानकों पर आधारित नाटकों के स्थान पर वे नये प्रयोग करने लगे। इन प्रयोगों को ग्राम्यधर्म वाले या गँवारू शिल्पक कहा गया है। इन शिल्पकों में हिमालय पर रहनेवाले ऋषियों पर व्यंग्य रहता था, यद्यपि यह प्रयोग अभव्य, दुराचारपूर्ण, निष्ठुर और अप्रस्तुत था।

अभिनव गुप्त ने अपनी टीका में इस प्रकार के शिल्पक को विडंबक (नकल करनेवाला बतानेवाले) गंडसंश्रित (अन्योपदेश के द्वारा खिल्ली उड़ानेवाला) भी कहा है। ऋषियों ने भरत के शिष्यों या पुत्रों को श्राप दिया कि तुम लोगों का ज्ञान नष्ट हो जायेगा, तुम लोग व्रत और होम से रहित होकर शूद्राचारी हो जाओगे। नाट्य शास्त्र की यह कथा एक पूरी परम्परा को खोलती है। रूपकों के समकक्ष

उप-रूपकों की यह परम्परा सामने आती है। भरतमुनि शिल्पक की परम्परा से परिचित थे लेकिन इसका निरूपण उन्होंने नहीं किया। यह संकेत जरूर दिया कि उप-रूपकों का विवेचन 'कोहल' जैसे आचार्य करेंगे। उप-रूपकों की परम्परा के सबसे बडे व्याख्याकार भी 'कोहल' ही हुए हैं।

बहरहाल लगता यह है कि रूपकों का मंचन भरतमुनि द्वारा बताई गई रंगमंच की व्यवस्थाओं के अनुरूप पूरी साज-सज्जा व तामझाम के साथ होता था। राजा, धनिक या फिर अभिजात वर्ग द्वारा अपने मनोरंजन के लिये इनका मंचन करवाया जाता था। इन नाटकों की विषय-वस्तु देवता-असुर संग्राम या फिर रोमांच से भरी परिकथायें व ऋषि कन्याओं के गंधर्व विवाह आदि को लेकर होती थी। इसी के बर-अक्स उप-रूपक यानि लोकनाट्य का मंचन गाँव या पिछड़े क्षेत्र के लोग सीमित साधनों के चलते अपने मनोरंजन, शिक्षा या फिर अनैतिक प्रवृतियों का भंडाफोड़ करने के लिये करते रहे हैं। लोकनाट्य लोक का, लोक के द्वारा, लोक के लिये प्रस्तुत होता है। साहित्यिक नाटकों का विकास के साथ-साथ ह्रास भी होता रहता है, जबकि लोकनाट्य परम्परा लोक के अनुसार अपने में समयानुकूल परिवर्तन करते हुए निरंतर चलती रहती है।

लोकनाट्य बांठड़ा के बारे में कुछ बातें पूरे अधिकार के साथ कहना अतिशयोक्ति होगी। लेकिन यह तय है कि राजाओं के मनोरंजन के साधनों में बांठड़ा की भूमिका बहुत कम रही है। दूसरा, यह नाट्य परम्परा, ज़्यादातर ग्राम्यांचलों में प्रचलित रही है। तीसरा इसका कोई भी लिखित शास्त्र या फिर सर्वमान्य वाचक, आचार्य नहीं रहा है। सबसे मुख्य बात यह कि बांठड़ा को कभी भी राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ। मंडी के वरिष्ठ विद्वान स्व. भवानीदत शास्त्री से कई बार हुई अनौपचारिक वार्ता में मालूम हुआ कि राजा जोगेन्द्र सेन से उनके प्रगाढ सम्बंधों के चलते हुए बांठड़ा का मंचन कभी हुई राजमहल में या फिर दरबार हॉल में नहीं किया गया अपितु फिल्मी गायक सहगल, शास्त्रीय संगीतज्ञ ओंकारनाथ ठाकुर या फिर ऐसी जानी-मानी संगीत विभूतियों को गाहे-ब-गाहे अच्छे पुरस्कार देकर बुलाया जाता रहा है। बांठड़ा को तो कभी-कभार मेले-ठेलों में छोटे-मोटे इनाम-इकराम मिलते रहे, जिससे यह नाट्य चलता रहा।

सुंदरनगर निवासी कहानीकार डा. गंगाराम राजी का मानना है कि उन्होंने अपने होशोहवाश में सुंदरनगर के राजा लक्ष्मण सेन के बेहड़े में असौज के नवरात्रों में बांठड़ा मंडलियों के कार्यक्रम देखे हैं, जिनके साज-सिंगार और वस्त्रों पर होनेवाला व्यय राज परिवार तथा उनके सगे सम्बंधी वहन करते थे तब बांठड़ा की प्रस्तुति धार्मिक आख्यानों पर आधारित होती थी। राजा द्वारा कलाकारों को इनाम-इकराम से नवाज़ा जाता था लेकिन ये वेतन भोगी या राज्याश्रयी नहीं थे।

बुजुर्गों का कहना है कि शिवरात्री मेलों के समापन पर राजमहल के पिछवाडे में बने भडंती के बेहडे में बांठड़ा हुआ करता था, जिसे राजा और शहर के अभिजात वर्ग के लोग ही देखते थे। बांठड़ा ग्रामीण क्षेत्रों में ही फूला-फला है। करसोग, घीड़ी, बटेहड़ा, मलवाणा, बड़सू तथा रिवालसर आदि के गाँवों में इनके कलाकार अपनी प्रस्तुतियाँ बीसवीं सदी के छठे दशक तक देते रहे हैं। मंडी नगर में इसका प्रचलन कभी-कभार शिवरात्रि के मेलों तक ही सीमित था। इस लोकनाट्य को न ही तो किसी राजा से और न ही धनिक वर्ग से प्रोत्साहन मिला। यह विधा लोक के आश्रय में ही विकसित होती रही है।

इन छोटी-छोटी रियासतों में बांठ नाम के चाकरों का इस्तेमाल बहुत ज़्यादा रहा है। इसलिए बांठ से ही बांठड़ा शब्द की व्युत्पत्ति प्रासंगिक प्रतीत होती है। ऐसी कहानियाँ गाँव-देहात में प्रचलित रही हैं कि बांठ राजाओं के बेहड़ों में पानी भरने से लेकर बाहर से आने-जानेवालों की पूरी खबर रखते हुए चौकीदारी करते रहे थे। वे गाँव-देहात के लोग थे। निम्न मध्य वर्ग के चलते इन बांठों की बेहड़े के किसी भी भाग में आवाजाही मान्य थी। लोकनाट्य बांठड़ा में दलित वर्ग और निम्नवर्ग की भागीदारी प्रमुख रही है और इनका मुख्य सरोकार भी अपने आसपास के ग्रामांचलों तक सीमित था। उस वक्त आबादी छोटे शहरों, कस्बों या बस्तियों के आकार तक सिमटी थी। राजमहलों में बांठ-बोटी (रसोईये) या फिर बाग-बगीचों की रखवाली करते माली, टहलदार और दूसरी किस्म के खिदमतगार हुआ करते थे, जो राजशाही जाने के बाद राजाओं या सामंतों की हेकड़ी के प्रतीक मात्र बने हुए थे।

राजा के खिदमतगार दिनभर की थकाऊ चाकरी के बाद, जब रात्रि विश्राम के लिए अपनी बैरकों में लौटते होंगे तो दिन भर माई-साहिबा, राजा-रानी-देईयों-टीकों या कुंवरों के साथ-साथ कायथों या फिर राजा के अन्य चौधरियों के नाज-नखरों, फूहड़ता और गोपनीय कामक्रीड़ाओं का बखान अपने हँसी-ठट्ठों में करते रहे होंगे। जहाँ बांठ और बोटी ज़्यादातर राजमहलों के खास कर्मचारी होते थे, वहीं माली, टहलदार आदि सभी शहर और गाँव के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी थे। इन्हीं के माध्यम से शहर की गतिविधियाँ या फिर राजमहलों के किस्से-कहानियाँ जन-जन तक पहुँच जाती थीं। अतः लगता है कि बांठ शब्द ही बांठड़ा का आधार बिंदू है।

लोकनाट्य बांठड़ा की भाषा पर विचार करते समय कुछ कारकों को ध्यान में रखना समीचीन रहेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से मंडी और सुंदरनगर का क्षेत्र शैव, शाक्त और बौद्ध तांत्रिकों के साथ-साथ नाथ और सिद्ध सम्प्रदाय से लेकर अघोरी सम्प्रदाय की कापालमुख-कालामुख जैसी रिद्धि-सिद्धियों की भूमि रहा है। वैष्णव मतावलंबियों का आगमन देर से हुआ; इस पर व्यापक शोध की सम्भावनाएँ निरंतर बनी हुई है। परिवेश के साथ-साथ भाषा में अपभ्रंश, मंडयाली, पंजाबी, हिन्दी और

उर्दू के शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। कालांतर में कभी-कभी अंग्रज़ी के शब्दों का प्रयोग भी लोक में हास्य पैदा करने के लिये बांठड़े में किया जाता रहा है। शब्दों की आवाजाही के साथ व्यापार, कथा वाचन, यायावरी, रामलीला या रासमंडलियों का प्रभाव भी रहा है।

बांठड़ा में लोकवाद्यों का विशेष स्थान है। आरंभ में इनमें शहनाई, नगाड़ा, ढोलक, डमरू, नरसिंघा व बांसुरी ही मुख्य वाद्य थे। बाद के दिनों में हारमोनियम, तबला, कांशी-खड़ताल व झांझ-मंजीरे का प्रयोग भी होने लगा। शहनाई वादक, जिसे स्थानीय बोली में हेस्सी कहा जाता है की भूमिका इस वाद्यवृंद में अग्रणी हुआ करती थी। घनवाद्यों में नगाड़ा व ढोलक प्रमुख थे, जिन पर अक्सर दस मात्राओं का झपताल, आठ मात्राओं का कहरवा, छः मात्राओं का दादरा व सात मात्राओं का रूपक ताल आदि प्रमुख रूप से बजाए जाते थे। नगाड़ा बजानेवाला इन तालों को तोड़-मरोड़ कर कुछ नये कायदों, मोहरों या फिर टुकडों का सृजन भी करता था।

प्रारंभिक दिनों में लोकनाट्य बांठड़ा की विषयवस्तु में महाभारत के प्रसंग, रामायण, पौराणिक कथाओं के साथ ही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आख्यान रहे हैं। कालांतर में सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप विषयवस्तु में भारी बदलाव आया, जिससे सामाजिक कुरीतियों, विसंगतियों और अंधविश्वास जैसे विषयों पर चोट करने का भी सिलसिला शुरू हुआ। बांठड़ा का प्रारम्भ अक्सर कान्ह-चंद्रावल़ी के नृत्य या फिर मंगलाचार के साथ होता है लेकिन आधुनिकता की आहट के साथ नरसिंघा और नगाड़े की धमक दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करने लगी।

बांठड़ा का कभी भी विधिवत आलेख नहीं लिखा गया। सारी योजना कलाकारों द्वारा ही मौखिक रूप से बनाई जाती थी। बांठड़ा का कथ्य बिखरा-बिखरा-सा रहता था। ऐसा बिल्कुल नहीं था कि किसी एक विषय को लेकर ही पूरी प्रस्तुति को समेट दिया जाए। इस नाट्य में मनोरंजन के लिए जुदा-जुदा हास-परिहास होते थे। नैतिक मूल्यों का उल्लंघन करनेवाले किसी धनी लम्पट की पोल खोलना, शिक्षा के लिये या फिर राजा या सत्ता द्वारा किसी बेगुनाह को दंडित किए जाने के निर्णय की भर्त्सना करना या समाज को शिक्षा देने जैसे अनेक विषय होते थे, जिन्हें यह लोकधर्मी नाट्यकार अपनी सामर्थ्य के चलते जनता में ले जाते थे।

बांठड़ा में बहुधा एक ही प्रस्तुति में कई विषय समाहित रहते थे, जो बदल-बदल कर अपना रंग बिखेरते हुए श्रोताओं या दर्शकों को धीर-गम्भीर बनाए बिना हल्के से अपना असर छोडने में कामयाब रहते थे। बात से बात, आगे बढ़ती थी, कलाकार दर्शकों के बीच से आ रहे संवाद पर अपनी टिप्पणी देने के लिए पूर्णरूपेण स्वतंत्र होते थे। संवाद या फिर दृश्य को प्रभावी बनाने के लिए

वाद्यवृंद व मुखौटे हास्य या संवेदन की गम्भीरता को दर्शकों में प्रक्षेपित करने में सफल होते थे।

हिमाचल के वरिष्ठ संस्कृतिकर्मी श्री रामदयाल नीरज का मानना है कि उन्होंने लोकनाट्य का विधिवत आलेख तैयार कर शिमला के गेयटी थियेटर में प्रस्तुति देने के प्रयास किए लेकिन असफल रहे। नीरज का यह भी मानना है कि लोकनाट्यों के कलाकार बहुधा दलित या निम्न वर्ग के ही हुआ करते थे। इनमें संवाद स्वछंदता कलाकारों का अपना अधिकार क्षेत्र रहा है।

लोकनाट्य बांठड़ा में भरतमुनि के शास्त्र जैसा मंच विधान नहीं रहा है। यह कहीं भी गाँव या बस्ती के किसी कोने, बाजार या फिर चौपाल में खेला जाता था, जहाँ लोगों की आम्दोरफ्त ज़्यादा रहती हो। उप-रूपकों के व्याख्याकारों ने तो यहाँ तक माना है कि वे अपने नाटकों का प्रदर्शन मदिरालयों तक में करने से नहीं झिझकते थे।

वर्तमान समय में मनोरंजन के अनेक साधनों के बावजूद कुछ कलाकार समूह सरकारी संस्थाओं के अनुदान-प्रोत्साहन के सहारे, कभी-कभार मेलों-ठेलों में बांठड़ा की प्रस्तुति आज भी देते हैं।

कांगड़ा क्षेत्र का भगत

ओम प्रकाश प्रभाकर

कांगड़ा जनपद के विभिन्न क्षेत्रों में लोकनाट्य *भगत* लोकानुरंजन के लिए प्रस्तुत किया जाता रहा है। हिमाचल प्रदेश के अन्य ज़िलों में भी इस नाट्य को दर्शाया जाता है। दुर्गा माता व कृष्ण के भक्त धार्मिक, पौराणिक, सामाजिक कथाओं को परम्परानुसार सीखकर और कंठस्थ करके नाटक के रूप में *भगत* प्रस्तुत करते हैं। जो सरस्वती, कृष्ण व दुर्गा माता का भक्त होता है, इनमें पूरी आस्था रखता है, भजन-कीर्तन करता रहता है तथा भक्त रूप में भक्ति करके *भगत* नाट्य प्रस्तुत करता है, वही *भगतिया* कहलाता है। वह अपना तन, मन, धन सबकुछ इस नाट्य विधा पर न्योछावर कर देता है।

भगत मंडली के मुखिया को कुछ पैसे देकर *साई* दी जाती है कि अमुक दिन आप हमारे घर पर 'भगत' करेंगे। उस दिन चाहे कितना भी आवश्यक कार्य क्यों न पड़ जाए, वह अपनी टोली सहित साई देनेवालों के घर पहुँचकर *भगत* नाट्य प्रस्तुत करता है। साई को माता दुर्गा व कृष्ण भगवान का आदेश समझता है। पुराने समय में लोगों के छोटे घर होते थे। घर में किसी विवाह आदि कार्यक्रम के अवसर पर मेहमानों को ठहराने-सुलाने के लिए पर्याप्त स्थान भी नहीं होता था। ऐसे समय में *भगत* का आयोजन किया जाता था ताकि सारी रात बैठकर ही मनोरंजन के साथ गुज़र जाए। इसके अतिरिक्त किसी कार्य के निमित्त 'सुखणा' के रूप में भी भगत प्रस्तुत किया जाता है।

ज़िला कांगड़ा के चंगर क्षेत्र के पालमपुर, थुरल, जयसिंहपुर, बैजनाथ व देहरा के साथ लगते सुजानपुर टीहरा आदि स्थानों के अनेक भगतिये हुए हैं, जिन्होंने भगत के डेरे (नाट्यदल) चलाये। इनमें मुख्य हैं–डूहक घनियारा के सूजू राम, तलवाड़ के पंजकू राम, आलमपुर के होशियार सिंह उर्फ होश्यारू, कालीचरण, बाबा रसीला राम और सुजानपुर टीहरा के कालू आदि। अच्छे

भगतिए डेरेदारों ने गरीबी में अपना जीवन गुज़ारा है। वर्तमान में जो भगतिये जीवित हैं, परन्तु भगत नहीं करते या कुछ करते भी हैं अथवा सिखाते भी हैं, उनमें कुछ का विवरण इस प्रकार है–

1. घनियारा निवासी श्री फूल्ला राम डूहक 90 वर्ष की आयु में आज भी स्वर, गीत, संगीत में पूर्णतया सक्षम हैं। भक्ति भावना से ओत-प्रोत इस भगतिए ने जीवन-भर जूता नहीं पहना। अभी भी उन्हें सारी भगत कथाएँ कंठस्थ हैं।

2. रिड़कू राम आलमपुर निवासी डेरेदार मास्टर रहे हैं। भगत के बहुत प्रसिद्ध कलाकार हुए हैं। देवी का मंदिर बनाकर वहीं रहते हैं और मानसिक तथा असाध्य रोगों से पीड़ित लोगों का ईलाज करते हैं। यद्यपि उन्होंने भगत नाट्य का काम छोड़ दिया है, फिर भी 70-75 वर्ष की अवस्था में लोकगीत और संगीत के पंडित हैं।

3. श्री कालू राम, पट्लांदर, टीहरा-सुजानपुर के भगतिया डेरेदार हैं। आज भी अपनी कला को प्रदर्शित करके रोज़ी-रोटी कमाते हैं।

4. करतार चंद बालकरूपी निवासी हैं। वह भगतिया डेरेदार रहे हैं। गरीबी के कारण डेरे की सभी सामग्री, वाद्य-यंत्र व वस्त्रादि न जुटा पाने पर इन्होंने काम छोड़ दिया है। मगर फिर भी कभी कोई भगतिया डेरेदार चाहे तो भाग लेते हैं और आज भी लोगों का अच्छा मनोरंजन करते हैं। इन्हें सारी भगत कथाएँ कंठस्थ हैं।

5. नागटा के किरपू राम भी डेरेदार रहे हैं। लेकिन आर्थिक संकट के कारण डेरा चल नहीं पाया। वह भी माता के भक्त हुए हैं।

6. ज्वालामुखी के श्री चूहड़ा राम अच्छे डेरेदार भगतिए हैं। आज भी *भगत* की प्रस्तुति करते हैं। माँ तथा कृष्ण के भक्त हैं।

7. श्री मस्तराम आलमपुर के भगतिया मास्टर डेरेदार हैं। इनकी आयु लगभग 95 वर्ष है। इनको माता दुर्गा व भगवान कृष्ण का शुभाशीर्वाद प्राप्त है। इन्होंने आज भी इस विधा को नहीं छोड़ा है। लोकनाट्य भगत का मंचन करवाते हैं; स्वयं भी करते हैं। भगतिया मास्टर होने के बावजूद आर्थिक तंगी से जूझ रहे हैं। 95 वर्ष की आयु में भी इनका स्वर-संगीत बहुत मधुर है। श्री मस्तराम ने बहुत-सी कहानियाँ, धार्मिक नाटकों के सम्वाद, गीत स्वयं लिखे हैं, जिन्हें वे आज भी गाते हैं। साथ ही इस नाट्यकला को सीखने के इच्छुक कलाकारों का मार्गदर्शन भी कर रहे हैं।

8. श्री विश्वनाथ योगी 45 वर्ष की आयु का युवक भगतिया डेरेदार है। इस नवयुवक ने लोकनाट्य भगत की कला को संरक्षित करने का सराहनीय अभियान शुरू किया है। विश्वनाथ योगी ने अन्य नवयुवकों, अच्छे कलाकारों के साथ मिलकर बुज़ुर्ग डेरेदार श्री मस्त राम के मार्गदर्शन में भगत का डेरा चलाया है। पुरानी विधा को नवीनता का कुछ रंग देकर मूल संस्कृति को संरक्षित करना, इनका

प्रयास है। सात्त्विक वृत्ति के इस नाट्य दल के सभी कलाकार माता दुर्गा व कृष्ण के भक्त हैं।

श्री विश्वनाथ ताल, स्वर, रागों का अच्छा ज्ञान रखते हैं। कलाकारी इनके खून में समाई है। लोकनाट्य भगत में कोई भी किरदार निभाना हो तो श्री विश्वनाथ योगी हाज़िर हैं। विशेषकर हास्य पात्र का किरदार वह बखूबी निभाते हैं। लोगों को प्रातःकाल तक मनोरंजन से बाँधे रखते हैं। मनसुखा, मंत्री, कभी रानी की सहेली, दोस्त; स्त्री और पुरुष दोनों के किरदारों को बड़ी सफलता के साथ निभाते हैं। वह अपने गुरुओं में डेरेदार पंजकू, मस्त राम, रिड़कू राम, करतार तथा सूजू राम को मानते हैं।

भगत लोकनाट्य की पृष्ठभूमि से ज्ञात होता है कि भगतिये गरीब, अनपढ़ तथा पिछड़े क्षेत्रों से होते थे। आरंभ में वे एक-दूसरे से भक्तिकथा सुनकर उसे नाट्य संवादों में रचने लगे थे। फिर सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक कथाओं को भी नाट्य रूप देने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने इसे प्रदर्शित करना शुरू कर दिया। सर्वप्रथम भक्ति भाव से धूप-दीप, अक्षत, फूल-प्रसाद से भगवान का गुण-गान करने लगे। सबसे पहले बाबा *सिद्धचानों* की रास से भगत को मिलाकर वरदान मानने लगे और फिर छोटी-छोटी दंतकथाओं, कहानियों के गीत गाकर इन्होंने भगत का प्रदर्शन शुरू किया। पुरुष ही स्त्री पात्र बनते थे। खूब हास्य-व्यंग्य होता था। जब पुरुष कलाकार नारी का किरदार निभाता और हास्य कलाकार मनसुख साथ नाचता तो लोग मोहित हो जाते थे। धोबी-धोबन, शिव, धन्नाजट्ट तथा अन्य स्वाँग देखकर, कलाकारों के मुख से उनकी वाणी, चाल-ढाल देख-सुनकर लोग बहुत खुश होने लगे। धीरे-धीरे परिवर्तन आया और साहित्यकारों, कवियों व विद्वानों ने इन भगतियों की नाट्यकला को देखकर ऐतिहासिक नाटक लिखने शुरू किए। पंजाबी, हिन्दी में नाटक तैयार किए गए। पंजाबी में मास्टर नत्था सिंह ने बहुत प्रयास किया। उन्होंने नगारटू की धुनों में मारवाड़ी तर्ज़ पर नौटंकी बनाई, जिन्हें भगतियों ने खेला तथा इस लुप्त होती भगत विधा का संरक्षण किया। *जगराता, नुआला, धाजा, चंद्रावल़ी, जोत* आदि सभी लोकनाट्य *भगत* के ही अंग हैं।

आज भगत को मीडिया के ज़रिये लोग स्वीकार कर रहे हैं। जब भगतिये यह कहते थे कि—*जो हरि को भजे सो हरि का होय* तो यह सुनकर सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि मान्यता है कि सच्चे मन से जो भगत करता और करवाता है, उसे अवश्य फल मिलता है।

कृष्ण लीला

लोकनाट्य *भगत* में कृष्ण लीला तथा हास्य पात्र मनसुखा या मनसुख की भूमिका मुख्य होती है। लोकनाट्य मण्डली का मुखिया (डेरेदार) साईवाले दिन उस स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ भगत का प्रदर्शन रखा होता है। आँगन में खुले स्थान

पर इसका मंचन होता है। दरी बिछाकर उस पर हरमोनियम, तबला, नगारटू तथा कसियाँ लिए तीन-चार पुरुष कलाकार बैठ जाते हैं, जिन्हें बजंत्री या साज़ी कहा जाता है।

इन वाद्य कलाकारों के बैठने से ही लगता है, मानो भगत शुरू होनेवाली है। दर्शक लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। एक तबला आटेवाला, नगारटू, कसियाँ तथा बाजा लेकर कलाकार आयोजक के घर में जाते हैं, जहाँ माता की तस्वीर, फूल, अक्षत, प्रसाद तथा अन्य पूजा की सामग्री रखी होती है। वहाँ सभी घरवाले और ये भगतिये कलाकार देवी की स्तुति करते हैं। माँ की भेंटें गाते हैं। आदिशक्ति सहित सभी 33 करोड़ देवताओं का आह्वान किया जाता है तथा प्रार्थना की जाती है कि जो भगत हम कर रहे हैं, आपके आशीर्वाद से प्रातःकाल तक इसका प्रदर्शन निर्विघ्न चलता रहे। प्रातःकाल फिर इसी प्रकार आरती की जाती है। इस पहली पूजा को 'चौकी' भी कहा जाता है। तीन-चार भेटें गाकर प्रसाद बाँटकर कलाकार आँगन में, जहाँ बैठने का स्थान बनाया है, फिर वहीं आकर बैठ जाते हैं तथा कृष्णलीला के गीत गाना शुरू कर देते हैं। ये भजन अधिकतर क्लासिकल रागों पर आधारित होते हैं। कुछ गीत इस प्रकार हैं–

पहले गणपति पूजिए-पाछे करिये काज
सभा बेगानी बैठ कर रखियो मेरी लाज
रखियो मेरी लाज हरि जी, रखियो मेरी लाज
भरी सभा के बीच में रखियो मेरी लाज।

गणेश स्तुति

गणपति गणेश मनाओ मेरे देवा जी
गणपति गणेश मनाओ देवा जी।
एक दंत दयावंत चार भुजा धारी
मस्तक सिंदूर सोहे मूसे की सवारी।
गणपति जी के दर्शन पाओ मेरे देवा जी।
गणपति....

इसी तरह लोकनाट्य भगत में कृष्ण भगवान को बुलाने के लिए आह्वान किया जाता है। जैसे–

काह्ना तेरी बंसरी की बड़ी सुरीली तान।
आजा बंसीवट में काह्ना सुना जा बंसी तान।

एक अन्य भजन जैसे–

बड़ी देर भई नन्द लाला, तेरी राह तके बृजबाला
कोई न जावे कुंज गलिन में

तुझ बिन कलिया चुनने को
तरस रहे हैं यमुना के तट
धुन मुरली की सुनने को।

कृष्ण के भजनों के बीच कृष्ण बना पात्र बाँसुरी मुँह में लगाए आँगन में बने मंच पर सजी एक कुर्सी पर खड़ा हो जाता है। गायक एक अन्य कृष्ण भजन गाते हैं–

अजी मेरा मोहन हरि गिरधारी रे।
मोर मुकुट माथे तिलक विराजे,
कुण्डला दी छप्प न्यारी रे
अजी मेरा मोहन हरि गिरधारी रे।

गानों-भजनों को विराम देकर एक कलाकार उठकर कृष्ण के पास आकर उन्हें प्रणाम करता है। भगवान कृष्ण का जयकार करते हुए उन्हें कुर्सी पर बैठा देता है। इसके बाद वाद्य कलाकार कृष्ण की सखियों के आने का राग अलापते हैं–

जै जै करदी आई सहियों
जै जै करदी आई वे

एक सखी हाथ में थाली लेकर और दो अन्य सखियाँ मंच पर सुन्दर ढंग से नृत्य करती हुई प्रवेश करती हैं। भगवान कृष्ण के चरणों में नमस्कार कर कृष्ण की स्तुति करती हैं और भारत माता की वंदना करते हुए गाती हैं–

जय जग जननी भारत माता तुझ को है
प्रणाम प्रणाम प्रणाम।
गंगा जमुना इसमें बहती
फल फूलों से सजी है धरती।
इस पर हमने जन्म लिया है
इसको है प्रणाम प्रणाम प्रणाम
जय जग जननी भारत माता...

इसके बाद सभी थाली में रखा प्रसाद लेते हैं। फिर एक थाली में जल रही ज्योति को घर का एक आदमी सभी दर्शकों के पास ले जाता है। सभी श्रद्धानुसार एक, पाँच या दस रुपए थाली में डालकर नमस्कार करते हैं। इसे 'थाली फेरना' कहा जाता है। सभी भगतिये ज्योति को माता का आशीर्वाद समझकर शीश नवाते हैं। मूर्ति के आगे और थाली में चढ़े पैसे वे ले लेते हैं। इससे अपना चाय-पानी और किराये का खर्च निकालते हैं और मेकअप का सामान खरीदते हैं। वर्तमान समय में तो पारिश्रमिक के तौर पर सारी राशि पहले ही तय की जाती है और वह प्रातःकाल की आरती के समय थाली में रखकर मुख्य भगतिये को दी जाती है।

अब कृष्ण-सखी संवाद चलता है। कृष्ण व सखियाँ बंसीवट या पनघट पर होते हैं। वे सभी नृत्य करते हुए कृष्ण से वाद-विवाद करती हैं; यथा–

सखी : अजी बंसी का बजाना छोड़ दो।
नन्द महर के लाल जी।
बंसी तेरी मनहरी श्यामा,
बाजे मधुर रसाल जी।

कृष्ण : बंसी का बजाना अरी सखी,
मैं कैसे छोड़ूँ आज री

दूसरी सखी : वृषभानू की मैं बेटी हूँ
राधा मेरो नाम जी।

कृष्ण : मैं तुझे रखूँगा नयन में
ज्यूँ काजल की रेख जी
छुन-छुन तेरा घुँघरुआ बाजे
कर-करके झंकार जी
मेरी प्यारी विहारी लाडली–2
मेरी हो अर्धांगिनी...

सखियाँ कृष्ण को कहती हैं–अच्छा तो हम पानी भरने के लिए यमुना के घाट जा रही हैं। सखियाँ चली जाती हैं। मंच पर बैठे-बैठे कृष्ण को अपने पुराने मित्र की याद आती है। दृश्य को हास्य में बदलने के लिए वे मनसुखा को बुलाते हैं। आवाज़ लगाकर जल्दी-जल्दी आने के लिए कहते हैं। मनसुखा उन बातों का उत्तर हास्य में ही देता है जैसे–

कृष्ण : अरे मनसुख लाल जी!

मनसुखा : क्या होया महाराज जी?

कृष्ण : मुझे आपकी याद आ रही है।

मनसुखा : ता करी लिया। बेहले कजो बैठेओ?

कृष्ण : क्या मैं तुझे लारी (मोटर) भेजूँ?

मनसुखा : लाड़ी मत भेज दे, पहले वाली ही काफी है।

कृष्ण : मोटर भेजूँ?

मनसुखा : वोटरां जो वोटां दे टैम में भेजनेओ।

दरबारी : मनसुख लाल जी भगवान से मखौल नहीं करते हैं।

मनसुखा : तब तुम बताओ क्या गलाऊँ (बोलूँ)?

दरबारी : सभ्यता से बात करो।

मनसुखा : तुम बताओ भाई सभ्यता से कैसे बोलते हैं?

दरबारी : भगवान बोल रहे हैं कि आप को घोड़ा भेजूँ?

मनसुखा : भेज दो पर भंगा दे मत भेज दे।

दरबारी : क्या?

मनसुखा : पकोड़ा भंगा दा नी भेजी दिन्यो।

दरबारी : कैसा गंदा आदमी है। भगवान के दरबार में नहा-धोकर जाओ।

मनसुखा : भाई तुम ही बता दो कि भगवान के पास कैसे जाना है और वह रहते कहाँ पर हैं, उनका ऐड्रेस-पता क्या है?

दरबारी : वह मथरा में रहते हैं।

मनसुखा : तो वह पत्थरां के नीचे रहते हैं।

दरबारी : अरे पत्थरां में नहीं मथरा में रहते हैं।

मनसुखा : अच्छा बताओ कैसे जाऊँ?

दरबारी : नहा-धो लो। साफ कपड़े पहनो। फिर भगवान के पास जाओ।

मनसुखा : केले दा पतर, लकड़ कनै पानी दा पतीला ले आओ।

दरबारी : क्यों?

मनसुखा : क्योंकि आपको केले के पतर पर नहलाया जाएगा। सफेद खद्दर पहना कर लकड़ी के फट्टे में बाँधकर भगवान के पास भेज दिया जाएगा।

दरबारी : ऐसा नहीं भाई, तुम तो हमें ही मार रहे हो?

मनसुखा : अच्छा, अच्छा बताओ?

दरबारी : यह लो लोटा और नहा लो। मैं जो बोलूँ वह बोलना है।

(मनसुखा लोटे में पानी लेने का दृश्य करता है)

दरबारी : बोलो–हर-हर गंगे, जै माता ज्वालामुखी, जै भगवान जी, मैंने आपको ग़लत-फलत कह दिया है मुझे माफ करना।

मनसुखा : ये जो बैठे हैं हो जाए गंजे, ये जाए मुक्की, भगवान जी तुसां ग़लत फलत-गलाया मैंने तुसां जो माफ करी दित्ता।

मनसुखा बहुत-सी हास्य-विनोद की बातें करके लोगों का मनोरंजन करता रहता है। फिर वह कहता है–'अच्छा भगवान के पास जाना है तो करो भगवान का भजन।'

मनसुखा गाता है–

आता है जी आता मनसुखा धर्मसभा में आता है।
आटा है तो चौल़ नी जी चौल़ है तो दाल़ नी जी।
सबकुछ जोड़ी-मोड़ी कित्ता जल़या हंड्डू भजी गिआ।
चलता हूँ मैं कद्म-कदम कदम क-दा...
कदम-कदम कदम क-दा...

सोआ था मैं सेज पलंग-पलंग मेरा हिला...

पलंग मेरा हिल्ला।

तभी भगवान ने आवाज़ लगाई– ओ रे मनसुखा!

मनसुखा विशेष नृत्य करता हुआ कृष्ण भगवान के चरणों में जाकर प्रणाम करता है। उन्हें पूछता है–'भगवान्, क्यों बुलाया है?' भगवान् उससे बातें करते हैं। मनसुखा उनकी बातों का उत्तर भी हास्य रूप में ही देता है। यथा–

कृष्ण : मैं वृंदावन जा रहा हूँ। तुम जमुना के घाट का पहरा देना।

मनसुखा : जबरे दे घराटे दा पहरा मैं नी दिन्दा।

कृष्ण : ओ नहीं, वहाँ पर। सखियाँ (गोपियाँ) पानी गंदा करती हैं और पानी भरकर ले जाती हैं। उनको पानी नहीं भरने देना। पहरा देना।

मनसुखा : मच्छियाँ तो पानी के बिना नहीं रह सकेंगी।

कृष्ण : मच्छियाँ नहीं भैय्या, सखियाँ।

मनसुखा : अच्छा-अच्छा, पानी का पहरा देना पड़ेगा।

कृष्ण : तनख्वाह ठीक मिल जाएगी। डबल तनख्वाह होगी।

मनसुखा : हँसता है, मेरी तनख्वाह डबल होगी। ठीक भगवान जी, आप निश्चिंत होकर चले जाओ, मैं ठीक देखभाल करूँगा। मगर भगवान जब भी मैं बुलाऊँगा, आप शीघ्र आ जाना; क्योंकि ये गोपियाँ, आपकी सखियाँ मुझे भी बहुत तंग करती हैं।

अब कृष्णलीला के अंतिम दृश्य में सखियाँ (गोपियाँ) पानी भरने के लिए यमुनाघाट पर आती हैं मगर मनसुख लाल उनसे भी हास-परिहास करता है और पानी भरने के लिए इन्कार करता है। बहुत हास्यवाली बातें करके सखियाँ उसे पानी देने के लिए मजबूर कर लेती हैं। अंत में मनसुखा कहता है, 'अगर पानी लेना है तो पहले भगवान कृष्ण की आरती उतारो, प्रार्थना करो, वह यहाँ उपस्थित हो जाएँगे व सबको दर्शन देंगे।' अब मनसुखा ने आगे कहा; पानी विष्णु भगवान का रूप है। इसे गन्दा नहीं करना चाहिए, न ही व्यर्थ गवाना चाहिए। पानी अमूल्य निधि है। समय आ रहा है पानी से धरती खाली हो जाएगी। इसलिए हमें इसे सुरक्षित रखना है।'

अंत में सखियाँ कृष्ण की आरती उतारती हैं–

जै कृष्ण हरे–श्री कृष्ण हरे।
दुःखियों के दुख दूर करे
जै-जै कृष्ण हरे।
तू चाहे तो सब कुछ कर दे।
विष को भी तू अमृत कर दे।

पूरण कर दे सबकी आशा,
जो भी तेरा ध्यान धरे—जै-जै कृष्ण हरे।
जब चारों तरफ अंधियारा हो
आशा का दूर किनारा हो
जब कोई न खेवनहारा हो।
बस तू ही बेड़ा पार करे।
श्री जै-जै कृष्ण हरे।

अंतिम तीसरा भाग

कृष्ण लीला के खत्म होते ही मंच पर एक राजा बना पात्र हाथ में तलवार लेकर प्रकट होता है। बजंत्रियों से आकर पूछता है—मंत्री जी! दरबार का क्या हाल है। वहाँ बजंत्रियों में से ही एक कलाकार उठकर आता है और कहता है कि दरबार का हाल-चाल बिल्कुल ठीक-ठाक है। सभी काम आपके आदेशानुसार ही चल रहे हैं। कोई दुःखी नहीं है। सब के साथ न्याय हो रहा है।

राजा—मंत्री जी! दरबार लगाया जाए। सभा में आए लोगों को अगला मनोरंजन करने के लिए कौन-सी लीला (नाटक) प्रस्तुत की जा रही है?

मंत्री—रासलीला का मंचन महाराज!

राजा बना पात्र जो तलवार चलाने में दक्ष (चतुर) होता है, तलवार चला कर कहानी के बारे में कुछ बातें कहता है। फिर कहानी का चयन होता है। बजंत्री ताल स्वर में गाते हैं—

सब अपनी-अपनी गायें,
तान यह विद्यवान जी।
मगर तुम्हारे भेद की,
कर न सके पहचान जी।

राजा कहता है—

पार आपका पा लेना,
स्वामी आसान नहीं।
हर जगह है मौजूद
आपका कहीं मकान नहीं।
अजब खेल को देखकर
अक्ल होती हैरान नहीं।
कौन तुम्हारी कुदरत पर
होता कुर्बान नहीं।।
कोई कारीगरी आला, तुमसा

देखा न भाला।
करूँ तारीफ बयान,
दीनबंधू जगदीश
न इतनी ताकत है मेरी जवानी जी
सुनो सज्जनों, सुखसीला
यहाँ न कोई झमेला जी
ध्यान लगाकर देखना,
पूर्ण भगत की लीला जी
सतलुज व्यास रावी जेहलम चनाव
इन पाँचों के दरम्यान
बसदा मुल्ख पंजाब,
उस ईश्वर की मेहरबानी जी,
राजा सैलवान था राजा,
सिआलकोट थी राजधानी।
उनकी थी दो रानियाँ
अच्छरा लूणा रानी जी
अच्छरा घर जमया
पूरण भक्त लसानी जी
लूणा माता हो गई मोहित
मन आई बेईमानी जी।
भक्ति भाव से भरी कहानी
देखना मन-चित्त लाई जी।
क्या-क्या मोड़ कहानी में आए
क्या शिक्षा है पाई जी।

राजा इस प्रकार कहकर चला जाता है और फिर स्त्री बने पात्र मनोरंजन के लिए कुछ गीत गाते हैं। लोग खुश होकर पैसे देते हैं। उसे बेल (अरदास) कहते हैं। इन बेलों के बाद रासलीला शुरू हो जाती है, जो पूरी रात चली रहती है। बीच-बीच में हास्य कलाकार अपनी बोली में कहीं मंत्री, कहीं साधु, कहीं गुरू-चेला या रानी की सहेली आदि बनकर लोगों का मनोरंजन भी करते रहते हैं। प्रातःकाल जब रासलीला सम्पन्न हो जाती है, तब सभी कलाकार आरती करते हैं तथा एक-दूसरे के पैर छूते हैं। वाद्ययंत्रों को नमस्कार करते हैं। जिनके घर में भगत का प्रदर्शन होता है वे भी मन्नत (सुखणा) पूरी होने पर भगवान का धन्यवाद करते हुए आरती में प्रार्थना करते हैं। इस तरह भगत पूर्ण हो जाती है।

बिलासपुर का धाजा

डॉ. अश्विनी कुमार

बिलासपुर जनपद की लोक संस्कृति में लोकनाट्यों की प्रमुख भूमिका है और यहाँ के लोकनाट्यों में *धाजा* प्रमुख है। यह एक पौराणिक तथा धार्मिक लोकनाट्य है। इसकी प्रस्तुति केवल दलित वर्ग की एक विशेष जाति के लोगों द्वारा की जाती है। धाजा लोकनाट्य का सम्बंध *सिद्ध चानो* अथवा *बाबा बलि* से है। बाबा बलि को दलित जाति विशेष का देवता माना जाता है। इस देवता को न केवल इसी जाति के लोग बल्कि ब्राह्मण, राजपूत आदि सवर्ण जातियों के लोग भी मानते हैं। लेकिन इसकी पूजा करने का अधिकार दलित जाति विशेष के किसी व्यक्ति का पारम्परिक अधिकार होता है।

बाबा बलि की पूजा का विधान दो प्रकार से है। इसकी साधारण पूजा कोई भी व्यक्ति, जो इस दलित जाति से सम्बंध रखता है, कर सकता है। इस पूजा में 'मीठी चूरी' भेंट की जाती है। गेहूँ या मक्की के आटे की रोटियाँ बनाकर उनको बारीक तोड़ लिया जाता है और फिर उसमें चीनी या शक्कर तथा देसी घी मिलाया जाता है, इसे ही चूरी कहा जाता है। इसके साथ कभी-कभी मुर्गे की बलि भी दी जाती है।

दूसरी पूजा विशेष प्रकार की होती है। इसे दलित जाति के एक विशेष व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जाता है, जिसे *नचार* कहते हैं। इसे प्रायः भगत या भक्त के नाम से भी पुकारते हैं। यह व्यक्ति वंश परम्परा से होता है। समाज में भगत बहुत कम होते हैं। इस प्रकार की पूजा रात को घर के प्रांगण में की जाती है, जिसमें बकरे की बलि दी जाती है। बकरे को काटने के बाद उसका सिर *थान* के नीचे दबा दिया जाता है और उसके बाद बाबा बलि और कृष्ण से सम्बंधित झाँकियाँ निकाली जाती हैं। इसी को *धाजा* के नाम से जाना जाता है।

दोनों प्रकार की पूजा में पहली पूजा सभी जाति के लोगों के घर में होती

है। परन्तु दूसरी प्रकार की पूजा केवल इस जाति विशेष के लोगों के घर में ही सम्पन्न होती है। शायद इसका एक कारण यह भी है कि यह पूजा वहीं हो सकती है, जहाँ बाबा बलि का थान या स्थापना हो।

धाजा का स्वरूप

धाजा करवाने का कोई विशेष समय निर्धारित नहीं है। फिर भी इसकी प्रस्तुति अधिकतर सर्दियों के महीनों में होती है। क्योंकि तब तक लोग खेती आदि का सारा काम निपटा चुके होते हैं। जिस व्यक्ति के घर में धाजा होता है, उस परिवार द्वारा अपने सम्बंधियों, अपने तथा आसपास के गाँवों के लोगों को निमंत्रण दिया जाता है। कई बार उस रात का भोजन भी धाजा आयोजित करनेवाले व्यक्ति द्वारा ही करवाया जाता है। खाना खाने के बाद धाजा प्रारम्भ किया जाता है। घर के प्रांगण में ठंड से बचने के लिए अलाव जलाया जाता है, जिसे *घयाना* कहते हैं। प्रांगण में, जहाँ बाबा बलि की स्थापना हो, वहाँ पर *धाजा* का प्रारम्भ सिद्ध चानो अथवा बाबा बलि की पूजा के साथ होता है। सर्वप्रथम नचार अथवा भगत बकरे की बलि देकर सिद्ध चानो की पूजा करता है। पूजा के समय वह स्थानीय भाषा में मंत्रोच्चारण करता है–

बाबा बलि मरदान,
सारे जग दा तू जवान,
गढ़ मथरा रा तू पहलवान,
सै के राई बागी के थाई,
खुदा का मैहमत,
जिने पढ़दे कितियाँ बाताँ,
घरा ते देए बुलाए... ।

बकरे के कटे हुए सिर को वह सिद्ध चानो के *थान* के नीचे भूमि में दबा देता है। उसके बाद भगवान् कृष्ण और बाबा बलि की झाँकियाँ निकाली जाती हैं। इसमें सभी पात्रों की भूमिकाएँ पुरुषों द्वारा ही निभायी जाती हैं।

कथावस्तु

धाजा में यह कथा नाट्य माध्यम से प्रस्तुत की जाती है–राजा कंस कृष्ण को मल्ल महोत्सव देखने के लिए मथुरा बुलाता है। उसके पास एक शक्तिशाली पहलवान था, जिसका नाम *चानो* था। मल्ल महोत्सव में कंस उसी से कृष्ण को मरवाना चाहता था। कृष्ण जानते थे कि मथुरा में उनकी मुलाकात चानो से होगी। वह मथुरा आ जाते हैं। जिस समय मल्ल महोत्सव आरम्भ होता है, उस समय ढोल-नगाड़े बजाए जाते हैं। इन वाद्यों की ध्वनि स्वर्गलोक तक पहुँचती है, ऐसी

लोक मान्यता है। मथुरा की धरती उन ढोल-नगाड़ों की गूँज से थर्रा उठती है। कृष्ण और चानो पहलवान में मल्ल-युद्ध आरम्भ होता है। कृष्ण चानो पहलवान को टस से मस नहीं कर सके। मल्ल युद्ध को चले हुए कई दिन बीत गए। अन्त में श्रीकृष्ण ने अपना माया रूपी शरीर वहीं चानो के साथ मल्ल युद्ध करने के लिए छोड़ दिया और स्वयं गोकुल में अपनी माता यशोदा के पास पहुँचे और उनसे पूछा कि चानो पहलवान को किस तरह से हराया जा सकता है।

यशोदा ने कृष्ण को बताया कि *चानो* की पत्नी का नाम *लूणा* है। केवल वही बता सकती है कि चानो को किस तरह से मारा जा सकता है। यह जानकर कृष्ण ने मनमोहक रूप धारण किया और चानो की पत्नी के पास पहुँच गए। कृष्ण ने उसे बताया कि उसके पति चानो का कृष्ण के साथ युद्ध हो रहा है। इस पर लूणा कहती है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, चानो को कोई नहीं मार सकता, चाहे स्वयं भगवान् ही क्यों न आ जाए। इस पर कृष्ण पूछते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है? पहले तो लूणा बताने से मना करती है और कहती है कि यदि उसने चानो के मरने का राज़ बता दिया तो वह विधवा हो सकती है। जब कृष्ण कहते हैं कि चानो को कुछ नहीं होगा और यदि हो भी गया तो मैं तुमसे शादी कर लूँगा। तब वह बताती है कि चानो की जड़ें पाताल में हैं और चोटी स्वर्ग में। यह जान लेने पर कृष्ण पाताल में चानो की जड़ों में स्यूंक (लकड़ी, मिट्टी में लगनेवाला कीड़ा) लगा देते हैं और चोटी में साड़। इस तरह पाताल में चानो की जड़ें नष्ट हो जाती हैं और स्वर्ग से चोटी उखड़ जाती है; तभी कृष्ण मल्ल-युद्ध में चानो को गिरा देते हैं।

चानो जान लेता है कि उसकी मृत्यु का राज़ उसकी पत्नी ने कृष्ण को बता दिया है। इसलिए वह कृष्ण से कहता है कि आपने मेरे साथ छल-कपट किया है। वह वहाँ पर उपस्थित लोगों को भी इस बात की नसीहत देता है कि कभी भी पत्नी को अपना राज़ नहीं बताना चाहिए। तब कृष्ण उससे कहते हैं कि कलियुग में दलित वर्ग की एक विशेष जाति के लोग तुम्हें अपना इष्टदेव अथवा भगवान् मानकर रात को पूजा किया करेंगे, जो केवल तुम्हीं को अर्पण होगी। उस जाति के लोग अपने घर के प्रांगण में तुम्हारी स्थापना करेंगे। जब-जब वे तुम्हारी पूजा करेंगे तो मैं भी उसमें सम्मिलित हुआ करूँगा। इस तरह से चानो की मृत्यु हुई। जनश्रुति है कि मल्ल-युद्ध के समय चानो ने 18 भैंसों की खाल से बना हुआ लंगोट पहना था, जबकि कृष्ण ने सवा गज़ कपड़े का लंगोट बाँधा हुआ था।

चानो की मृत्यु के पश्चात् कृष्ण लूणा को दिया अपना वचन निभाने के लिए उसके पास एक कोढ़ी का रूप धारण करके जाते हैं और उससे कहते हैं कि मैंने चानो को मार दिया है। इसलिए अब मैं तुमसे विवाह करने आया हूँ। परन्तु लूणा उनका कोढ़ी का रूप देखकर विवाह करने से मना कर देती है। फिर कृष्ण

कहते हैं कि यदि वह विवाह नहीं करना चाहती तो अपने वचन से उन्हें मुक्त करे। लूणा धरती का स्पर्श करके कृष्ण को वचन से मुक्त करती है। कृष्ण जैसे ही चलने के लिए मुड़ते हैं तो अपने असली रूप में आ जाते हैं और बांसुरी बजाते हुए वापिस चलने लगते हैं। बांसुरी की आवाज़ सुनते ही लूणा उनकी ओर दौड़ती है और अपनी भूल के लिए क्षमा माँगती हुई हाथ मलने लगती है। कृष्ण कहते हैं कि चिंता मत करो, कलियुग में तुम मक्खी का रूप धारण करोगी और जहाँ चाहोगी वहीं विचरण करोगी। उस समय तुम जाति के बंधन से मुक्त हो जाओगी। यही कारण है कि मक्खी हमेशा हाथ मलते हुए दिखाई पड़ती है।

धाजा में इसी कथा का एक अन्य प्रसंग भी आता है। लोकमान्यता है कि चानो जाति से क्षत्रिय था। वे चार भाई थे– बलिदानो, सहस्रबलि, चाण्डुल दानो तथा सिद्ध चानो। जब कृष्ण मथुरा पहुँचे तो एक हाथी उन्हें मारने के लिए आया। कृष्ण ने उस हाथी को मार दिया। वह हाथी इतना भारी था कि लोगों से उठाया नहीं गया और रास्ते में ही पड़ा रहा। सिद्ध चानो अपने भाईयों के साथ उस रास्ते से कहीं जा रहा था। चानो के भाईयों ने जब मृत हाथी को देखा तो चानो से कहा कि वह उस हाथी को उठा दे। इस पर चानो ने मना किया। परन्तु उसके भाईयों ने उससे कहा कि वह उसको फेंक दे और नहा-धोकर दिन के चौथे पहर में उनके साथ आकर मिल जाए। उनके ऐसा कहने पर चानो मान गया और उस मृत हाथी को फेंक दिया। तत्पश्चात् नहा-धोकर वह चौथे पहर में अपने भाईयों के पास पहुँच गया। परन्तु भाईयों ने उसको ,अपने साथ मिलाने से मना कर दिया। इस बात का साक्षी दलित वर्ग का एक अन्य व्यक्ति भी था। वह भी अपनी बात से मुकर गया और बोला कि चौथे पहर की बात नहीं हुई थी, बल्कि चौथे युग की बात हुई थी। उसकी बात सुनकर चानो ने उसे शाप दे दिया कि उसकी कमाई में बरकत नहीं होगी और न ही उस पर कोई विश्वास करेगा। चानो के बहुत कहने पर उसके भाईयों ने कहा कि चौथे युग अर्थात् कलियुग में वे उसे अपने साथ मिला लेंगे। इसके बाद चानो कृष्ण के पास गया। कृष्ण ने उसे वरदान दिया कि कलियुग में वह सिद्ध बलि के नाम से जाना जाएगा और उसे किसी को भी इच्छित जीवन और मृत्यु देने का अधिकार होगा। यही कारण है कि लोग आज भी सिद्ध बलि या चानो से बहुत डरते हैं।

इसके अतिरिक्त धाजा में शक्ति का प्रदर्शन भी किया जाता है। जैसे आग पर चलना, आग को मुँह में डालना, आग पर सोना इत्यादि। लोक मान्यतानुसार धाजा का प्रारम्भ 16वीं शताब्दी में *अकबर* के समय से माना जाता है। कहते हैं कि एक बार अकबर के राज्य में महामारी फैल गई थी। सभी तरह से प्रयत्न करने पर भी महामारी खत्म नहीं हुई। एक दिन *तारु* और *बारु* नामक दो भाईयों को सिद्ध

चानो स्वप्न में दिखाई दिया और उसने कहा कि जबतक अकबर अपने राज्य में मेरी स्थापना और पूजा नहीं करेगा तबतक महामारी नहीं हटेगी। उन दोनों ने यह बात अकबर को बताई। अकबर ने अपने राज्य में *सिद्ध चानो* की प्रतिष्ठा की और पूजा में पाँच बोरे सुच्चे मोती अर्पित किए तथा *तारु* और *बारु* को अपने राजमहल में तांत्रिक का स्थान दिया। तभी पूरा राज्य रोगमुक्त हो गया।

कुछ समय बाद आनन्दपुर रियासत के लोगों को भी किसी अज्ञात बीमारी ने घेर लिया था। महाराज आनन्दपुर के अनुरोध पर *तारु* और *बारु* को इलाज करने के लिए बुलाया गया। उन दोनों भाईयों ने मिलकर लोगों को रोगमुक्त कर दिया। राजा ने इनाम स्वरूप उन दोनों को ज़मीन दान में दी। एक बार दोनों के बीच में ज़मीन को लेकर झगड़ा हो गया। झगड़े के समय बारु दातुन कर रहा था। उसने उस स्थान को छोड़ने का निश्चय कर लिया और अपने आराध्य देव *सिद्ध चानो* को इस बारे में बताया और प्रार्थना की कि आप मेरे ऊपर अपनी छत्रछाया बनाए रखना।

उस रात को *सिद्ध चानो* स्वप्न में बारु को दर्शन देते हैं और कहते हैं कि जहाँ जाना चाहो वहाँ जाओ, परन्तु झगड़े के समय जो दातुन तुम्हारे हाथ में थी उसे मत छोड़ना। जहाँ पर रात को विश्राम करो, वहाँ इस दातुन को ज़मीन में गाड़ देना। यदि सुबह के समय उसमें कोंपलें आ जाएँ तो समझना कि मैं वहाँ प्रकट हो गया हूँ। उस स्थान को तुम अपना स्थायी निवास बना लेना। बारु कई जगह घूमते हुए एक दिन *रेती* नामक स्थान पर पहुँचा। वहाँ रात्रि को विश्राम किया। सुबह उस दातुन में कोंपलें निकल आई थीं, इसलिए बारु ने उसी स्थान को अपना स्थायी निवास बना लिया। जब बारु बूढ़ा हो गया तो उसके कुछ शिष्य बन गए। बारु की मृत्यु के पश्चात् उसके शिष्य उसकी याद में सिद्ध चानो की पूजा करके समारोह का आयोजन करने लगे। सर्वप्रथम समारोह का आयोजन *रेती* नामक स्थान में 1650-60 ई. के आसपास किया गया था। तबसे यह परम्परा निरंतर चली आ रही है, जो बाद में *धाजा* के नाम से प्रचलित हुई।

धाजा में जिस कथा या कहानी का लोकनाट्य के रूप में मंचन किया जाता है, वह कथा *श्रीमद्भागवत्* पुराण के दशम स्कन्ध के अध्याय 36 से 44 तक कुछ भिन्न रूप में प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट होता है कि पौराणिक कथाएँ लोक जीवन में लोकनाट्य आदि के रूप में प्रचलित रही हैं और इनमें दलित जाति के लोगों की भूमिका प्रमुख रहती है। यहाँ आकर ये कथाएँ सवर्णों के एकाधिकार से निकलकर जनसाधारण तक पहुँच जाती हैं।




हिमाचल अकादमी